पाश्चात्य साहित्य सिद्धांत

(Western Literature Theory)

कुनाल आहुजा

पाश्चात्य साहित्य सिद्धांत

पाश्चात्य साहित्य सिद्धांत
(Western Literature Theory)

कुनाल आहुजा

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5570-0

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

प्लेटो ने काव्य की सामाजिक उपादेयता का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसके अनुसार काव्य को उदात्त मानव-मूल्यों का प्रसार करना चाहिए। देवताओं तथा वीरों की स्तुति एवं प्रशंसा काव्य का मुख्य विषय होना चाहिए। काव्य-चरित्र ऐसे होने चाहिए, जिनका अनुकरण करके आदर्श नागरिकता प्राप्त की जा सके। प्लेटो ने जब अपने समय तक प्राप्त काव्य की समीक्षा की तो उन्हें यह देख कर घोर निराशा हुई कि कविता कल्पना पर आधारित है।

आगे चलकर प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने कलाओं को अनुकरणात्मक मानते हुए भी उनके महत्त्व को स्वीकार किया। यह प्लेटो के विचारों से भिन्न दृष्टि थी। प्लेटो के विचार जहाँ नैतिक और सामाजिक हैं, वहीं अरस्तू की दृष्टि सौंदर्यवादी है। उन्होंने विरेचन-सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धांत के अनुसार गम्भीर कार्यों की साफल और प्रभावशाली अनुकृति वर्णन के रूप में न होकर कार्यों के रूप में होती है, जिसमें करुणा और भय उत्पन्न करने वाली घटनाएँ होती हैं, जो इन भावों के विरेचन द्वारा एक राहत और आनंद प्रदान करती हैं।

प्लेटो और अरस्तू के बाद यूनानी काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रतिनिधि काव्यशास्त्री लोंजाइनस का नाम भी प्रमुखता से आता है। उन्होंने औदात्य-सिद्धांत का प्रतिपादन किया। लोंजाइनस के इस सिद्धांत की अवधारणा ने साहित्येतर इतिहास, दर्शन और धर्म जैसे विषयों को भी अपने अंतर्गत समावेशित किया।

पाँचवीं से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के समय को पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से अंधायुग माना जाता है। इस दौरान चर्च और पादरियों के प्रभाव के कारण काव्य तथा समीक्षा बुरी तरह से प्रभावित हुई। काव्य में उपेदशात्मकता को अधिक महत्त्व दिया गया।

मध्ययुगीन समीक्षा चर्च और पादरियों के प्रभाव में उपदेशात्मक हो गयी थी। रिनेसाँ या पुनर्जागरण काल में सिडनी और बेन जॉनसन ने उसे मुक्त कराया। सिडनी ने कहा कि आदिकाल से अब तक कविता ही ज्ञान-विज्ञान के प्रसार का माध्यम रही है तथा इसकी उपयोगिता प्रत्येक परिस्थिति में बनी रहेगी।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**पाश्चात्य काव्यशास्त्र/प्लेटो की काव्य संबंधी मान्यताएँ**	1
	प्लेटो का अनुकरण सिद्धांत	2
	प्लेटो का जीवन-दर्शन	6
	प्लेटो का शिक्षा-दर्शन	12
	शिक्षा का उद्देश्य	13
	शिक्षा के स्तर	16
	शिक्षण-विधि	17
	सार्वजनिक शिक्षा	18
	प्लेटो के साम्यवाद का सिद्धान्त	19
	सम्पति का साम्यवाद	22
	पत्नियों का साम्यवाद	29
	पत्नियों के साम्यवाद के पक्ष में तर्क	29
	पत्नियों के साम्यवाद के उद्देश्य	31
	शिक्षा का महत्त्व	41
	शिक्षा सिद्धान्त का दार्शनिक आधार	42
	प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का महत्त्व	55
	न्याय की परम्परावादी धारणा	57

सामाजिक न्याय 59
व्यक्तिगत न्याय 60
प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ 60
2. अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत 68
अनुकरण-सिद्धान्त 69
त्रासदी-विवेचन 70
विरेचन सिद्धांत 71
अनुकरण के महत्त्व के कारण 72
अनुकरण की शक्ति और सीमाएँ 77
आधुनिकतम मत 84
आक्षेप और समाधान 85
विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधार 85
3. यथार्थवाद 92
इतिहास 93
यथार्थवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 97
यथार्थवाद एवं शिक्षा 101
4. लोंजाइनस की उदात्त संबंधी अवधारणा 104
लोंजाइनस का उदात्त तत्त्व 105
उदात्त तत्त्व के स्रोत 106
विचार की महत्ता 106
महान धारणाओं की क्षमता 111
गरिमामय रचना विधान 114
उदात्त और परवर्ती समीक्षक 115
उदात्त का प्रभाव 116
5. कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत 122
कल्पना सिद्धांत 123
रम्य कल्पना (ललित कल्पना) 124
6. क्रोचे का अभिव्यंजनावाद 126
अंत:प्रज्ञा-अभिव्यंजना 127
क्रोंचे का अभिव्यंजनावाद 128
उपन्यास 179

गद्य काव्य 181
7. रिचर्ड्स का संप्रेषण सिद्धांत 183
मूल्य सिद्धांत 184
8. संरचनावाद 187
इतिहास 190
भाषा विज्ञान में संरचनावाद 190
नृविज्ञान और समाजशास्त्र में संरचनावाद 192
द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संरचनावाद 195
संरचनावाद पर प्रतिक्रियाएं 197
9. आधुनिकता 198
आधुनिकता के मूल तत्त्व 198
आधुनिकता की परिभाषा 208
10. उत्तर-आधुनिकता 211
उत्तर आधुनिकतावाद के मूल तत्त्व 211
पूर्णतावाद का विरोध 214

1

पाश्चात्य काव्यशास्त्र/प्लेटो की काव्य संबंधी मान्यताएँ

यूनान का महान दार्शनिक प्लेटो का जन्म एथेंस नामक नगर में 427 ई. पू. एक कुलीन वंश में हुआ था। प्लेटो को उनके माता-पिता ने 'अरिस्तोक्लीस' नाम दिया था। अरबी-फारसी में यही नाम 'अफलातून' के रूप में प्रचलित है। किन्तु विश्व की अधिकांश भाषाओं में उन्हें 'प्लेटो' नाम से ही जाना जाता है। प्लेटो की पारिवारिक पृष्ठभूमि राजनीतिक थी। किन्तु उन्होंने स्वयं कभी राजनीति में हिस्सा नहीं लिया। सुकरात प्लेटो के गुरू थे। अत: सुकरात की छत्रछाया में ही प्लेटो की शिक्षा-दीक्षा हुई। प्लेटो ने अनेक वर्षों तक कई देशों का भ्रमण और विभिन्न दार्शनिक मत-मतांतरों का गहन अध्ययन भी किया। प्लेटो का चिंतन उनके लिखे 'संवादों' में मुखरित हुआ है। उनके कुछ संवाद 'पोलितेइया', 'रिपब्लिक' तथा 'ईऑन' में संकलित हैं। सुकरात ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा। उनकी दृष्टि में अध्यापन का सबसे अच्छा तरीका था- संवाद अर्थात प्रश्नोत्तर, जिसमें अध्यापक और अध्येता दोनों सहभागी हों। एथेंस पर स्पार्टा का आक्रमण प्लेटो के जन्म से चार वर्ष पहले हुआ था। इस कारण प्लेटो का शैशव, कैशोर एवं यौवन का भी आरंभिक भाग युद्ध की काली छाया में बीता। उन्होंने युद्ध की विभीषिका ही नहीं, बल्कि अपनी जन्मभूमि की ग्लानिजनक पराजय भी अपनी आंखों से देखी। जब वे रिपब्लिक में कहते हैं कि 'गुलामी मृत्यु से

भी भयावह है।' तो समझते देर नहीं लगती कि इस आक्रोश की तीव्रता स्वानुभूत है। इसके साथ ही उसने यह भी देखा कि एक ओर तो लोकतंत्र वैचारिक स्वतंत्रता का दम भरता है और दूसरी ओर एक बुद्धिवादी सुकरात को तर्क के प्रचार के लिए मृत्युदंड देता है। प्लेटो दार्शनिक होते हुए भी कवि-हृदय-सम्पन्न था। उसने महान कवियों के काव्य का अध्ययन किया था। जब हम उसे काव्य और कवि की निन्दा करते हुए पाते हैं, तो किंचित् रूप से कवि और कलाप्रेमी प्लेटो की अपने आदर्श राज्य से कवियों के बहिष्कार की बात कुछ निराशा और अटपटी-सी लगती है पर यदि हम उसके युग की परिस्थितियों, उसकी रूचि, प्रवृति और उसकी जीवन-दृष्टि को ध्यान में रखें तो उसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण सहज ही समझ में आ जाता है। वह सत्य का उपासक और तर्क का हिमायती था अत: सत्य की रक्षा के लिए उसने एक ओर दर्शन की वेदी पर अपने कवि-हृदय की बलि चढा दी और दूसरी ओर अपने श्रद्धा-पात्र होमर की यह कहकर निन्दा की- 'दुनियाभर के लोगों को झूठ बोलना होमर ने ही सिखाया हैं।' प्लेटो का मत था कि उसके समय कविता मनोरंजन के लिए लिखी जाती थी जो ग्रीक लोगों के अस्वस्थ मनोवेगों को उभारती थी। वे देव तथा महापुरूषों के आख्यानों का तो स्वागत किया है। किन्तु उनका आक्रोश तो उन साहित्य से है, जो दु:खांतक, रोने-धोने को बढ़ावा देकर समाज को कमजोर बनाते हैं। चूकिं कमजोर समाज अपनी स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकता, इसलिए वैसे साहित्य और लेखकों को राज्य में रहने का अधिकारी नहीं, जो बल और पौरूष को जगाने के बदले कमजोर बनाता है। बट्रेंड रसल का कहना ठीक ही लगता है कि 'प्लेटो के अनुदार विचारों को भी ऐसी सज-धज के साथ प्रस्तुत करने की कला थी कि वे भावी युगों को प्रवंचित करते रहे।'

प्लेटो का अनुकरण सिद्धांत

प्लेटो काव्य को जीवन का अनुकरण मानते हैं। उन्होंने इस क्रिया को 'भीमेसिस' कहा है। जिसका अंग्रेजी अनुवाद इमीटेशन अर्थात् अनुकरण होता है। प्लेटो की स्पष्ट धारणा है कि काव्य सत्य से दूर होता है, क्योंकि वह कविता को अज्ञान से उत्पन्न मानता है। इसलिए काव्य में सत्य का अनुकरण नहीं किया जा सकता। उन्होंने 'अनुकरण' का प्रयोग दो संदर्भों में किया हैं- (1) विचार जगत् और गोचर जगत् के बीच संबंध की व्याख्या के लिए, (2) वास्तविक जगत् और कला के बीच संबंध निरूपण के लिए। प्लेटो मूलत: प्रत्यावादी

दार्शनिक थे। उनका प्रत्ययवाद काव्य और कला को गहनता से समझने का तार्किक आधार प्रदान करता है। इसके अनुसार प्रत्यय अर्थात् विचार ही परम सत्य है। वह एक अखण्ड, नित्य है और परमेश्वर ही उसका रचयिता हैं। यह दृश्यमान जगत् उस परम सत्य या विचार का ही अनुकरण है। क्योंकि कलाकार किसी वस्तु को ही अपनी कल्पना शक्ति द्वारा निर्मित कर पाता हैं। इसलिए वह अनुकरण का अनुकरण कर पाता है। इस दृष्टि से कला तीसरे स्थान पर है– पहला स्थान प्रत्यय(विचार) या ईश्वर का, दूसरा आभास (प्रतिबिम्ब) या वस्तु जगत् का, तीसरा वस्तु जगत् का अनुकरण या काव्य की कला कृति का है। प्लेटो का मत है कि कवि जिस वस्तु का अनुकरण करता है, उसकी प्रकृति से परिचित नहीं होता है। संसार में प्रत्येक वस्तु का एक नित्य रूप होता है, जो प्रत्यय या विचार धारणा में ही रहता है। यह रूप ईश्वर निर्मित हुआ करता है। प्रत्यय अर्थात् विचार में वर्तमान उसी रूप के आधार पर किसी वस्तु का निर्माण हुआ करता है। प्लेटो ने अपने इस सिद्धांत को समझाने के लिए पलंग का उदाहरण दिया है। उनका कहना हैं कि यथार्थ पलंग वह है जिसका रूप हमारे प्रत्यय या विचार में है और इसी रूप का निर्माण ईश्वर ने किया है। उस विचार में मौजूद रूप के आधार पर बढ़ई लकडी से पलंग का निर्माण करता है और बढ़ई द्वारा बनाए गए पलंग का चित्र कवि या कलाकार बनाता है। इस प्रकार तीन पलंग हुए– (1) प्रथम जिसका निर्माण ईश्वर या विचार में है। (2) दूसरा जिसका निर्माण बढ़ई लकड़ी से करता है। (3) तीसरा वह जिसका निर्माण कलाकार या चित्रकार करता है। यही कारण है कि प्लेटो के अनुसार कविता या कलाकृति अनुकरण का अनुकरण या नकल की नकल है। इसलिए वह मानते हैं कि हर काव्य या कला मिथ्या और सत्य से दूर है।

प्लेटो की काव्य संबंधी मान्यताएँ

1. प्लेटो का कहना है कि काव्य में देवों का चरित्र आदर्श नहीं हैं और ना ही वीरों का। उनसे मनुष्यों को कोई सत्प्रेरणा नहीं मिल सकती। उदाहरण होमर के ग्रंथों में देखा जा सकता हैं जहाँ देवताओं को क्रूर और लोभी तथा सत पात्रों को दु:खित दिखाया गया।
2. होमर और हेसिओद के काव्यों में ऐसे स्थल आये है, जो पाठकों और श्रोताओं के मन में वीरता के जगह भय का संचार करती है। जबकि काव्य ऐसा हो कि नवयुवकों में शौर्य जगाये और मृत्यु की लालसा जगाये।

3. काव्यों में भोग-विलास की कामना उत्तेजित करने वाले उत्सवों का निषेध हो।
4. काव्य में अगर सदाचार के लिए दंड और कदाचार के लिए पुरस्कार होगा तो नैतिकता कैसे टिकेगी? कोमल बुद्धि बालकों और नवयुवकों पर इसका अनिष्ट प्रभाव पड़ता है।
5. नाटकों में बुरे पात्रों के लगातार अनुकरण से अभिनेता में भी उनकी बुराइयां आ जाती हैं जिससे समाज में भी बुराइयों का विस्तार होता है। (प्लेटो यहाँ यह कहना भूल गये कि बुरे पात्र के अनुकरण से बुराइयां आती है तो अच्छे पात्रों के अनुकरण से अच्छाई आती है।)
6. दु:खांतकों में कलह, हत्या, विलाप आदि और सुखांतकों में विद्रुपता, अभद्रता, मसखरापन आदि देखने-सुनने में द्रष्टा-श्रोता के मन में निकृष्ट भाव उदित होते हैं। सत् और महान पात्रों को नाटक में आँसू बहाते देख जनता भी वही सीखती हैं।
7. कोई व्यक्ति दु:खांतक में भी अभिनय करे और सुखांतक में भी और दोनों में सफलता प्राप्त करे, यह संभव नहीं क्योंकि दोनों में सर्वथा भिन्न प्रकार के अभिनय अपेक्षित हैं। किसी व्यक्ति की प्राकृतिक विशेषता किसी एक ही प्रकार के अभिनय के अनुकूल हो सकती है।
8. प्राज्ञ और प्रशान्त व्यक्ति प्राय: सदा एकरस रहते हैं। अत: न तो अभिनेता के लिए उनका अनुकरण सरल है और न भावक के लिए आस्वाद। जो नाटककार लोकप्रियता अर्जित करना चाहते हैं वे हलके और ओछे भावों का ही चित्रण पसंद करते हैं। इससे समाज में हलकापन और ओछेपन का प्रसार होता है।
9. काव्य और नाटक अंत: प्रेरणा अर्थात भाव के उच्छलन से उत्पन्न होते हैं, तर्क से नहीं। प्लेटो तर्क हीन किसी भी वस्तु को स्वीकृत नहीं करते।
10. काव्य दैवीय शक्ति की प्रेरणा से उत्पन्न होती है। रचनाकार काव्य करते वक्त अपने वश में नहीं रहता।
11. भाव की इस उद्दीप्ति के दो दुष्परिणाम होते हैं– प्रथम सत्य को देखने की दृष्टि अस्पष्ट होती है और दूसरी भाव का अतिरेक संयम तथा संतुलन को बाधित करता है। इससे समाज में वीरता के बदले विलास बढ़ता है।
12. कुछ लोग काव्यगत असत्य का समाधान यह कहकर करते हैं कि वह अन्योक्ति है, किन्तु बालक या नवयुवक में इतनी बुद्धि नहीं होती कि वह अन्योक्ति तथा यथार्थ में भेद कर सके।

प्लेटो का जीवन परिचय एवं शिक्षा दर्शन

महान् यूनानी दार्शनिक प्लेटो का जन्म 427 ई. पूर्व में एथेन्स के एक कुलीन परिवार में हुआ था। उनके पिता अरिस्टोन एथेन्स के अन्तिम राजा कोर्डस के वंशज तथा माता पेरिकतिओन यूनान के सोलन घराने से थी। प्लेटो का वास्तविक नाम एरिस्तोकलीज था, उसके अच्छे स्वास्थ्य के कारण उसके व्यायाम शिक्षक ने इसका नाम प्लाटोन रख दिया। प्लेटो शब्द का यूनानी उच्चारण 'प्लातोन' है तथा प्लातोन शब्द का अर्थ चौड़ा-चपटा होता है। धीरे-धीरे प्लातोन के स्थान पर प्लेटो कहा जाने लगा। वह आरम्भ से ही राजनीतिज्ञ बनना चाहता था लेकिन उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका और वह एक महानदार्शनिक बन गया। प्लेटो के जन्म के समय एथेन्स यूनान का महानतम राज्य था। लेकिन लगातार 30 वर्षों तक स्पार्टा और पलीपोनेशिया के साथ युद्ध ने एथेन्स की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दी। 404 ई. पू. में एक क्रांति द्वारा एथेन्स में लोकतन्त्र के स्थान पर तीस निरंकुशों का शासन स्थापित हुआ। प्लेटो को शासन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया, लेकिन उसने शासन में भाग लेने से इन्कार कर दिया। शीघ्र ही दूसरी क्रान्ति द्वारा एथेन्स में तीस निरंकुशों के स्थान पर पुनः प्रजातन्त्र की स्थापना की गई। लेकिन इस शासन के दौरान सुकरात की मृत्यु ने उसके दिल में प्रजातन्त्र के प्रति घृणा पैदा कर दी।

वह 18 या 20 वर्ष की आयु में सुकरात की ओर आकर्षित हुआ। यद्यपि प्लेटो तथा सुकरात में कुछ विभिन्नताएँ थीं लेकिन सुकरात की शिक्षाओं ने इसे अधिक आकर्षित किया। प्लेटो सुकरात का शिष्य बन गया। सुकरात के विचारों से प्रेरित होकर ही प्लेटो ने राजनीति की नैतिक व्याख्या की, सद्गुण को ज्ञान माना, शासन कला को उच्चतम कला की संज्ञा दी और विवेकपर बल दिया। 399 ई0 पू0 में सुकरात को मृत्यु दण्ड दिया गया तो प्लेटो की आयु 28 वर्ष थी। इस घटना से परेशान होकर वह राजनीति से विरक्त होकर एक दार्शनिक बन गए। उसने अपनी रचना 'रिपब्लिक' में सुकरात के सत्य तथा न्याय को उचित ठहराने का प्रयास किया है। यह उसके जीवन का ध्येय बन गया। वह सुकरात को प्राणदण्ड दिया जाने पर एथेन्स छोड़कर मेगरा में चला गया। क्योंकि वह लोकतन्त्र से घृणा करने लग गया था। मेगरा जाने पर 12 वर्ष का इतिहास अज्ञात है। लोगों का विचार है कि इस दौरान वह इटली, यूनान और मिस्र आदि देशों में घूमता रहा। वह पाइथागोरस के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 387 ई0 पू0 में इटली और सिसली गया। सिसली के राज्य सिराक्यूज में उसकी

भेंट दियोन तथा वहाँ के राजा डायोनिसियस प्रथम से हुई। उसके डायोनिसियस से कुछ बातों पर मतभेद हो गए और उसे दास के रूप में इजारनटापू पर भेज दिया गया। उसे इसके एक मित्र ने वापिस एथेन्स पहुँचाने में उसकी मदद की।

प्लेटो ने 386 ई. पू. में इजारन टापू से वापिस लौटकर अपने शिष्यों की मदद से एथेन्स में अकादमी खोली जिसे यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त है। उसने जीवन के शेष 40 वर्ष अध्ययन-अध्यापन कार्य में व्यतीत किए। प्लेटो की इस अकादमी के कारण एथेन्स यूनान का ही नहीं बल्कि सारे यूरोप का बौद्धिक केन्द्र बन गया। उसकी अकादमी में गणित और ज्यामिति के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता था। उसकी अकादमी के प्रवेश द्वार पर यह वाक्य लिखा था- "गणित के ज्ञान के बिना यहाँ कोई प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है।" यहाँ पर राजनीतिज्ञ, कानूनवेत्ता और दार्शनिक शासक बनने की भी शिक्षा दी जाती थी।

डायोनिसियस प्रथम की मृत्यु के बाद 367 ई. पू. डायोनिसियस द्वितीय सिराक्यूज का राजा बना। अपने मित्र दियोन के कहने पर वह वहाँ जाकर राजा को दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने लग गया। इस दौरान राजा के चाटुकारों ने दियोन के खिलाफ बोलकर उसे देश निकाला दिलवा दिया और उसकी सम्पत्ति व पत्नी जब्त कर ली। इससे नाराज प्लेटो एथेन्स वापिस चला गया।361 ई. पू. में डायोनिसियस ने उसे दोबारा सिराक्यूज आने का निमन्त्रण दिया, परन्तु वह यहाँ आने को तैयार नहीं था, लेकिन तारेन्तय के दार्शनिक शासक की प्रेरणा से वह वहाँ आकर डायोनियस को दर्शनशास्त्र का ज्ञान देने लग गया। लेकिन दोबाराडायोनिसिथस व प्लेटो में सैद्धान्तिक बातों पर मतभेद हो गए और वह वापिस एथेन्स आ गया। इससे उसकी आदर्शवादिता को गहरा आघात पहुँचा और वह व्यावहारिकता की ओर मुड़कर 'The Laws' नामक ग्रन्थ लिखने लग गया। अपने किसी शिष्य के आग्रह पर वह एक विवाह समारोह में शामिल हुआ और वहीं पर सोते समय 81 वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी।

प्लेटो का जीवन-दर्शन

प्लेटो अपने गुरू सुकरात की ही तरह यह मानते हैं कि समय की आवश्यकता जीवन में एक नये नैतिक बन्धन (मोरल बॉन्ड) की है। प्लेटो ने जीवन के लिए एक नए नैतिक आधार को तैयार करने की कोशिश की जिसमें व्यक्ति को पर्याप्त अवसर हो तथा संस्थागत जीवन को भी उचित मान्यता मिले।

प्लेटो इस नए नैतिक बन्धन का आधार विचारों तथा सार्वभौमिक एवं शाश्वत सत्य को मानते है। उनके अनुसार अच्छाई ज्ञान या पूर्ण विचारों मेंसमाहित होता है, जो कि 'मत' से भिन्न होता है।

प्लेटो एक आदर्शवादी चिन्तक थे जिन्होंने यथार्थ तथा अस्थायी की उपेक्षा की है तथा सार्वभौम और स्थायी पर बल दिया है। प्लेटो के लिए दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुएँ कालसत्तात्मक (ऐहिक) है तथा अदृश्य वस्तुएँ ही नित्य हैं। उसके प्रत्यय दिव्य उपपत्तियां है, तथा इनका अनुभव ही विज्ञान अथवा ज्ञान है। इसके विपरीत वे लोग जो सिद्धान्तों का उनके मूर्त प्रतिमूर्तियों से अलग बोध नहीं रखते, ऐसे संसार में रहते हैं, जिसे प्लेटो स्वापनिक स्थिति कहते हैं। उनका वस्तुओं से परिचय मात्र 'मत' के समान होता है, वे यर्थाथ का बोध तो रखते हैं किन्तु सत् के ज्ञान से रहित होते हैं।

आदर्शवादी दर्शन भौतिक पदार्थ की तुलना में विचार को स्थायी और श्रेष्ठ मानता है। प्लेटो महानतम आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री थे। उनके अनुसारपदार्थ जगत, जिसको हम इन्द्रियों से अनुभव करते हैं, वह विचार जगत का ही परिणाम है। विचार जगत वास्तविक और अपरिवर्तनशील है। इसी से भौतिक संसार का जन्म होता है। भौतिक पदार्थों का अन्त अवश्यम्भावी है।

विचार जगत का आधार प्रत्यय है। प्लेटो के अनुसार प्रत्यय पूर्ण होता है और इन्द्रियों के सम्पर्क में आने वाले भौतिक वस्तु अपूर्ण। प्लेटो ने फेइडरस में सुकरात से कहलवाया है कि सत्य या वास्तविकता का निवास मानव के मस्तिष्क में होता है न कि बाह्य प्रकृति में। (रॉस 61) ज्ञानी मानव वह है, जो दृष्टि जगत पर ध्यान न देकर प्रत्ययों के ज्ञान की जिज्ञासा रखता है- क्योंकि प्रत्ययों का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। ज्ञान तीन तरह के होते है- (i)इन्द्रिय-जन्य ज्ञान (ii) सम्मति जन्य ज्ञान तथा (iii) चिन्तन या विवेक जन्यज्ञान। इनमें से प्रथम दो अधूरा, अवास्तविक एवं मिथ्या ज्ञान है जबकि चिन्तन या विवेकजन्य (प्रत्ययों का) ज्ञान इन्द्रियातीत होने के कारण वास्तविक, श्रेष्ठ एवं अपरिवर्तनशील है। व्यक्ति किसी भी पदार्थ को अपनी दृष्टि से देखकर उसकी व्याख्या करता है।- दूसरा व्यक्ति उसी पदार्थ की उससे भिन्न अर्थग्रहण कर सकता है। इस तरह से सम्मति भिन्न हो सकती है। अत: इसे ज्ञान कहना उचित नहीं है। प्लेटो ने रेखागणित के सिद्धान्तों को बेहतर ज्ञान कहा।जैसे त्रिभुज की दो भुजा मिलकर तीसरी भुजा से बड़ी होती है- यह सभी त्रिभुजों के लिए सही है। इससे भी अधिक श्रेष्ठ ज्ञान प्लेटो ने तत्त्व ज्ञान को माना।

प्लेटो ने संसार को सत् और असत् दोनों का संयोग माना है। प्रत्ययों पर आधारित होने के कारण संसारिक पदार्थ सत् है पर समरूपता का आभाव एवं क्षणभंगुरता उसे असत् बना देता है। प्लेटो ने दृष्टि जगत को द्रष्टा की क्रिया का फल माना है। प्लेटो आत्मा की अमरता को स्वीकार करते हुए इसे परम विवेक का अंश मानता है।

नैतिक मूल्यों के सिद्धान्त को प्लेटो के संवाद में उच्च स्थान मिला है।सोफिस्टों ने यह धारणा फैलायी थी कि गलत और सही परिस्थिति विशेष पर निर्भर करता है। जो एक समय और स्थान पर सही है वह दूसरे समयऔर स्थान पर गलत हो सकता है। प्लेटो सुकरात के माध्यम से इस अवसरवादी विचारधारा का विरोध करते हुए कहते हैं कि नैतिक मूल्य शाश्वत हैं। फेडो में प्लेटो ने सम्पूर्ण सुन्दरता, सम्पूर्ण अच्छाई तथा सम्पूर्ण महानता की बात की है। इस संसार में जो भी सुंदर या अच्छा है वह इसी सम्पूर्ण सुन्दरता या अच्छाई का अंश है। सर्वोच्च सत्य से ही अन्य जीव एवं पदार्थ अपना अस्तित्त्व प्राप्त करते हैं।

यद्यपि प्लेटो ने सर्वोच्च सत्य या सत्ता को ईश्वर या गॉड के नाम से नहीं पुकारा (रॉस,71) पर इसी परम सत्य का अंश मानव की आत्मा को माना। प्लेटो के अनुसार इस संसार और जीवन से परे भी एक संसार और जीवन है, जो अधिक सत्य, अधिक सुंदर तथा अधिक वास्तविक है। आदर्श जीवन का उद्देश्य शिवत्व (अच्छाई) एवं सुन्दरता प्राप्त करना बताता है।

प्लेटो की रचनाएँ काल के आधार पर चार भागों में बाँटी जा सकती हैं। प्रथम वर्ग में सुकरात से सम्बन्धित रचनाएँ हैं। इन रचनाओं के विचार सुकरान्त के विचारों की ही अभिव्यक्ति है। अपोलॉजी, क्रीटो, यूथीफ्रो जोर्जियस आदि प्रथम वर्ग की रचनाएँ हैं। ये सभी रचनाएँ सुकरात की मृत्यु से सम्बन्धित हैं, प्रथम दो रचनाएँ राज्यकी आज्ञा का पालन तथा उसकी सीमा से सम्बन्धित हैं। द्वितीय वर्ग की रचनाएँ 380 ई0 पू0 की है। ये प्लेटो के अपने विचारों से सम्बन्धित हैं। इस वर्ग में मीनो, प्रोटागोरस, सिंपोजियम, फेडो, रिपब्लिक और फेड्रस आदि रचनाएँआती हैं। ये सभी रचनाएँ प्लेटो की चरमोत्कृष्ट साहित्यिक एवं दार्शनिक प्रतिभा को प्रतिबिम्बित करती है।तीसरे वर्ग में संवाद या कथोपकथन आते हैं जिनका सम्बन्ध प्लेटो की शैली, विचार और व्यक्तित्त्व से अधिकद्वन्द्वात्मक पद्धति से है। पार्मिनीडिज, थीटिटस, सोफिस्ट स्टेट्समैन आदि रचनाएँ आती हैं।

अन्तिम वर्ग में फीलिबस, टायमीयस, लॉज आदि ग्रन्थ आते हैं। लॉज प्लेटो का अन्तिम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सुकरात एक चरित्र के रूप में पूर्णत: विलीन हो जाता है।इन रचनाओं में प्लेटो की सर्वोत्तम रचना रिपब्लिक है जिसके द्वारा प्लेटो राजनीति, दर्शन, शिक्षा, मनोविज्ञान, कला,नीति शास्त्र आदि के क्षेत्र में एक मेधावी व सर्वश्रेष्ठ विचारक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यह रचना राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्लेटो की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण व अमूल्य देन मानी जाती है।

प्लेटो की अध्ययन शैली और पद्धति

प्लेटो ने प्रत्येक विषय को स्पष्ट करने के लिए सशक्त, रोचक और आकर्षक संवाद शैली अपनाई है। उसकी रचनाओं में केवल एक पात्र का दूसरे पात्र से वार्तालाप ही नहीं होता बल्कि दर्शन कविता के साथ, विज्ञान कला के साथ, सिद्धान्त व्यवहार के साथ, राजनीति अर्थशास्त्र के साथ, भावना विवेक के साथ, शरीर आत्मा के साथ, व्यायाम संगीत के साथ स्वर में स्वर मिलाकर बोलते हुए प्रतीत होते हैं। इसके चलते जहाँ प्लेटो को समझना कुछ कठिन होता है, वहाँ उन्हें पढ़ना उतना ही आनन्द देता है। क्रॉसमैन ने लिखा है- "मैं जितना अधिक रिपब्लिक को पढ़ता हूँ, उतना ही इससे घृणा करता हूँ, फिर भी इसे बार-बार पढ़े बिना अपने आप को रोक नहीं पाता हूँ।" उसके विचारों में औपन्यासिक रोचकता है। उसने पौराणिक दृष्टान्तों एवं कथाओंको शामिल करके रचनाओं को और अधिक मनोरंजक बना दिया है। प्लेटो का दर्शनशास्त्र भव्य रूप में प्रकट हुआ है। अत एव उसने ऐसी शैली अपनाई है, जो सत्य और सौन्दर्य के समन्वय को प्रकट करती है।

प्लेटो ने अपने चिन्तन में अनेक पद्धतियों का प्रयोग किया है। ये पद्धतियाँ नैतिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक समस्याओं के विश्लेषण के लिए प्रयोग में लाई गई हैं जिनमें प्रमख इस प्रकार से हैं–

प्लेटो की सबसे प्रमुख पद्धति द्वन्द्वात्मक पद्धति है। प्लेटो ने यह पद्धति अपने गुरु सुकरात से ग्रहण की है। प्लेटो ने रिपब्लिक, स्टेटसनैन, लॉज, क्रीटो आदि ग्रन्थों में इस पद्धति का प्रयोग किया है। यह पद्धति चिन्तन की वह पद्धति है, जिसके द्वारा प्रश्नोत्तर एवं तर्क-वितर्क के आधार पर किसी सत्य की खोज की जाती है। इस पद्धति के द्वारा मस्तिष्क में छिपे विचारों को उत्तेजित कर उन्हें सत्य की ओर ले जाने का प्रयास किया जाता है। इसलिए अपने मौलिक रूप

में द्वन्द्वात्मक पद्धति का अर्थ वार्तालाप की प्रक्रिया से है, प्रश्न पूछने और उत्तर देने की शैली से है, तर्क-वितर्क की पद्धति से है, किसी विषय पर अपना मत प्रकट करने और दूसरे के मत को जानने की विधि से है। वही व्यक्ति किसी विषय पर अपना मत प्रकट कर सकता है, जिसे उस विषय का ज्ञान होता है। ग्रीक जगत में यह विधि कोई नई नहीं है। सुकरात ने कहा कि जब लोगों में परस्पर एक साथ मिलाकर विचार करने की प्रथा आई, तभी इस विधि का जन्म हुआ। लेकिन प्लेटो ने इसे वार्तालाप की प्रणाली मात्र न मानकर इसे सत्य की खोज करने की विधि माना, इस विधि का प्रयोग प्लेटो ने प्रचलित विश्वासों व धारणाओं का खण्डन करके नए विश्वासों व धारणाओं की स्थापना हेतु किया। प्लेटो का विश्वास था कि एक विचार को धराशायी करके ही दूसरे विचार को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। बार्कर का मत है कि- "वैचारिक क्षेत्र में सत्य को तभी एक विजयी के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है जब एक रुद्र विचार दूसरे विचार को निगलता है।" प्लेटो का विश्वासथा कि धीरे-धीरे ही सत्य की ओर बढ़ा जा सकता है। विशिष्ट विचार को 'अनेक में एक' और 'एक में अनेक' की खोज द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह विशिष्ट विचार ही सत्य है। सत्य की खोज ही इस पद्धति का उद्देश्य है। डायलेक्टिक की उत्पत्ति इसी मौलिक तथ्य से होती है कि सभी वस्तुओं में एकता और अनेकता का सामंजस्य पाया जाता है। उसने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक में यह स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु का रूप दूसरी वस्तुओं के रूप से जुड़ा होता है। सभी वस्तुओंके रूप एक-दूसरे से मिलकर सत् या शिव का स्वरूप धारण करते हैं। प्लेटो ने संवाद प्रणाली के माध्यम से पात्रों के द्वारा अन्तिम सत्य का पता लगाने की कोशिश की है। उसने संवाद-शैली को विचार क्रान्ति के सर्वोत्तम एवं रुचिकर साधन के रूपमें प्रयोग किया है। इससे पात्रों व श्रोताओं के दिमागों में सत्य को ठूँसने की आवश्यकता नहीं होती। प्लेटो ने इस पद्धति का प्रयोग तीन उद्देश्यों के लिए किया है- (1) सत्य की खोज के लिए (2) सत्य की अभिव्यक्ति और प्रचार के लिए (3) सत्य की परिभाषा के लिए।

द्वन्द्वात्मक पद्धति एक महत्त्वपूर्ण पद्धति होने के बावजूद भी आलोचना का शिकार हुई। आलोचकों ने कहा कि इस पद्धति में प्रश्न अधिक पूछे जाते हैं, उत्तर कम दिए जाते हैं, इसलिए यह मस्तिष्क को भ्रांत करती है। यह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध कर सकती है। सत्य की प्राप्ति वाद-विवाद से न होकर मनन से ही हो सकती है। वाकपटुता के बल पर धूर्त व्यक्ति समाज में

अपना स्थान बना सकते हैं। यह पद्धति शंकाओं का समाधान करने की बजाय भ्रांति ही पैदा करती है। लेकिन अनेक त्रुटियों के बावजूद भी इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि प्लेटो ने इसके आधार पर न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादनकिया है। यह विचार और चिन्तन करने की शक्ति को उत्प्रेरित करने की क्षमता रखती है।

प्लेटो ने अपने राजनीतिक चिन्तन में निगमनात्मक पद्धति का भी काफी प्रयोग किया है। इस पद्धति का सार यह है कि इसमें सामान्य से विशेष की ओर पहुँचा जाता है। इसका अर्थ यह है कि सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विशेष के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले जाते हैं। प्लेटो ने दार्शनिक राजा का सिद्धान्त इसी पद्धति पर आधारित किया है। प्लेटो के अनुसार, "सद्गुण ही ज्ञान है"। दार्शनिक ज्ञानी होते हैं, इसलिए वे सद्गुणी भी होते हैं और उन्हें ही शासक बनना चाहिए।इसी पद्धति का प्रयोग करके प्लेटो ने वर्ग-सिद्धान्त, शिक्षा-सिद्धान्त और दार्शनिक शासक का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। प्लेटो ने अपने सामान्य सिद्धान्त के आधार पर परम्पराओं और रूढ़ियों को तिलांजलि देते हुए निगमनात्मक पद्धति का ही प्रयोगकिया है। इस पद्धति को सामान्य से विशिष्ट की ओर चलने वाली पद्धति भी कहा जाता है।

प्लेटो ने अपने चिन्तन में विश्लेषणात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया है। इस पद्धति में वस्तु के मौलिक तत्त्वों को अलग-अलग करके अध्ययन किया जाता है ताकि सम्पूर्ण वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सके। वह आत्मा के तीन तत्त्व- विवेक, साहस एवं तृष्णा को मानकर, इनके पृथक-पृथक् अध्ययन द्वारा मानव स्वभाव का वर्णन करता है। वह दार्शनिक राजा, सैनिक और उत्पादक वर्ग के अलग-अलग अध्ययन के आधार पर इनसे निर्मित राज्य का विश्लेषण करता है।

प्लेटो ने अपने चिन्तन में सादृश्य विधि का भी प्रयोग किया है। उसने अपने सादृश्यों ओर पौराणिक कथाओंका प्रयोग किया है। उसने इन्हें कहीं तो कलाओं से लिया है और कहीं पशु-जगत् से। रिपब्लिक में कुत्ते के सादृश्य को अनेकस्थानों पर तर्क का आधार बनाया गया है कि जिस प्रकार चौकीदार के काम के लिए कुत्ता व कुत्तिया एक समान हैं, उसी प्रकार राज्य के संरक्षक बनने के लिए पुरुष और स्त्री समान हैं। कलाओं के सादृश्य में वह राजनीति को कला मानता है।अत: अन्य कलाओं की भाँति इसमें भी ज्ञान का आधार होना चाहिए। रिपब्लिक में दार्शनिक राजा की धारणा का आधार अन्यकलाकारों के सादृश्य पर आधारित है। उसका मानना है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ को अपने कार्य का पूरा

ज्ञान होना चाहिए।उसका कहना है कि कलाकार की भाँति राजनीतिक कलाकार को भी व्यवहार के नियमों के प्रतिबन्ध से मुक्त रखना चाहिए।इस पद्धति का अर्थ है कि प्रत्येक वस्तु का कुछ उद्देश्य है और वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयासरत है औरउसी की तरफ अग्रसर होती है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु की गति उसे उद्देश्य द्वारा ही निरूपित होती है। प्लेटो के चिन्तन में उसके शिक्षा सिद्धान्त का दार्शनिक आधार सोद्देश्यता ही है। अत: प्रत्येक वास्तविक राज्य का उद्देश्य आदर्श राज्य की तरफ उन्मुख होना है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो ने अपने चिन्तन में संवाद शैली का प्रयोग करते हुए बहुत सी पद्धतियों का अनुसरण किया है। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति का हीगेल और मार्क्स के विचारों पर, सोद्देश्य पद्धति का अरस्तू, दाँते एवं ग्रीन पर प्रभाव पड़ा है। प्लेटो की अध्ययन-पद्धति अनेक पद्धतियों का मिश्रण है। प्लेटो ने आवश्यकतानुसार सभी पद्धतियों का प्रयोग किया है।

प्लेटो का शिक्षा-दर्शन

सुकरात एवं प्लेटो के पूर्व सोफिस्टों का प्रभाव था पर उनकी शिक्षा अव्यवस्थित थी तथा इससे कम ही व्यक्ति लाभान्वित हो सकते थे क्योंकि सोफिस्टों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा नि:शुल्क नहीं थी और इस शुल्क को चुकाने में कुछ ही लोग सक्षम थे। सोफिस्टों ने शिक्षा के उद्देश्य को सीधी उपयोगिता से जोड़ दिया इससे भी वे लोगों की घृणा के पात्र बने। क्योंकि ग्रीस की प्रबुद्ध जनता शिक्षा को अवकाश हेतु प्रशिक्षण मानती थी न कि जीवन के भरण-पोषण का माध्यम। पेलोपोनेसियन युद्ध में एथेन्स की हार को लोगों ने सोफिस्टों की शिक्षा का परिणाम माना। फलत: उनका प्रभाव क्षीण हुआ और सुकरात तथा उसके योग्यतम शिष्य प्लेटो को एक बेहतर शिक्षा व्यवस्था के विकास के लिए उचित पृष्ठभूमि मिली।

मानव इतिहास में शिक्षा के सम्बन्ध में प्रथम पुस्तक प्लेटो द्वारा रचित 'रिपब्लिक' है। जिसे रूसो ने शिक्षा की दृष्टि से अनुपम कृति माना। इसके अतिरिक्त 'लाज' में भी शिक्षा के सम्बन्ध में प्लेटो के विचार मिलते हैं।तत्कालीन प्रजातंत्र हो या कुलीनतंत्र, राजनीति स्वार्थ पूर्ति का साधन बन गई थी "ड़यंत्रों, संघर्षो एवं युद्धों की जगह समदर्शी शासन जो नागरिकों के बीच सद्भावना को बढ़ा सके के महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्लेटो ने एक नये

समाज की रचना आवश्यक माना। इस तरह के समाज की रचना का सर्वप्रमुख साधन प्लेटो ने शिक्षा को माना। समाज संघर्ष विहीन तभी होगा जब अपने-अपने गुणों के अनुसार सभी लोग शिक्षित होंगे।

प्लेटो ने शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय माना है। दि रिपब्लिक में प्लेटो इसे युद्ध, युद्ध का संचालन एवं राज्य के शासन जैसे महत्वपूर्ण विषयों में से एक मानता है। दि लॉज में शिक्षा को प्रथम तथा सर्वोत्तम वस्तु माना है, जो मानव को प्राप्त करनी चाहिए। दि क्रिटो में अपनी बात पर बल देते हुए प्लेटो कहते हैं ''वैसे मानव को बच्चों को जन्म नहीं देना चाहिए जो उनकी उचित देखभाल और शिक्षा के लिए दृढ़ नहीं रह सकते।''

जैसा कि हमलोग देख चुके हैं आदर्शवादी विचारक भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक या वैचारिक जगत को अधिक वास्तविक और महत्वपूर्ण मानते है। अंतिम या सर्वोच्च सत्य भौतिक जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक या वैचारिक जगत के अधिक समीप है क्योंकि 'सत्य' या 'वास्तविक' की प्रकृति भौतिक प्रकृति न होकर आध्यात्मिक है। अत: आदर्शवादियों के लिए भौतिक विज्ञानों की जगह मानविकी- यानि जो विषय स्वयं मानव का अध्ययन करता है अधिक महत्वपूर्ण है। वस्तुनिष्ठ तथ्यों के अध्ययन की जगह संस्कृति कला,नैतिकता, धर्म आदि का अध्ययन हमें सही ज्ञान प्रदान करता है।

शिक्षा का उद्देश्य

प्लेटो शिक्षा को सारी बुराइयों को जड़ से समाप्त करने का प्रभावशाली साधन मानता है। शिक्षा आत्मा के उन्नयन के लिए आवश्यक है। शिक्षा व्यक्ति में सामाजिकता की भावना का विकास कर उसे समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम बनाती है। यह नैतिकता पर आधारित जीवन को जीने की कला सिखाती है। यह शिक्षा ही है, जो मानव को सम्पूर्ण जीव जगत मेंसर्वश्रेष्ठ प्राणी होने का गौरव प्रदान करता है। प्लेटो ने शिक्षा के निम्नलिखित महत्वपूर्ण उद्देश्य बताये-

बुराइयों की समाप्ति एवं सद्गुणों का विकास- अपने सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ रिपब्लिक में प्लेटो स्पष्ट घोषणा करता है कि 'अज्ञानता ही सारी बुराइयों की जड़ है। सुकरात की ही तरह प्लेटो सद्गुणों क विकास के लिए शिक्षा को आवश्यक मानता है। प्लेटो बुद्धिमत्ता को सद्गुण मानता है। हर शिशु में विवेक निष्क्रिय रूप में विद्यमान रहता है- शिक्षा का कार्य इस विवेक को

सक्रिय बनाना है। विवेक से हीमानव अपने एवं राष्ट्र के लिए उपयोगी हो सकता है।

सत्य, शिव (अच्छाई एवं सुन्दर) की प्राप्ति– प्लेटो एवं अन्य प्राच्य एवं पाश्चात्य आदर्शवादी चिन्तक यह मानते हैं कि जो सत्य है वह अच्छा (शिव) है और जो अच्छा है वही सुन्दर है। सत्य, शिव एवं सुन्दर ऐसे शाश्वत मूल्य हैं जिसे प्राप्त करने का प्रयास आदर्शवादीशिक्षाशास्त्री लगातार करते रहे हैं। प्लेटो ने भी इसे शिक्षा का एकमहत्वपूर्ण उद्देश्य माना।

राज्य को सुदृढ़ करना– सुकरात एवं प्लेटो के काल में ग्रीस में सोफिस्टों ने व्यक्तिवादी सोच पर जोर दिया था। लेकिन आदर्शवादी शिक्षा शास्त्रियों की दृष्टि में राज्य अधिक महत्वपूर्ण है। राज्य पूर्ण इकाई है और व्यक्ति वस्तुत: राज्य के लिए है। अत: शिक्षा के द्वारा राज्य की एकता सुरक्षित रहनी चाहिए। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों म ंसहयोग, सद्भाव और भातृत्व की भावना का विकास होना चाहिए।

नागरिकता की शिक्षा– न्याय पर आधारित राज्य की स्थापना के लिए अच्छे नागरिकों का निर्माण आवश्यक है, जो अपने कर्तव्यों को समझें और उसके अनुरूप आचरण करें। प्लेटो शिक्षा के द्वारा नई पीढ़ी में दायित्व बोध, संयम, साहस, युद्ध-कौशल जैसे श्रेष्ठ गुणों का विकास करना चाहते थे। ताकि वे नागरिक के दायित्वों का निर्वहन करते हुए राज्य को शक्तिशाली बना सकें।

सन्तुलित व्यक्तित्त्व का विकास– प्लेटो के अनुसार मानव-जीवन में अनेक विरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। उनमें सन्तुलन स्थापित करना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य है। सन्तुलित व्यक्तित्त्व के विकास एवं उचित आचार-विचार हेतु 'स्व' को नियन्त्रण में रखना आवश्यक है। शिक्षा ही इस महत्वपूर्ण कार्य का सम्पादन कर सकतीहै।

विभिन्न सामाजिक वर्गों को सक्षम बनाना– जैसा कि हमलोग देख चुके हैं प्लेटो ने व्यक्ति के अन्तर्निहित गुणों के आधार पर समाज का तीन वर्गों में विभाजन किया है। ये हैं– संरक्षक, सैनिक तथा व्यवसायी या उत्पादक वर्ग। दासों की स्थिति के बारे में प्लेटो ने विचार करना भी उचित नहीं समझा। पर ऊपर वर्णित तीनों ही वर्णों को उनकी योग्यता एवं उत्तरदायित्व के अनुरूप अधिकतम विकास की जिम्मेदारी शिक्षा की ही मानी गई।

इस प्रकार प्लेटो शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानता है। व्यक्ति और राज्य दोनों के उच्चतम विकास को प्राप्त करना प्लेटो की शिक्षा का लक्ष्य है।वस्तुत:

शिक्षा ही है, जो जैविक शिशु में मानवीय गुणों का विकास कर उसे आत्मिक बनाती है। इस प्रकार प्लेटो की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य अत्यन्तही व्यापक है।

हमलोग पहले ही देख चुके हैं कि आदर्शवादी शिक्षाशास्त्री मानव-जीवन से सम्बन्धित ज्ञान को भौतिक ज्ञान से सम्बन्धित विषयों सेअधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उसके अनुसार जीवन के प्रथम दस वर्षों में विद्यार्थियों को अंकगणित, ज्यामिति, संगीत तथा नक्षत्र विद्या का ज्ञान प्राप्तकरना चाहिए। गणित आदि की शिक्षा व्यापार की दृष्टि से न होकर उनमें निहित शाश्वत सम्बन्धों को जानने के लिए होना चाहिए। संगीत के गणितशास्त्रीय आधारों की सिफारिश करते हुए प्लेटो कहता है यह शिवम् एवं सुन्दरम् के अन्वेषण में एक उपयोगी सत्य है। यदि इसका अन्य उद्देश्य को ध्यान में रखकर अनुसरण किया जाए तो यह अनुपयोगी है।

इसके उपरांत विद्यार्थियों को कविता, गणित, खेल-कूद, कसरत,सैनिक-प्रशिक्षण, शिष्टाचार तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा देने की बात कही गई।प्लेटो ने खेल-कूद को महत्वपूर्ण माना लेकिन उसका उद्देश्य प्रतियोगिता जीतना न होकर स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ मनोरंजन प्राप्त करना होनाचाहिए। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क तथा आत्मा का निवास संभव है।प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था में जिम्नास्टिक (कसरत) एवं नृत्य को महत्वपूर्णस्थान प्राप्त है। प्लेटो ने इन दोनों के समन्वय का आग्रह किया है। वे मानते थे कि 'कसरत विहीन संगीतज्ञ कायर होगा, जबकि संगीत विहीन कसरती पहलवान आक्रामक पशु हो जायेगा।' प्लेटो ने नृत्य को कसरत का ही अंग मानते हुए उसे युद्धकाल और शांतिकाल- दोनों में ही उपयोगी मानते हैं।

प्लेटो ने साहित्य, विशेषकर काव्य की शिक्षा को महत्वपूर्ण माना है।काव्य बौद्धिक संवेदनशील जीवन के लिए आवश्यक है। गणित को प्लेटो ने ऊँचा स्थान प्रदान किया है। रेखागणित को प्लेटो इतना अधिक महत्वपूर्ण मानते थे कि उन्होंने अपनी शैक्षिक संस्था 'एकेडमी' के द्वार पर लिखवा रखा था कि 'जिसे रेखागणित न आता हो वे एकेडमी में प्रवेश न करें।' इन विषयोंमें तर्क का प्रयोग महत्वपूर्ण है- और सर्वोच्च प्रत्यय- ईश्वर की प्राप्ति में तर्क सहायक है।

प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था में 'डाइलेक्टिक' या दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। प्लेटो के 'डाइलेक्टिक' में नीतिशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान,अध्यात्मशास्त्र, प्रशासन, कानून, जैसे विषय समाहित हैं। इनका अध्ययन उच्चस्तरीय विद्यार्थियों को कराना चाहिए। यह प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था का सर्वोच्च हिस्सा है।

डाइलेक्टिक का अध्ययन वस्तुतः दार्शनिकों के लिए है, जो राज्य का संचालन करेंगे। दार्शनिक के पाठ्यविषय में प्लेटो संगीत तथा व्यायाम जैसे विषयों को अपर्याप्त कह कर अस्वीकृत कर देता है, क्योंकि ये विषय परिवर्तनीय हैं, इसके विपरीत जिन विज्ञानों का वह अन्वेषक है उन्हें सत्की विवेचना करनी चाहिए। उनमें सर्वगत अनुप्रयोग तथा साथ ही चितनोन्मुखबनाने की क्षमता होनी चाहिए। जिस पाठ्यक्रम की संस्तुति प्लेटो ने की उसमें गणित, ज्यामिति, ज्योतिष विद्या (खगोल विज्ञान) सम्मिलित थे। हस्तकलाओंको अपमानजनक कहकर बहिष्कृत करने में वह अपनी कुलीन वर्गीय तथासीमित रूझान का परिचय देता है।

शिक्षा के स्तर

प्लेटो ने आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की तरह बच्चे के शारीरिक एवं मानसिक विकास की अवस्था के आधार पर शिक्षा को विभिन्न स्तरों में विभाजित किया है। ये विभिन्न स्तर हैं-

शैशवावस्था– जन्म से लेकर तीन वर्ष शैशव-काल है। इसकाल में शिशु को पौष्टिक भोजन मिलना चाहिए और उसका पालण-पोषण उचित ढ़ंग से होना चाहिए। चूँकि प्लेटो के आदर्श राज्य में बच्चे राज्य की सम्पत्ति है अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह बच्चे की देखभाल में कोई ढ़ील नहीं होने दे।

नर्सरी शिक्षा– इसके अर्न्तगत तीन से छह वर्ष की आयु के बच्चे आते हैं। इस काल में शिक्षा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। इसमें कहानियों द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए तथा खेल-कूद और सामान्य मनोरंजन पर बल देना चाहिए।

प्रारम्भिक विद्यालय की शिक्षा– इसमें छह से तेरह वर्ष क`आयु वर्ग के विद्यार्थी रहते हैं। वास्तविक विद्यालयी शिक्षा इसी स्तर में प्रारम्भ होती है। बच्चों को राज्य द्वारा संचालित शिविरों में रखा जाना चाहिए। इस काल में लड़के-लड़कियों की अनियन्त्रित क्रियाओं को नियन्त्रित कर उनमें सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। इस काल में संगीत तथा नृत्य की शिक्षा देनी चाहिए। नृत्य एवं संगीत विद्यार्थी में सम्मान एवं स्वतंत्रता का भाव तो भरता ही है साथ ही स्वास्थ्य सौन्दर्य एवं शक्ति की भी वृद्धि करता है। इस काल में गणित एवं धर्म की शिक्षा भी प्रारम्भ कर देनी चाहिए। रिपब्लिक इसी अवधि में अक्षर-ज्ञान देने की संस्तुति करता है पर दि लॉज के अनुसार यह कार्य तेरहवें वर्ष में प्रारम्भ करना चाहिए।

माध्यमिक शिक्षा– यह काल तेरह से सोलह वर्ष की उम्र की है। अक्षर ज्ञान की शिक्षा पूरी कर काव्य-पाठ, धार्मिक सामग्री का अध्ययन एवं गणित के सिद्धान्तों की शिक्षा इस स्तर पर दी जानी चाहिए।

व्यायाम (जिमनैस्टिक) काल– यह सोलह से बीस वर्ष की आयु की अवधि है। सोलह से अठारह वर्ष की आयु में युवक-युवती व्यायाम, जिमनैस्टिक, खेल-कूद द्वारा शरीर को मजबूत बनाते हैं। स्वस्थ एवं शक्तिशाली शरीर भावी सैनिक शिक्षा का आधार है। अठारह से बीस वर्ष की अवस्था में अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग, घुड़सवारी, सैन्य-संचालन, व्यूह-रचना आदि की शिक्षा एवं प्रशिक्षण दिया जाता है।

उच्च शिक्षा– इस स्तर की शिक्षा बीस से तीस वर्ष की आयु के मध्य दी जाती है। इस शिक्षा को प्राप्त करने हेतु भावी विद्यार्थियों को अपनी योग्यता की परीक्षा देनी होगी और केवल चुने हुए योग्य विद्यार्थी ही उच्च शिक्षा ग्रहण करेंगे। इस कालमें विद्यार्थियों को अंकगणित, रेखागणित, संगीत, नक्षत्र विद्या आदि विषयों का अध्ययन करना था।

उच्चतम शिक्षा– तीस वर्ष की आयु तक उच्च शिक्षा प्राप्त किए विद्यार्थियों को आगे की शिक्षा हेतु पुनः परीक्षा देनी पड़ती थी। अनुत्तीर्ण विद्यार्थी विभिन्न प्रशासनिक पदों पर कनिष्ठ अधिकारी के रूप में कार्य करेंगे। सफल विद्यार्थियों को आगे पाँच वर्षों की शिक्षा दी जाती है। इसमें 'डाइलेक्टिक' या दर्शनका गहन अध्ययन करने की व्यवस्था थी। इस शिक्षा को पूरी करने के बाद वे फिलॉस्फर या 'दार्शनिक' घोषित हो जाते थे। ये समाज में लौटकर अगले पन्द्रह वर्ष तक संरक्षक के रूप में प्रशिक्षित होंगे और व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करेंगे। राज्य का संचालन इन्हीं के द्वारा होगा।

शिक्षण-विधि

प्लेटो के गुरू, सुकरात, संवाद (डायलॉग) द्वारा शिक्षा देते थे- प्लेटो भी इसी पद्धति को पसन्द करते थे। प्लेटो ने संवाद के द्वारा मानव जीवन के हर आयाम पर प्रकाश डाला है। एपालोजी एक अत्यधिक चर्चित संवाद है जिसमें सुकरात अपने ऊपर लगाए गए समस्त आरोपों को निराधार सिद्ध करते है। 'क्राइटो' एक ऐसा संवाद है जिसमें वे कीड़ो के साथ आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हैं। प्लेटो अपने गुरू सुकरात के संवाद को स्वीकार कर उसका विस्तार करता है। उसने संवाद को 'अपने साथ निरन्तर चलने वाला संवाद'कहा

(मुनरो, 1947– 64)। सुकरात ने इसकी क्षमता सभी लोगों में पाई पर प्लेटो के अनुसार सर्वोच्च सत्य या ज्ञान प्राप्त करने की यह शक्ति सीमित लोगों में ही पायी जाती है। शाश्वत सत्य का ज्ञान छठी इन्द्रिय यानि विचारों का इन्द्रिय का कार्य होता है। इस प्रकार सुकरात अपने समय की प्रजातांत्रिक धारा के अनुकूल विचार रखता था जबकि इस दृष्टि से प्लेटो का विचार प्रतिगामी कहा जा सकता है।

सार्वजनिक शिक्षा

'दि रिपब्लिक' में शिक्षा के वर्गीय चरित्र को प्लेटो ने अपने अंतिम कार्य 'दि लॉज' में प्रजातांत्रिक बनाने का प्रयास किया। वे 'दि लॉज' में लिखते हैं ''बच्चे विद्यालय आयेंगे चाहे उनके माता-पिता इसे चाहे या नहीं चाहे। अगर माता-पिता शिक्षा नहीं देना चाहेंगे तो राज्य अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगी और बच्चे माता-पिता के बजाय राज्य के होंगे। मेरा नियम लड़के एवं लड़कियों दोनों पर लागू होगा। लड़कियों का बौद्धिक एवं शारीरिक प्रशिक्षण उसी तरह से होगा जैसा लड़कों का।'' लड़कियों की शिक्षा पर प्लेटो ने जोर देते हुए कहा कि वे नृत्य के साथ शस्त्र-संचालन भी सीखें ताकि युद्ध काल में जब पुरूष सीमा पर लड़ रहे हों तो वे नगर की रक्षाकर सकें। इस प्रकार मानव जाति के इतिहास में प्लेटो पहला व्यक्ति था जिसने लड़के एवं लड़कियों को समान शिक्षा देने की वकालत की। इस दृष्टिसे वह अपने समय से काफी आगे था।

प्लेटो के शिक्षा दर्शन की सीमायें

प्लेटो के आदर्श राज्य में शासक बनने वाले दार्शनिकों की शिक्षा केवल एकांगी ही नहीं है अपितु उसकी उच्च शिक्षा की योजना समुदाय के इसी वर्ग तक सीमित भी है। रक्षकगण केवल संगीत तथा व्यायाम की सामान्य शिक्षा ही प्राप्त करते हैं, और शिल्पकारों को, जिन्हें राज्य-शासन में भाग लेने की अनुमति नहीं दी गई थी, या तो अपरिपक्व व्यावसायिक प्रशिक्षण अथवा 'कोई शिक्षा नहीं' से संतुष्ट होना पड़ता है। शासक वर्ग तक ही शिक्षा के लाभों को सीमित रखना आधुनिक प्रजातान्त्रीय शिक्षा के विरूद्ध है।

शिक्षा एवं राज्य की सरकार में शिल्पकारों को भाग लेने से वंचित रखने के कारण प्लेटो के राज्य को 'आदर्श' की संज्ञा नहीं देनी चाहिए।

प्राचीन यूनान में दास प्रथा काफी प्रचलित थी और बड़ी संख्या में दास थे पर प्लेटो उनको सिविल सोसाइटी (नागरिक समाज) का हिस्सा नहीं मानते थे, न ही उन्हें नागरिक का अधिकार देना चाहते थे। अत: उनकी शिक्षाके संदर्भ में प्लेटो कुछ नहीं कहते। वस्तुत: वे उन्हें शिक्षा का अधिकारी नहीं मानते थे और उनके लिए यह व्यवस्था की कि उन्हें पारिवारिक पेशे को हीअपनाकर घरेलू कार्यों में लगे रहना चाहिए।प्लेटो ने व्यावसायिक शिक्षा को महत्वहीन माना। उनका कहना था कि शिक्षा तो केवल चिन्तन प्रधान-विषय की ही हो सकती है। वे शारीरिकश्रम को निम्न स्तरीय कार्य मानते थे। दि लॉज में तो उन्होंने यहाँ तक प्रावधान कर डाला कि अगर नागरिक अध्ययन की जगह किसी कला या शिल्प को अपनाता है तो वह दण्ड का भागी होगा।

प्लेटो के साम्यवाद का सिद्धान्त

प्लेटो ने अपने आदर्श में न्याय की प्राप्ति के लिए जो दो तरीके अपनाए हैं, उनमें से साम्यवाद का निषेधात्मक व भौतिक तरीका भी शामिल है। प्लेटो का मानना है कि आदर्श राज्य की स्थापना में तीन बाधाएँ - अज्ञान, निजी सम्पत्ति व निजी परिवार है।।इन बाधाओं को दूर करने के लिए प्लेटो शिक्षा का सिद्धान्त व साम्यवादी व्यवस्था का प्रावधान करता है। अज्ञान को तो शिक्षा द्वारा दूर किया जा सकता है, लेकिन निजी सम्पत्ति परिवार की संस्था का लोप करने के लिए वह जिस व्यवस्था का समर्थन करता है, वह साम्यवाद के नाम से जानी जाती है। प्लेटो का साम्यवाद राजनीतिक सत्ता तथा आर्थिक लोलुपता के सम्मिश्रणसे उत्पन्न बुराई को दूर करता है। प्लेटो साम्यवाद के द्वारा अभिभावक या संरक्षक वर्ग को सम्पत्ति तथा पारिवारिक जीवनकी चिन्ताओं से मुक्त रखना चाहता है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के पीछे प्लेटो का उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से नि:स्वार्थी शासकों को तैयार करने के बाद भी सांसारिक आकर्षणों और चारित्रिक दुर्बलताओं के शिकार होकर अपने कर्त्तव्य-पथ से भटकने को रोकना है। प्लेटो साम्यवाद को समाज का आध्यात्मिक उत्थान करने का नकारात्मक मार्ग कहता है। वह इसे व्यक्तिके उत्थान का भौतिक साधन मानता है। प्लेटो का मानना है कि कांचन और कामिनी का मोह संरक्षक वर्ग को धनलोलुप, स्वार्थी और आस्क्त बना देता है। अत: संरक्षक वर्ग को अपने कर्त्तव्य पथ से विचलित होने से रोकना अति आवश्यक है। इसके लिएवह सम्पत्ति और पत्नियों का साम्यवाद का सिद्धान्त पेश करता है। इसके बारे में बार्कर ने कहा

है- "साम्यवाद आत्मिक सुधार का केवल एक भौतिक व आर्थिक अनुपूरक साधन है, जिसे सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक महत्त्व देते हुए प्लेटो लागू करना चाहता है।"

साम्यवाद का अर्थ

प्लेटो का मानना है कि सैनिक और शासकों के लिए आदर्श राज्य में न तो अपना परिवार या घर होना चाहिए न ही निजीसम्पत्ति। अपने इस उद्देश्य या विचार को सकारात्मक रूप देने के लिए प्लेटो ने जिस विस्तृत योजना का निर्माण किया है,उसे ही प्लेटो का साम्यवाद या प्लेटो का साम्यवादी सिद्धान्त कहा जाता है। प्लेटो का कहना है कि संरक्षक या अभिभावकवर्ग के सदस्य विवाह करने और निजी परिवार बसाने के अधिकार से वंचित रहेंगे। पतियों, पत्नियों तथा बच्चों पर एक व्यक्तिया परिवार का अधिकार न होकर, सम्पूर्ण समाज या राज्य का अधिकार रहेगा। सभी को उसमें साँझा अधिकार प्राप्त होगा।अच्छी संतान या योग्य सन्तान पैदा करने के लिए योग्य पुरुष व स्त्री का संयोग कराया जाएगा, संरक्षक वर्ग के सदस्य निजीसम्पत्ति से भी वंचित रखे गए हैं। प्लेटो के अनुसार समस्त सम्पत्ति (चल व अचल) राज्य के नियन्त्रण में ही रहेगी। प्लेटो कीयोजना के अनुसार सभी सैनिकों व शासकों को (अभिभावक या संरक्षक वर्ग) बैरकों में रखना होगा और उन्हें साथ-साथ भोजनकरना होगा। उत्पादक वर्ग अपनी पैदावार का कुछ हिस्सा उन्हें दे देगा ताकि उनकी अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।सामूहिकता की जीवन-व्यवस्था को प्लेटो ने पत्नियों व सम्पत्ति को साम्यवाद का नाम दिया है।

प्रेरणा स्त्रोत

प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा कोई नवीन तथा मौलिक विचारधारा नहीं है। प्लेटो से पहले भी यूनान में साम्यवाद के बीजविद्यमान थे। एथेन्स में 5 वीं शताब्दी ई॰ पूर्व में ही साम्यवाद के दर्शन होते हैं। एथेन्स में राज्य का व्यक्तिगत सम्पत्ति परनियन्त्रण था। स्पार्टा में स्त्रियों को राज्य हित की दृष्टि से शासन संचालन का भार सौंप दिया जाता था, बालकों को 7 वर्षकी आयु के बाद राज्य को सौंप दिया जाता था। स्पार्टा में सार्वजनिक जलपान गृह तथा भोजनालयों की व्यवस्था थी। स्पार्टाके नागरिक अपनी उपज का एक भाग सामूहिक भोजनालयों में भेजते थे। क्रीट नामक नगर में सामूहिक खेती की जाती थी।एथेन्स के नगर

में भी राज्य की अपनी जंगलात व खानें थीं। एथेन्स में पाइथोगोरस का मत था- "मित्रों की सम्पत्ति पर समानरूप से सबका अधिकार है।" यह साम्यवादी विचार थां यूरीपाइडीज नामक विचारक ने भी प्लेटो से पहले ही स्त्रियों केसाम्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दिया था, हिरोडोटस ने अर्गाथीसियन्ज की चर्चा में नारियों की साम्यवादी प्रथा कावर्णन किया है।

प्लेटो के साम्यवादी विचारों पर तत्कालीन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा है। प्लेटो के काल में सम्पत्तिशालियों के हितमें शासन का संचालन होता था, शोषण प्रथा प्रचलित थी एवं आर्थिक तत्त्व राजनीतिक वातावरण पर प्रभावी थे। प्लेटो केयुग में महिलाओं की दशा काफी दयनीय थी। सामाजिक क्षेत्र में उनकी भूमिका नगण्य थी। उन्हें चारदीवारी तक ही सीमितकर दिया गया था। उनका कर्तृतव्य पति की कामवासना की तृप्ति, संतानोत्पत्ति व उनके पालन-पोषण तक ही सीमित था।प्लेटो नारियों की दुर्दशा से चिन्तित था। इसलिए उसने नारी उत्थान के लिए पत्नियों के साम्यवाद का सिद्धान्त पेश किया।

प्लेटो के साम्यवाद की विशेषताएँ

प्लेटो की सम्पत्ति व पत्नियों से सम्बन्धित साम्यवाद की विशेषताएँ हैं –

अर्ध-साम्यवाद–प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था समाज के केवल एक वर्ग (शासक वर्ग) पर लागूहोती है, उत्पादक वर्ग पर नहीं। इसमें संरक्षक वर्ग सम्पत्ति और कुटुम्ब से अछूता रहेगा, उत्पादक वर्ग को अपनी सम्पत्तिव परिवार रहेंगे। इसलिए इसे अर्ध-साम्यवाद की संज्ञा दी जाती है।

न्याय की पूरक व्यवस्था–प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य आदर्श राज्य की स्थापना करना है। प्लेटो ने न्याय सिद्धान्त की व्यावहारिकता के लिए दो साधनों - शिक्षा एवं साम्यवाद को अपनाया है। शिक्षा योजना न्याय की प्राप्ति का आध्यात्मिक व सकारात्मक साधन है, वहीं साम्यवादी योजना न्याय की प्राप्ति का भौतिक व नकारात्मक तरीका है।

अभिजातवादी–प्लेटो केवल उच्च वर्ग को ही साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत रखता है। यह व्यवस्था केवल शासक वर्ग के लिए है, साम्यवाद का प्रयोजन केवल थोड़े शासकों के जीवन को नियन्त्रित करना है ताकि वे सामाजिक हित के कार्य निर्बाध रूप से पूरे कर सकें। अत: प्लेटो का साम्यवाद 'बौद्धिक अल्पतन्त्र' के शासन की स्थापना करता है।

राजनीतिक–प्लेटो का साम्यवाद आर्थिक न होकर राजनीतिक है। प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य आर्थिकअसमानता को दूर करना नहीं था अपितु तत्कालीन राजनीतिक दोषों को दूर करना था। प्लेटो चाहता था कि शासनकी बागडोर दार्शनिक शासक के हाथों में हो।

तपस्यात्मक–प्लेटो ने शासक तथा सैनिक वर्ग को सम्पत्ति तथा परिवार का मोह त्यागकर संन्यासी बननेको कहा है। वह व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा समाज के सुख को महत्त्व देता है। प्लेटो के शासक वर्ग का जीवन त्यागका है, भौतिक सुखों का नहीं। प्लेटो का साम्यवाद साधुवादी है जिसमें शासक वर्ग समस्त आर्थिक सुख-सुविधाओं का त्याग करता है।

आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन नहीं–प्लेटो का साम्यवाद उत्पादक वर्ग को इसव्यवस्था से बाहर रखता है। उत्पादक वर्ग अपनी सम्पत्ति का स्वामी बना रहता है। प्लेटो अपने साम्यवाद में आर्थिकढाँचे को यथावत् बनाए रखना चाहता है।

राज्य की एकता की रक्षक व्यवस्था–प्लेटो राज्य में एकता स्थापित करनेके लिए संरक्षक वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था की योजना प्रस्तुत करता है। प्लेटो की साम्यवादी योजना अभिभावक वर्ग को कंचन और कामिनी के मोह से दूर रखकर सार्वजनिक हित में शासन करने के लिए प्रेरित करेगी। स्त्रियों को भी राज्य की सेवा का सक्रिय अवसर मिलेगा, इससे राज्य की एकता में वृद्धि होगी।

साम्यवाद के प्रकार

प्लेटो का साम्यवाद दो तरह का है –
सम्पत्ति का साम्यवाद
पत्नियों का साम्यवाद

सम्पति का साम्यवाद

प्लेटो ने सम्पत्ति के साम्यवाद के अन्तर्गत यह व्यवस्था की है कि अभिभावक वर्ग के लिए अर्थात शासक एवं सैनिक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति निषिद्ध होगी उनकी कोई निजी भूमिया निजी सम्पत्ति नहीं होगी। उनका निजी घर भी नहीं होगा अपितु वे राज्य द्वारा निर्मित बैरकों में रहेंगे, उनका आवाससभी के लिए खुला रहेगा जिसमें कोई भी कभी आ सके। राज्य के उत्पादकों द्वारा उनको इतनी जीवन वृत्ति दी जाएगीकि वह उनके लिए कम

न पड़े और न ही निजी संग्रह के लिए बचे। वे सामूहिक रूप से मेजों पर भोजन करेंगे। उन्हेंसोने-चाँदी के सामान का स्पर्श करना निषिद्ध होगा। चल-अचल सम्पति से विरक्त होकर वे देश की सेवा और रक्षाकरेंगे। इसी में उनकी मुक्ति है और ऐसा करने से वे राज्य के रक्षक बन सकेंगे। किन्तु जब वे कभी भी भूमि, घर और धन का उपार्जन करेंगे तब वे अन्य नगरवासियों से घृणा करने लग जाएंगे। वे प्रपंच करेंगे द्वेष करेंगे तथा राज्य के रक्षकबनने की बजाय उसके शत्रु और निरंकुश व्यक्ति बन जाएंगे। लोग उनसे घृणा करेंगे और वे लोगों से। वे अपने सार्वजनिकहित के धर्म से पदच्युत हो जाएंगे। इस प्रकार वे राष्ट्र के सर्वनाश का ही मार्ग प्रशस्त करेंगे। प्लेटो के सम्पत्ति विषयकसाम्यवाद की कुछ विशेषताएँ हैं–

यह साम्यवाद सभी नागरिकों के लिए नहीं, बल्कि केवल शासक और सैनिक वर्ग के लिए है। उसका उद्देश्य यद्यपि सम्पूर्णसमाज का कल्याण है, किन्तु सम्पूर्ण समाज द्वारा व्यवहार में नहीं लिया जाता है।

प्लेटो का सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद भोग का नहीं बल्कि त्याग का मार्ग है। यह समाज के शासक वर्ग की कंचन और कामिनी का मोह छोड़कर जन-कल्याण में लगे रहने के लिए प्रेरित करता है। फोस्टर के शब्दों में- "प्लेटो के संरक्षकवर्ग को सामूहिक रूप से सम्पत्ति का स्वामित्व ग्रहण करना नहीं, वरन् इसका त्याग करना है।"

इसका उद्देश्य राजनीतिक है, आर्थिक नहीं। वर्तमान साम्यवाद की तरह यह आर्थिक विषमता को दूर न करके राजनीतिकदोषों को ही दूर करता है।

सम्पत्ति के साम्यवाद के पक्ष में तर्क

प्लेटो ने निम्न आधारों पर सम्पत्ति को साम्यवाद का समर्थन किया है –

मनोवैज्ञानिक आधार–प्लेटो के अनुसार शासक और सैनिक आत्मा के विवेक और साहस तत्त्व का क्रमशः प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तत्त्वों से प्रेरित होकर वे अपने निश्चित प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तत्त्वों से प्रेरितहोकर वे अपने निश्चित उत्तरदायित्वों को निभाना चाहते हैं, तो उन्हें क्षुधारूपी निकृष्ट तत्त्व के जाल में नहीं फँसना चाहिए। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था मनुष्य की उदार प्रवृत्ति पर विपरीत प्रभाव डालती है और व्यक्ति को स्वार्थी बनाती है। यदिदार्शनिक शासक व सैनिक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकार की जाएगी तो उनमे भी स्वार्थ की वृद्धि होगी औरे क्रमशः उनका विवेक और साहस

कुण्ठित हो जाएगा। सेबाइन के अनुसार- "शासकों को लालच से मुक्ति दिलानेका एक ही उपाय है कि उन्हें किसी चीज को अपना या निजी कहने के अधिकार से वंचित कर दिया जाए और यह उपाय प्लेटो की सम्पत्ति की व्यवस्था में ही सम्भव है।" अत: प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद आदर्श राज्य के लिएमनोवैज्ञानिक आवश्यक शर्त है।

राजनीतिक और व्यावहारिक आधार–प्लेटो का सम्पत्ति का सिद्धान्त दो आधारों पर राजनीतिक है। एक तो यह सिर्फ शासक व सैनिक वर्ग पर लागू होता है, उत्पादक वर्ग पर नहीं। शासक वर्ग तक सीमित होने के कारण यह राजनीतिक है। दूसरा यह है कि शासन के ऊपर धन का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इस बुराई को दूर करने के लिए प्लेटो अभिभावक वर्ग को सम्पत्ति के अधिकार से मुक्त करता है। प्लेटो के अनुसार जब राजसत्ता तथानिजी सम्पत्ति का संयोग हो जाता है तो राज्य का पतन हो जाता है। शासक वर्ग धन की लालसा के लिए सत्ता का दुरुपयोग करता है। अत: प्लेटो राजनीतिक अर्थ शक्ति के केन्द्रीयकरण को समाप्त करके शासक वर्ग को केवल राजनीतिक शक्ति देने के पक्ष में है। प्लेटो की यही व्यावहारिक मान्यता भी है और राजनीतिक अनिवार्यता। यदि शासकोंको व्यक्तिगत सम्पत्ति की छूट दी जाए तो शासक वर्ग भ्रष्ट होकर आदर्श राज्य को धनिकतन्त्र में बदलदेगा। इस सम्बन्ध में सेबाइन ने लिखा है- "जहाँ तक सैनिकों व शासकों का सम्बन्ध है, प्लेटो को शासन के ऊपर धनके बुरे प्रभावों के बारे में इतना दृढ़ विश्वास था कि इस दोष को मिटाने के लिए उसे स्वयं सम्पत्ति के नाश के अतिरिक्तकोई रास्ता दिखाई नहीं दिया।"

नैतिक आधार–प्लेटो इस बात में विश्वास नहीं करता कि व्यक्ति का अस्तित्त्व मात्र स्वार्थसिद्धि के लिए है, उसके अनुसार कर्त्तव्यों का पूर्ण निष्ठा के साथ सम्पादन कर, अपने योग्य कार्य-क्षेत्र की सीमा में रहकर एवं समष्टिके एक अभिन्न अंग के रूप में अपने अस्तित्त्व को स्वीकार करके ही व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। प्लेटो का सिद्धान्त व्यक्ति को विवेकी व निस्वार्थी बनाकर कर्त्तव्यों का सम्पादन करने पर जोर देता है।

दार्शनिक आधार– प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवादी सिद्धान्त दार्शनिक आधार पर भी उचितहै। प्लेटो ने इसे कार्य विशिष्टीकरण के आधार पर सही ठहराया है। प्लेटो का कहना है कि जिन लोगों के ऊपर शासनका भार है, उनकी जीवन-शैली विशिष्ट होनी चाहिए। यह शैली कार्य विशेष के आधार पर ही होनी चाहिए। शासकवर्ग को उच्चादर्शों को प्राप्त करने के लिए सांसारिक प्रलोभनों से

मुक्त होना चाहिए। प्लेटो का कहना है कि जिन व्यक्तियोंपर शासन का भार है, उन्हें अपने कार्य में बाँधा या विन उत्पन्न करने वाले सभी सांसारिक तत्त्व से उसी प्रकार बचनाचाहिए जिस प्रकार ईश्वर की भक्ति में लगे एक साधक या संन्यासी को घर, पानी, बच्चे, सम्पत्ति या सांसारिक मोह-मायासे दूर रहना चाहिए।

सम्पत्ति के साम्यवाद के उद्देश्य

प्लेटो की सम्पत्ति की योजना के प्रमुख उद्देश्य है –

सार्वजनिक हित के लिए–प्लेटो का दार्शनिक राजा सार्वजनिक हित में शासन करता है। वह सैनिक वर्ग व उत्पादक वर्ग पर सार्वजनिक हित के ही सन्दर्भ में कठोर नियन्त्रण रखता है।

अभिभावक वर्ग के लिए कार्यकुशलता–सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना सैनिकवर्ग तथा शासक वर्ग को आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त करती है और वह अपना समस्त समय व ध्यान अपनी कार्यकुशलताकी वृद्धि में लगा सकते हैं।

राज्य की एकता के लिए–जब शासक वर्ग के पास निजी सम्पत्ति होती है तो शासक वर्गमें सम्पत्ति को लेकर आपसी प्रतियोगिता व ईर्ष्या भी होती है और इससे राज्य को एकता को भय उत्पन्न हो जाता है।किन्तु सम्पत्ति को साम्यवादी योजना शासक वर्ग में इस प्रकार का भय उत्पन्न नहीं होने देती और यह राज्य की एकताकी रक्षक सिद्ध होती है।

सामाजिक भ्रातृभाव के लिए–प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद संरक्षक वर्ग को साधुवादी प्रवृत्तिअपनाने की सलाह देता है। सम्पत्ति पर किसी एक का अधिकार न होकर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होगा। इससे किसीके पास कम या अधिक सम्पत्ति संचय करने की भावना पैदा नहीं होगी। सम्पत्ति का साम्यवाद लोगों में भ्रातृभाव की भावनाको जन्म देगा।

सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचनाएँ

प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद की सेबाइन, बार्कर, पोपर व अरस्तू द्वारा अनेक आलोचनाएँ की गई हैं –(क) अरस्तू द्वारा की गई आलोचनाएँ यह धारणा मानवीय प्रकृति की मूलभूत प्रवृत्तियों की अवहेलना करती है। प्रत्येक मानव में निजी सम्पत्ति प्राप्त करनाउसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है और अगर उसे

इस अधिकार से वंचित रखने की कोशिश की जाती है तो यह उसकी प्रकृतिके प्रतिकूल बात होगी।

अरस्तू साम्यवाद को जीवन के सामान्य अनुभव के विरुद्ध मानता है।

अरस्तू का यह भी कहना है कि सम्पत्ति की साँझी व्यवस्था कभी भी सामाजिक कल्याण में वृद्धि नहीं कर सकती।

अरस्तू का यह भी कहना है कि वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा का विकास हमारी सभ्यता के विकास का प्रतीक है। वैयक्तिक सम्पत्ति का अभाव प्रगति के मार्ग को रोकता है।

इससे परोपकार और उदारता की श्रेष्ठ मानवीय सम्भावनाएँ नष्ट हो जाएँगी क्योंकि व्यक्ति परोपकार सम्बन्धी कार्य निजी सम्पत्ति के आधार पर ही करता है। अरस्तू ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि यह अधिक अच्छा होगा कि सम्पत्ति निजी हो परन्तु उसका प्रयोग सामूहिक हो।इससे राज्य तथा व्यक्ति दोनों का भला हो सकता है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए उत्साह और लगन के कारण ही मनुष्य दूसरों के साथ प्रतियोगिता करता है तथा अपने सर्वोत्तम गुणों का विकास करता है, परन्तु निजी सम्पत्ति के न होने पर ऐसा नहीं होगा।

प्लेटो की यह योजना बहुमत को शामिल नहीं करती है और इसलिए यह असफल होकर रहेगी तथा इससे राज्य में विभाजन होगा तथा फूट, ईर्ष्या व कलह की सम्भावना प्रबल होगी।

अरस्तू का मानना है कि बिना सम्पत्ति के अभिभावक वर्ग सुखी नहीं रहेगा और जिस राज्य में शासक वर्ग ही सुखी नहींरहेगा उसमें भला प्रजा कैसे सुखी रह सकती है। अत: प्लेटो का साम्यवादी राज्य एक दु:खपूर्ण राज्य होगा।

राज्य में एकता को उचित शिक्षा द्वारा ही बढ़ाया जाना चाहिए, साम्यवाद से नहीं। प्लेटो स्वयं आत्मिक उपाय को भौतिक उपाय से अधिक महत्त्व देते हैं। अत: साम्यवाद एक गौण उपाय है।

प्लेटो आवश्यकता से अधिक एकता लाने की प्रवृत्ति पर कायम है। वह राज्य की वेदी पर व्यक्तियों की इच्छाओं काबलिदान कर देता है।

अन्य विद्वानों द्वारा की गई आलोचनाएँ

सद्‌गुणों के विकास में बाधक–निजी सम्पत्ति की व्यवस्था अनेकसद्‌गुणों के विकास में सहायक होती है, जैसे दान, दया, परोपकार, अतिशय आदि के

सद्गुण। किन्तु प्लेटो ने निजीसम्पत्ति के अवगुणों की ओर ध्यान न देकर संरक्षक वर्ग को इससे वंचित कर दिया है, जो अनुचित है।

मानव स्वभाव के प्रतिकूल–प्लेटो ने निजी सम्पत्ति का अन्त करके मानव स्वभाव केविपरीत कार्य किया है। सम्पत्ति अर्जित करना मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इससे व्यक्ति के अनेक उदार गुण विकसितहोते हैं। अत: प्लेटो ने मानव स्वभाव के विपरीत कार्य किया है।

न्यायपूर्ण वितरण की समस्या–निजी सम्पत्ति के अभाव में यह बताना कठिन होगा कि किस व्यक्ति का समाज में कितना योगदान है। इससे न्यायपूर्ण वितरण की अनेक समस्याएँ खड़ी होंगी जो समाजकी एकता को नष्ट कर देंगी।

व्यक्ति की प्रेरणा शक्ति का ह्रास–निजी सम्पत्ति के समर्थकों का मानना है कि सम्पत्तिका आकर्षण व्यक्ति को अधिक से अधिक कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इसी प्रेरणा से व्यक्ति अनेक नए-नए आविष्कार करता है, परिश्रम करता है। इसके अभाव में प्रेरणादायक शक्ति का ह्रास हो जाएगा।

अमनोवैज्ञानिक–निजी सम्पत्ति की संख्या मानव स्वभाव के अनुकूल है। व्यक्ति सम्पत्ति अर्जन करनेके लिए ही सारे क्रियाकलाप करता है। प्लेटो अभिभावक वर्ग को इससे वंचित करके मानव प्रकृति के विरुद्ध चला जाताहै। अत: प्लेटो का सम्पत्ति का सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक है।

अर्ध-साम्यवाद–प्लेटो सम्पूर्ण सामाजिक इकाई की बजाय एक वर्ग विशेष को ही इस व्यवस्था में शामिल करता है। प्लेटो का साम्यवाद केवल शासक और सैनिक (संरक्षक) वर्ग के लिए ही है। अगर व्यक्तिगत सम्पत्ति मतभेद, अनेकता, लोभ व मोह को जन्म देती है तो उत्पादक वर्ग को इसका अधिकार देना विवेकपूर्ण नहीं है।

मानव स्वतन्त्रता की बलि चढ़ाघना–प्लेटो ने साम्यवाद के नाम पर मानव-स्वतन्त्रता का दमन किया है। प्लेटो की साम्यवाद व्यवस्था में केवल वही कार्य करने का अधिकार होगा जो राज्य चाहेगा। प्लेटो ने व्यक्ति को एक साधन मात्र मानकर व्यक्ति के अधिकार व स्वतन्त्रताओं पर कुठाराघात किया है।

सम्पत्ति से वंचित शासकों की कठिनाइयाँ–प्लेटो के संरक्षक वर्ग के सदस्य व्यक्तिगत सम्पत्ति से सम्बन्धित समस्याओं और प्रेरणाओं के ज्ञान से भी वंचित रहेंगे जिसके कारण उन्हें साधारण लोगों की सम्पत्ति से जुड़ी समस्याओं का निपटारा करने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। शासक उत्पादक

वर्ग की व्यक्तिगत सम्पत्ति को तभी नियन्त्रित कर सकता है, जबकि वह स्वयं निजी सम्पत्ति के गुण-दोषों के बारे में ज्ञान रखता हो।

आध्यात्मिक रोगों के लिए भौतिक उपचार अनुचित—प्लेटो ने आध्यात्मिक रोगों को रोकने के लिए कोई आध्यात्मिकऔषधि न ढूँढकर भौतिक साधनों का सहारा लिया है। संसार की भौतिक वस्तुएँ आध्यात्मिक वस्तुओं के साथ लगी हुईहैं, जिनके निराकरण से यदि बुराई दूर होती है तो उनके द्वारा जो हित होता है, वह भी दूर हो जाएगा। भौतिकता आध्यात्मिकता का आधार है और उसके लिए साधन भी। भौतिकता को दूर करने का तात्पर्य होगा इन साधनों का अन्त।

तपस्यात्मक—सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना सार्वजनिक हित के नाम पर अभिभावक वर्ग को सम्पत्ति हीन रखती है और सम्पत्ति सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अन्त करती है तथा तपस्वी का जीवन व्यतीत करने पर बाध्य करती है।प्लेटो के साम्यवाद में व्यक्ति का जीवन त्याग का जीवन है, भौतिक सुखों का भोग नहीं। प्लेटो का साम्यवाद साधुवादीहै जिसमें राज्य के श्रेष्ठ व्यक्ति आर्थिक सुख-सुविधाओं का त्याग करते हैं। अत: साम्यवाद तपस्यात्मक है।

दास-प्रथा का जिक्र नहीं—प्लेटो ने अपने व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त में दास-प्रथा जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की चर्चा नहीं की है। प्लेटो ने किसी ऐसे कार्य का उल्लेख नहीं किया है, जो दासों द्वारा किया जाए। प्लेटो का दास-प्रथा को महत्त्वहीन समझना उसे स्वयं को ही महत्त्वहीन बना देता है।

सम्पत्ति पर एक पक्षीय विचार—प्लेटो सम्पत्ति के अवगुणों के आधार पर ही अपने सम्पत्ति के साम्यवादी सिद्धान्त को खड़ा करता है। उसने सम्पत्ति के गुणों की अनदेखी करने की भारी भूल की है।अनेक आलोचनाओं के बावजूद यह मानना ही पड़ेगा कि प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवादी सिद्धान्त व्यावहारिक, तर्कपूर्ण एवंउपयोगी है। यह उनके न्याय सिद्धान्त का तर्कसंगत निष्कर्ष है। सम्पत्ति का लालच समाज में भ्रष्टाचार व अराजकता को जन्मदेता है। आज के सामाजिक वैमनस्य के लिए सम्पत्ति की चाह ही जिम्मेदार हैं प्लेटो ने तत्कालीन एथेन्स की सामाजिक बुराइयोंको बहुत करीब से देखा था और उन दोषों को दूर करने के लिए उसने अपना यह सिद्धान्त खड़ा किया। यद्यपि उसकी कुछ आलोचनाएँ तर्कपूर्ण हैं, लेकिन आज भी यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि प्लेटो का साम्यवादी सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण देनहै।

पत्नियों का साम्यवाद

प्लेटो अपनी पुस्तक रिपब्लिक में संरक्षक वर्ग के लिए केवल निजी सम्पत्ति को ही निषिद्ध नहीं करता अपितु परिवर की संस्था को समाप्त कर अपनी पत्नियों की साम्यवादी योजना भी प्रस्तुत करता है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त पर आधारित एक आदर्श के निर्माण के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद के साथ ही परिवार का साम्यवाद भी जरूरी है। प्लेटो परिवार व सम्पत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। वस्तुतः परिवार का साम्यवाद की योजना उसके सम्पत्ति के ही साम्यवाद का तार्किक विस्तार है। प्लेटो का मानना है कि यदि पारिवारिक संस्था का अन्त किए बिना ही व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन का प्रयास निरर्थक होगा। विवाहऔर परिवार भी निजी सम्पत्ति के ही रूप हैं और इससे लालच और ईर्ष्या को बढ़ावा मिलता है। अतः उद्देश्य की दृष्टि से साम्यवाद के ये दोनों प्रकार एक-दूसरे के सहायक व पूरक हैं। प्लेटो के परिवार या पत्नियों के साम्यवाद के महत्त्व पर बार्करलिखता है- "परिवार की समाप्ति का दिन राज्य के लिए एकता व व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता तथा इन दोनों के लिए न्याय की शुरुआत का दिन होगा।"

पत्नियों के साम्यवाद के पक्ष में तर्क

राजनीतिक आधार—प्लेटो चाहता था कि स्त्रियाँ घर की चारदीवारी की कैद से मुक्त होकर राज्यके शासन सम्बन्धी कार्यों में भाग ले। नारियों के योगदान के बिना राज्य अपने आधे भावी संरक्षकों से वंचित रह जाता है। वह स्त्री-पुरुष में कोई भेद स्वीकार नहीं करता। उसका मानना है कि ऐसा कोई भी प्रशासनिक कार्य नहीं है, जो स्त्री न कर सके। वह केवल लिंग-भेद को ही स्वीकार करता है, परन्तु इसे शासन क्रियाओं में बाधक नहीं मानता है।प्लेटो का मानना है कि स्त्रियाँ राजनीतिक, प्रशासनिक और सैनिक कार्यों में भाग ले सकती हैं और अपना कर्त्तव्य उचित प्रकार से निभा सकती हैं। इस लिए प्लेटो परिवार की कैद से उन्हें मुक्ति दिलाना चाहता है।

नैतिक आधार— प्लेटो का मानना है कि परिवार व सम्पत्ति का मोह शासक वर्ग को भ्रष्ट बना देता है। पारिवारिक स्नेह-बंधन का कारण होता है। संतान की चिन्ता व्यक्ति को स्वार्थी बनाकर पथभ्रष्ट करती है। परिवारों के मोह के कारण शासक अनुचित नीतियों का पालन करते हैं। इससे शासक वर्ग के

विभिन्न परिवारों में भी संघर्ष उत्पन्न होता है। यह राज्य की एकता के लिए भय को पैदा करता है। परिवार राज्य की एकता में महान् बाधक होता है। शासकव सैनिक वर्ग परिवार के प्रति अनुरक्त होकर राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना कर सकते हैं। अत: प्लेटो नैतिकआधार पर इस साम्यवाद का समर्थन करता है।

सुप्रजनन का आधार– प्लेटो तत्कालीन वैवाहिक प्रथा और पारिवारिक व्यवस्था पर कुठाराघात करता है। उस समय मनुष्य लापरवाही से संभोग करके पशु-पक्षियों की तरह अवैध सन्तानों को जन्म देते थे जो राज्य के हितमें किसी भी दृष्टि से उपयोगी नहीं होती थी। राज्य में कुरूप व अयोग्य सन्तानों का अम्बार लगा हुआ था। प्लेटो ने इस समस्या से निजात दिलाने के लिए महसूस किया कि आदर्श राज्य के लिए श्रेष्ठ नागरिक जरूरी हैं। इसके लिए योग्य पुरुष व स्त्रियों का ही सहवास होना आवश्यक है ताकि श्रेष्ठ सन्तान ही जन्म ले। प्लेटो संरक्षक या अभिभावक वर्ग को ही इसके योग्य समझकर इस वर्ग के स्त्री पुरुषों में अस्थायी विवाह सम्बन्ध द्वारा सन्तानोत्पत्ति आवश्यक मानता है। परन्तु वह इसमें यह सावधानी रखता है कि स्त्रियों व पुरुषों के जोड़े उनकी आयु व गुण को ध्यान में रखकर ही बनाए जाएंताकि श्रेष्ठ सन्तान का जन्म हो।

पत्नियों के साम्यवाद का स्वरूप और उसकी व्याख्या

राज्य-परिवार का स्वरूप–प्लेटो ने संरक्षक वर्ग के निजी परिवार का उन्मूलन कररा‌ज्य-परिवार का समर्थन किया है। उसके समक्ष नारी सुधार की समस्या थी और साथ ही राज्य केलिए अच्छी-से-अच्छी सन्तान उत्पन्न करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने संरक्षक के निजी परिवारका उन्मूलन किया और एक राज्य-परिवार का रूप चित्रित किया।

यौन-सम्बन्ध–प्लेटो ने उस समय की वैवाहिक प्रथा के दोषों को दूर करने के लिए, अपने आदर्श के निर्माण के लिए यौन-सम्बन्धों में पत्नियों के साम्यवाद के माध्यम से सुधार करने का प्रयास किया है। संरक्षक वर्ग भी अपनी निजी पत्नी नहीं रख सकेगा। सभी का समाजीकरण कर दिया जाएगा। वे एक साथ बैरकों में रहेंगे और एकसाथ खाना खाएँगे। प्लेटो को विश्वास है कि परिपक्व व श्रेष्ठ नर-नारी ही श्रेष्ठ संतान को जन्म दे सकते हैं। जिन स्त्री-पुरुषों ने सार्वजनिक सेवा के कार्य या युद्ध में श्रेष्ठता दिखाई है, उसे अधिक सन्तान पैदा करने की छूट प्राप्त होगी।स्त्री व बच्चे सामाजिक होंगे न कि किसी एक व्यक्ति के।

राज्य बच्चों के पालन-पोषण का पूरा ध्यान रखेगा–प्लेटो के अनसार बच्चोंके जन्म के बाद उनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य अपने ऊपर लेगा। बच्चों को शिशु-गृहों में रखा जाएगा।माताएँ बच्चों को राज्य की देख-रेख में दूध पिलाएँगी, परन्तु उन्हें अपने बच्चों का कोई भी निजी ज्ञान नहीं होगा, बच्चोंको भी अपनी माँ का कोई ज्ञान नहीं होगा।

बच्चा पैदा करने की आयु–प्लेटो के अनुसार स्त्रियों को 20 से 40 वर्ष तक तथा पुरुषों को25 से 55 वर्ष तक सन्तान पैदा करने की छूट होगी। इस समय स्त्री व पुरुष परिपक्व होते हैं। उनके इस आयु में सहवास से यौगय सन्तान ही पैदा होगी। राज्य केवल श्रेष्ठ स्त्री-पुरुष के सहवास से उत्पन्न सन्तान का ही लालन-पालन करेगा, निकृष्ट स्त्री-पुरुषों के संभोग से उत्पन्न सन्तान का पालन-पोषण राज्य नहीं करेगा। राज्य के नियमों के विरुद्ध जो सन्तान पैदा होगी, उसे या तो राज्य नहीं पालेगा या उसे किसी अज्ञात एवं अंधकारमय जगह में गाड़ दिया जाएगा या जन्म लेने से पूर्व ही गर्भपात द्वारा नष्ट कर दिया जाएगा।

सम्बन्धों का ज्ञान–प्लेटो कहता है कि संरक्षक वर्ग के अन्तर्गत आने वाले बच्चे सामुदायिक जीवन के भागीदार होंगे और इस सामुदायिक जीवन में उनके सम्बन्ध भी सामुदायिक होंगे। पुरुष उन सभी बच्चों को अपना पुत्र या पुत्री समझेगाजो उनके वर बनने के मास से लेकर 10 वें मास तक पैदा होते हैं और वे स्त्री बच्चे उस पुरुष को पिता समझेंगे। वह इन बच्चों की सन्तानों को पौत्र कहेगा और वे समुदाय के पुरुषों व स्त्रियों को दादा-दादी कहेंगे तथा वे सब बच्चे जोकि एक माता-पिताओं के समुदाय के प्रजनन काल में उत्पन्न हुए हैं एक दूसरे को भाई-बहिन मानेंगे।

पत्नियों के साम्यवाद के उद्देश्य

प्लेटो के अनुसार पत्नियों के साम्यवाद को प्रतिपादित करने के पीछे उद्देश्य हैं–

नारियों की मुक्ति–प्लेटो के समय में एथेन्स में राजनीतिक व सामाजिक कार्यों में स्त्रियों को भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं था। उन्हें केवल घर की चारदीवारी में रहकर बच्चों का लालन-पालन करना होताथा। राज्य की सेवा के लिए बच्चों को उत्पन्न करने में विवाह एक साधन और पत्नी एक उपकरण मानी जाती थी। परिवार की सीमित परिधि में बंधी होने के कारण उनका व्यक्तित्त्व कुंठित होता है। इससे समाज को भी हानि होती है, क्योंकि स्त्री समाज की

आधी सुषुप्त शक्ति होती है। प्लेटो ने यह स्वीकार किया है कि स्त्रियों की संभाव्य शक्ति को ध्यान में रखते हुए उन्हें चारदीवारी से बाहर निकालना आवश्यक है। प्लेटो ने कहा है- "परिवार एक ऐसा साधन है जहाँ मनुष्यकी प्रतिभा का हनन होता है तथा पत्नी की मानसिक शक्ति चौके-चूल्हे में ही बर्बाद हो जाती है।" प्लेटो स्त्रियों के इस हीन जीवन का अन्त करके उन्हें सक्रिय राजनीति में देखना चाहता था।

अभिभावक वर्ग की क्षमता में वृद्धि–परिवार के साम्यवाद की योजना उन्हें परिवार के कुप्रभावों से बचाती हुई अपने परिवार की दैनिक आवश्यकताओं की चिन्ता से मुक्त रखती है।ऐसी स्थिति में अभिभावक वर्ग अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करने में भी अधिक सक्षम होगा।

जनसंख्या का सन्तुलन–परिवार के साम्यवाद की योजना का एक प्रमुख उद्देश्य आदर्शनगर राज्य की जनसंख्या को आदर्श सीमा में ही बनाए रखना है। प्लेटो के अनुसार- "विवाहों की संख्या को हम शासकोंके स्वविवेक पर छोड़ देंगे। वे इस लक्ष्य को सदैव ध्यान में रखेंगे कि युद्धों, महामारियों आदि से जनसंख्या की होने वाली हानि के बाद भी नागरिकों की जनसंख्या यथासम्भव स्थिर रहे और वे ऐसे सभी सम्भव प्रयत्न करेंगे कि हमारा राज्यन तो जनसंख्या की दृष्टि से बड़ा हो पाए और न छोटा रह जाए. . .।" एण्टोनी फलु के अनुसार- "प्लेटो सामाजिक दृष्टि से जनसंख्या की विस्फोटक स्थिति के बारे में जागरूक है।"

नस्ल-सुधार–प्लेटो के इस साम्यवाद का उद्देश्य नस्ल-सुधार करना भी है। प्लेटो ने स्पष्ट कहा है कि केवल योग्य पुरुषों व स्त्रियों का ही संभोग कराया जाएगा। कुरूप बच्चों को मार दिया जाएगा या राज्य उनका पालन-पोषण नहीं करेगा। प्लेटो का नस्ल-सुधार का उद्देश्य एक स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट, बलवान, वीर तथा प्रतिभाशाली सन्तान को पैदा करके पूरा हो सकता था। अतः प्लेटो ने नस्ल-सुधार के लिए परिवार के साम्यवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

शासकों के शुद्ध विवेक की रक्षा–प्लेटो के आदर्श राज्य में निर्लिप्त, निष्काम, प्रज्ञावान, दार्शनिक शासकों का शासनहोगा, किन्तु सब जानते हैं कि ऐसे शासक पारिवारिक मोह के कारण शुद्ध कर्म व ज्ञान के मार्ग से भटक सकते हैं। प्लेटोने माना है कि कंचन और कामिनी शासक वर्ग को अपने मार्ग से विचलित कर सकते हैं। इसलिए वह शासक वर्ग केशुद्ध विवेक की रक्षा करने के लिए परिवार को साम्यवाद की व्यवस्था करता है।

राज्य में एकता–परिवार व्यक्तियों में तेरे-मेरे की भावना उत्पन्न करता है और इस भावना के कारण संरक्षक वर्ग में सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष उत्पन्न होता है। प्लेटो ने राज्य के हित में पारस्परिक संघर्ष की इस प्रवृत्तिका अन्त आवश्यक माना है। अत: प्लेटो अभिभावक वर्ग के समस्त स्त्री-पुरुषों को एक ही परिवार (राज्य परिवार) केरूप में बाँधकर राजनीतिक एकता की स्थापना करना चाहता है ताकि समाज के सभी व्यक्ति आपस में भ्रातृभाव से रहें।

पत्नियों के साम्यवाद की आलोचना

प्लेटो के साम्यवाद की निम्न आधारों पर आलोचना की गई है –

परिवार - एक ऐतिहासिक अनुभव–प्लेटो ने परिवार नामक संस्था का लोपकरके भारी गलती की है। परिवार से ही राज्य व समाज का जन्म हुआ है। परिवार राज्य की छोटी इकाई है। परिवार का अन्त करना मानव समाज के लिए अहितकर होगा क्योंकि – (क) परिवार एक ऐतिहासिक संस्था है। इसके पीछे युगों का अनुभव है। इसे समाप्त करने का अर्थ है - पुन: असभ्यता के युग में लौटना। (ख) राज्य की तरह परिवार भी मानव-स्वभाव से उत्पन्न संस्था है। राज्य के नाम पर परिवार का अन्त करना सर्वथाअनुचित है। (ग) परिवार नागरिकता की प्रथम पाठशाला है। परिवार ही बच्चे को सद्गुणी बनाता है। परिवार में सहयोग, सहानुभूति,दया, परोपकार व अनुशासन जैसे गुणों को सीखा जाता है।

पत्नी और परिवार के प्रति प्लेटो के विचार सही तथ्यों पर आधारित नहीं हैं–आलोचकों का कहना है कि स्त्री का बच्चों के प्रति स्नेह और उनके पालन-पोषणकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उसे न तो शिशु पालनगृहों को स्थानान्तरित किया जा सकता है और न ही उन गृहों में वही प्यार ही प्राप्त हो सकता है। वैसे भी मातृत्व को समाप्त करना कभी भी एक आदर्श राज्य की नीति नहीं हो सकतीबल्कि मातृत्व को राज्य में उचित स्थान को प्राप्त करने का प्रोत्साहन ही प्लेटो के न्याय का सही रूप हो सकता था।मातृत्व एक ऐसी चीज है जिसे माँ के सिवाय कोई दूसरा कृत्रिम तरीके से प्रदान नहीं कर सकता। स्त्री और पुरुष कासम्बन्ध भी पशुओं जैसा सम्बन्ध नहीं है, जो सन्तान की उत्पत्ति के लिए ही जुड़ता हो। उसमें एक पवित्रता है और यहसम्बन्ध जीवनभर के लिए होता है। अत: प्लेटो ने पारिवारिक सम्बन्धों के पीछे की वास्तविकता को नहीं समझा। इसलिएअरस्तू ने इसे एक व्यभिचारी योजना कहा है जिसे कोई भी सभ्य

मानव-जाति स्वीकार नहीं करेगी। माता के स्नेह कोप्लेटो राज्य की एकता के नाम पर कुर्बान नहीं कर देता है।

जो वस्तु सभी की होती है, वह किसी की भी नहीं होती –अरस्तू का आरोप है कि प्लेटो के साम्यवाद में अभिभावक वर्ग की सारी पत्नियों और सभी बच्चे यदि सभी के हैं तो वास्तवमें वे किसी के नहीं हैं और इसलिए कोई भी उनकी व्यवस्था व परवाह उतने प्रेम से नहीं कर सकता जितना परिवारमें उन्हें मिलता है।

अपराध अधिक होंगे–आलोचकों का कहना है कि यदि परिवार व व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहेंग`तो पिता-पुत्र, माँ-बेटे, भाई-भाई का रिश्ता समाप्त हो जाएगा और तब समाज में स्वाभाविक होने वाली समस्याओं, झगड़ों या अपराधों को पारिवारिक ढंग से नहीं सुलझाया जा सकेगा। ऐसी स्थिति में अपराध बढ़ेंगे। समाज में नैतिक मूल्यों का पतन हो जाएगा और नागरिक अधिक अपराधों की ओर प्रवृत्त होंगे।

अमनोवैज्ञानिक तथा अव्यावहारिक–प्लेटो के परिवार के साम्यवाद की योजना अपनी प्रकृति से अमनोवैज्ञानिक और अव्यावहारिक है। यही कारण है कि यह योजना प्लेटो के समय में ही अमान्य हो गई थी और न ही इसे आज तक कहीं लागू किया गया। प्लेटो ने स्वयं भी अपनी ग्रन्थ 'लॉज' में अस्थायी विवाह की जगह स्थायी विवाह व निजी परिवार की व्यवस्था को मान्यता दी है।

अनावश्यक योजना–अरस्तू का विचार है कि प्लेटो ने न्याय की स्थापना के लिए साधनके रूप में परिवार का साम्यवाद गलत अपनाया क्योंकि प्लेटो जिन दोषों - जैसे लोभ, पक्षपात आदि को दूर करने की बात करता है। उसके लिए तो शिक्षा व्यवस्था का सहारा लेना उचित होता। ये रोग नैतिक रोग के समान हैं और इनका इलाज भौतिक साधन द्वारा नहीं हो सकता।

परिवार रहित शासक की व्यावहारिक कठिनाइयाँ–पारिवारिक सम्बन्धों से अनभिज्ञ व अनजान शासकों को उत्पादक वर्ग के पारिवारिक विवादों को हल करने का अधिकार है, किन्तु वे इस दृष्टि से अयोग्य ही सिद्ध होंगे, क्योंकि उन्हें स्वयं पारिवारिक जीवन का कोई अनुभव नहीं होता है।

अपवित्र यौन-सम्बन्ध की सम्भावना–प्लेटो को परिवार के साम्यवाद में ऐसी यौन सम्भावना भी है जिससे रक्त का सम्बन्ध भी हो। इस व्यवस्था में पिता-पुत्री को और भाई-बहिन को नहीं पहचानता। अतः इससे अपवित्र

यौन-सम्बन्ध की अधिक सम्भावना है, जो सामाजिक मापदण्डों के विरुद्ध है। नैतिकता इसका कभी समर्थन नहीं कर सकती।

दासों के लिए स्थान नहीं—प्लेटो ने दास-वर्ग को इस व्यवस्था से पूर्णत: बाहर रखा है।दास-प्रथा उस समय की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रथा थी। दास एक उपयोगी सामाजिक वर्ग का रूप ले चुका था। उनकी अवहेलना करना सर्वथा गलत है।

न्याय सिद्धात के विरुद्ध—प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार आचरण करना चाहिए, किन्तु प्लेटो का परिवार का साम्यवाद के सिद्धान्त का उल्लंघन करता है। स्त्रियों के लिए स्वाभाविक गुण बच्चों का लालन-पालन है, किन्तु प्लेटो अभिभावक वर्ग की स्त्रियों को इस स्वाभाविक कर्म से वंचित करता है।

व्यक्ति के व्यक्तित्त्व के विकास में बाधक—प्लेटो राज्य की एकता को साध्य मानकर व्यक्ति को उसका साधनमात्र मानलेता है। वह अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए परिवार की संस्था को राज्य के अधीन कर देता है। अत: यह व्यक्तिके व्यक्तित्त्व के विकास में बाधक है।

जीवशास्त्र के नियमों के विरुद्ध—प्लेटो की परिवार की साम्यवादी व्यवस्था जीवशास्त्र के नियमों के विरुद्ध है। इसमेंकोई गारण्टी नहीं है कि गुणवान माता-पिता की सन्तान भी गुणवान हो। यह पद्धति पशु-विज्ञान में तो लागू हो सकतीहै, जीवशास्त्र में नहीं।

स्त्री-पुरुष में भेद होता है—प्लेटो स्त्री-पुरुष में लिंग-भेद को छोड़कर अन्य कोई अन्तर नहीं मानता। स्त्री कोमल हृदयहोती है, जबकि पुरुष कठोर हृदयी होते हैं। इस तरह के कई अन्तर दोनों में होते हैं। प्लेटो का पत्नियों का साम्यवाद न ही वांछनीय है और न ही सम्भव। प्लेटो परिवार जैसी महत्त्वपूर्ण संस्था का लोप करताहै, जो असम्भव है। परिवार जैसी संस्था के समाप्त होते ही बच्चे सद्गुणी न होकर आपराधिक प्रवृत्ति की ओर प्रवृत्त होंगे।यह सिद्धान्त तर्क की दृष्टि से तो ठीक हो सकता है, लेकिन नैतिकता, संस्कृति तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से यह कभी मान्य नहीं हो सकता। प्लेटो की सबसे बड़ी उपलब्धि तो यह है कि उसने महिलाओं और पुरुषों की समानता पर जोर दिया है। उसके सारे प्रयास नारी उत्थान के लिए ही हैं। इस कार्य में परिवार की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है, जिसकी प्लेटोने उपेक्षा की है। यह निर्विवाद सत्य है कि साम्यवादी व्यवस्था का प्रयास प्लेटो की नारी उत्थान के लिए एक बहुत ही महत्त्वपूर्णदेन है।

प्लेटो प्रथम साम्यवादी के रूप में

मैक्सी ने अपने ग्रन्थ 'पोलिटिकल फिलास्फी' में लिखा है कि प्लेटो साम्यवादी विचारों का मुख्यप्रेरणा-स्रोत है और 'रिपब्लिक' में सभी साम्यवादी और समाजवादी विचारों के बीज मिलते हैं। लेकिन प्रो0 नैटलशिप, प्रो0 कैटलिन, प्रो0 बार्कर, मैकरी के इस विचार से सहमत नहीं हैं। प्रो॰ कैटलिन के अनुसार प्लेटो का साम्यवाद नतो स्ववर्गीय है और न ही अन्तरराष्ट्रीय है। यह आधुनिक साम्यवाद से बिल्कुल मेल नहीं खाता। आधुनिक साम्यवाद जिसकाप्रतिपादन कार्ल मार्क्स और लेनिन जैसे विचारकों ने किया है, एक वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज के विश्वास करतेहैं। मुख्य रूप में यह विचारधारा पूंजीपति वर्ग के सर्वहारा वर्ग के शोषण को समाप्त करने पर जोर देती है।प्रो॰ जायजी की राय में प्लेटो और रूस के साम्यवादियों में बहुत सी समानता है। दोनों ही व्यक्तिगत सम्पत्ति को सभी बुराइयोंकी जड़ मानते हैं, दोनों ही व्यक्तिगत सम्पत्ति और गरीबी को समाप्त करने के पक्षधर हैं। दोनों ही सामूहिक शिक्षा और बच्चोंकी सामूहिक देख-रेख में चाहते हैं। दोनों ही कला और साहित्य को राज्य का केवल साधन मानते हैं और दोनों सभी विज्ञानऔर विचारधाराओं को राज्य के हित में प्रयोग करना चाहते हैं। इस आधार पर प्लेटो को प्रथम साम्यवादी मानना सर्वथा सहीहै। लेकिन दूसरी ओर टेलर ने इसके विपरीत विचार दिए हैं। टेलर के अनुसार- "रिपब्लिक में न तो समाजवाद पाया जाताहै और न साम्यवाद।" प्लेटो को प्रथम साम्यवादी मानने के लिए साम्यवाद की आधुनिक विचारधारा को प्लेटो की विचारधारासे तुलना करना आवश्यक हो जाता है। दोनों अवधारणाओं में कुछ समानताएँ व असमानताएँ हैं।

समानताएँ

प्लेटो के प्रथम साम्यवादी होने के पक्ष में कुछ विचार हैं, जो परस्पर दोनों विचारधाराओं की समानता पर आधारित है। दोनोंमें मुख्य समानताएँ हैं –

व्यक्तिगत सम्पत्ति सारी बुराइयों की जड़ है–प्लेटो और आधुनिकसाम्यवाद दोनों ही इस बात पर सहमत हैं कि समाज में समस्त दोषों का कारण निजी सम्पत्ति का पाया जाना है। इलिएइसके स्थान पर सार्वजनिक सम्पत्ति की व्यवस्था करना आवश्यक है। प्लेटो ने संरक्षक वर्ग को व्यक्तिगत सम्पत्ति से वंचितकरके स्वयं को आधुनिक साम्यवाद के पास लाकर रख दिया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अन्त से ही समाज की सभीबुराइयों का अन्त हो सकता है।

अधिनायकतन्त्र में आस्था–दोनों ही साम्यवाद सम्पूर्ण समाज के हित के लिए एकसर्वसत्ताधिकावादी राज्य या शासक में विश्वास करते हैं। प्लेटो विवेकयुक्त दार्शनिक शासक के अधिनायकतन्त्र कीस्थापना करता है, जो कानून एवं परम्परा से ऊपर है। वह उत्पादक व सैनिक वर्ग पर समाज हित में पूर्ण नियन्त्रण रखताहै। प्लेटो का दार्शनिक शासक सर्वशक्तिमान है। आधुनिक साम्यवादी सर्वहारा वर्ग की तानाशाही में विश्वास करते हैं।अत: दोनों ही अधिनायकतन्त्र के पक्षधर हैं।

स्त्री-पुरुष की समानता में विश्वास–दोनों ही साम्यवादी स्त्री-पुरुष की समान योग्यता व क्षमता में विश्वास करते हैं। प्लेटो के अनुसार स्त्री-पुरुष में लिंग भेद को छोड़कर कोई अन्तर नहींहै। स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह प्रशासकीय पदों को अच्छी तरह संभाल सकती हैं। आधुनिक साम्यवादी भी नारी शक्तिमें पूर्ण विश्वास करते हैं।

कला और साहित्य राज्य के साधन हैं–दोनों ही साम्यवाद कला और साहित्य को केवल एक साधन मानते हैं, जो केवल राज्य के हितों के अनुकूल होना चाहिए। इसलिए वे कला और साहित्यपर नियन्त्रण की बात करते हैं। कविता की भावना, संगीत के स्वर, वाद्ययन्त्रों की लय तक को वे राज्य द्वारा नियन्त्रितव निर्देशित करना चाहते हैं। इसी तरह आधुनिक साम्यवादी भी कला और साहित्य पर कठोर नियन्त्रण की बात करतेहैं। यदि कोई कला व साहित्य राज्य हितों के विपरीत है तो उसे किसी भी अवस्था में सम्मान नहीं दिया जा सकता।अत: दोनों ही साम्यवादी कला ओर साहित्य पर नियन्त्रण के पक्षधर हैं और वे इन्हें राज्य के कल्याण का एक साधनमानते हैं। इस साधन का पवित्र होना जरूरी है।

कर्त्तव्य की भावना ही सामाजिक न्याय है–दोनों ही साम्यवाद समाज के हित में ही व्यक्ति का हित मानते हैं। वे कर्तृतव्यों पर अधिक जोर देते हैं। वे अधिकारों के नाम पर प्रतिबन्धों की व्यवस्थाके समर्थक हैं। प्लेटो ने अपनी योग्यतानुसार योग्य स्थान पर काम करने को सामाजिक न्याय कहा है। आधुनिक साम्यवादभी इस बात पर जोर देता है कि खाने का अधिकार उसी मनुष्य को है, जो समाज के लिए काम करता है। अत: दोनोंही साम्यवादी अधिकारों की तुलना में कर्तृतव्यों को महत्त्व देते हैं।

अव्यावहारिक– दोनों ही साम्यवाद मानव-स्वभाव व मनोविज्ञान के अनुरूप नहीं हैं, इसलिए वेव्यावहारिक नहीं है। इस दोष के कारण न तो प्लेटो

की साम्यवादी व्यवस्था कभी कायम हुई है और न ही होगी। इसीतरह आधुनिक साम्यवादी जिस शक्ति द्वारा साम्यवादी समाज की स्थापना की बात करते हैं, वह भी अव्यावहारिक है।आज विश्व के अनेक साम्यवादी व्यवस्था पतन की राह पर है।

समष्टिवाद में विश्वास–दोनों ही व्यवस्थाएँ समष्टिवादी हैं। दोनों साम्यवाद समुदाय की सर्वोच्चता में विश्वास करतेहैं जिसमें व्यक्ति की वैयक्तिकता की उपेक्षा करते हैं। दोनों व्यवस्थाओं में व्यक्ति को एक साधनमात्र माना गया है।

आर्थिक प्रतियोगिता की समाप्ति–दोनों ही साम्यवाद समाज के आर्थिक प्रतियोगिता को समाप्त करने के पक्षधर है।प्लेटो का विश्वास है, यही राजनीतिक कलह का कारण है। आधुनिक साम्यवाद भी आर्थिक प्रतियोगिता को समाप्त करसमाज में एकता का भाव पैदा करना चाहता है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्लेटो ने ही साम्यवाद के बीज बो दिए थे। प्लेटो के साम्यवादी सिद्धान्तोंके आधार पर ही आधुनिक साम्यवादी दर्शन खड़ा किया है। इस दृष्टि से प्लेटो को प्रथम साम्यवादी कहना सर्वथा सही है।

असमानताएँ

प्लेटो के साम्यवाद व आधुनिक साम्यवाद में बहुत सी असमानताएँ हैं जिनके आधार पर उसके प्रथम साम्यवादी होने के विचारका खण्डन किया गया है। वे आधार हैं –

अर्ध साम्यवाद और पूर्ण साम्यवाद– प्लेटो का साम्यवाद सारे समाज पर लागू नहोकर केवल संरक्षक वर्ग तक ही सीमित है। प्लेटो ने उत्पादक वर्ग को अपनी इस व्यवस्था से पूर्णतया बाहर रखकरअपने अर्ध-साम्यवादी होने का ही परिचय दिया है। आधुनिक साम्यवाद पूरे समाज के लोगों पर समान रूप से लागूहोता है, लेकिन इसमें परिवार का साम्यवाद शामिल नहीं है। आधुनिक साम्यवाद समाज के हर वर्ग को अपने में समेटकरचलता है। अत: दोनों में अन्तर है।

संन्यासवाद और भौतिकवाद–प्लेटो का साम्यवाद वास्तव में तपस्यात्मक है।प्लेटो शासकों को भौतिक सुख साधनों से विरक्त बनाता है। बार्कर के शब्दों में – "यह समर्पण का मार्ग है और उससमर्पण की माँग सर्वोत्तम और केवल

सर्वोत्तम व्यक्ति से ही की गई है।" प्लेटो ने संरक्षक वर्ग को समस्त सम्पत्ति से वंचितकर दिया है क्योंकि वह निजी सम्पत्ति को सार्वजनिक कल्याण के कर्त्तव्य-पालन में एक बाधा मानता है। आधुनिकसाम्यवाद की आधारशिला भौतिकता है। आधुनिक साम्यवाद भौतिक सुख-साधनों में वृद्धि को ही अपना लक्ष्य 'मानताहै। आधुनिक साम्यवाद सम्पत्ति की वांछनीयता को स्वीकार करते हुए उसके वितरण पर बल देता है। अत: प्लेटो केसाम्यवाद में न्याय का तात्पर्य कार्यों का यथोचित वितरण है तो आधुनिक साम्यवाद के सन्दर्भ में राज्य के उत्पादन कान्यायोचित वितरण।

राजनीतिक उद्देश्य और आर्थिक उद्देश्य–प्लेटो के साम्यवाद का लक्ष्यराजनीतिक है क्योंकि वह विशेष प्रकार की आर्थिक योजना के आधार पर राज्य में कुशासन तथा भ्रष्टाचार को समाप्तकर अच्छे शासन की स्थापना करना चाहता है। प्लेटो का उद्देश्य राजनीतिक स्थिरता पैदा करता है। आधुनिक साम्यवादका प्रमख लक्ष्य आर्थिक है। आधुनिक साम्यवादी विशेष प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था के आधार पर आर्थिक साधनोंका न्यायपूर्ण वितरण करना चाहते हैं। अत: एक का लक्ष्य राजनीतिक है तो दूसरे का आर्थिक।

सवर्ग समाज और वर्गहीन समाज–प्लेटो के साम्यवाद में वर्गों काअस्तित्त्व है जिनके कार्यों की विशिष्टता द्वारा राज्य की एकता में वृद्धि की जाती है। आधुनिक साम्यवाद में वर्गविहीन समाज की स्थापना की बात की जाती है। इसमें वर्गों का कोई महत्त्व नहीं है।

पारिवारिक साम्यवाद के सम्बन्ध में भेद–प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था में सम्पत्ति के साम्यवाद के साथ-साथ पत्नियों के साम्यवाद की भी व्यवस्था की गई है। किन्तु आधुनिक साम्यवाद में इस प्रकार की किसी व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं किया गया है।

नगर राज्यों और अन्तर्राष्ट्रीय का भेद–प्लेटो का साम्यवाद यूनान के छोटे-छोटे नगर-राज्यों को ध्यान में रखकर प्रतिपादित किया गया है। प्लेटो ने कभी विश्व व्यवस्थाकी बात नहीं की। अत: उनका साम्यवाद क्षेत्रवाद पर ही आधारित है। कार्लमार्क्स सम्पूर्ण विश्व के आर्थिक व राजनीतिक घटनाचक्र को ध्यान में रखते हुए अपने साम्यवादी सिद्धान्त की रचना की है। वे समस्त विश्व की एकता में विश्वास रखते हैं। अत: आधुनिक साम्यवाद विश्वस्तरीय है।

साम्यवाद में दार्शनिक शासकों की भूमिका में अन्तर–प्लेटो के साम्यवाद में शासन का संचालन दार्शनिक शासक के नेतृत्व में होगा और सामान्य

नागरिक उसका अनुसरण करेंगे, जबकि आधुनिक साम्यवाद में दार्शनिक राजा का कोई स्थान नहीं। मजदूरों का साम्यवादी दल तानाशाही से सम्पूर्णशासन-व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है।

साधन सम्बन्धी अन्तर—प्लेटो ने अपने साम्यवाद की स्थापना के लिए किसी साधनका वर्णन नहीं किया है। आधुनिक साम्यवादी क्रान्ति या दूसरे हिंसात्मक साधनों के प्रयोग द्वारा साम्यवाद की स्थापनाकरने की बात कहते हैं।

वर्गों की संख्या में अन्तर—प्लेटो ने समाज में तीन वर्ग - दार्शनिक, सैनिकतथा उत्पादक का वर्णन किया है, जबकि मार्क्स ने पूंजीपति व सर्वहारा वर्ग की ही व्याख्या की है। अत: प्लेटो के अनुसारसमाज में तीन तथा आधुनिक साम्यवादी दो वर्गों की बात करते हैं।

श्रमिक वर्ग की महत्ता के सम्बन्ध में अन्तर—प्लेटो के साम्यवाद में श्रमिक वर्ग को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है, जबकि आधुनिक साम्यवाद में श्रमिक वर्ग कोही क्रान्ति का आधार माना गया है। आधुनिक साम्यवादी दर्शन तो श्रमिक वर्ग के इर्द-गिर्द ही घूमता है।

व्यावहारिक एवं अव्यावहारिक—प्लेटो का साम्यवाद पूर्णत: अव्यावहारिक है और इसे व्यवहार में कभी भी लागू नहीं कियाजा सकता। आधुनिक साम्यवाद के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आधुनिक साम्यवाद अनेक देशों मेंव्यावहारिक रूप में लागू हुआ है। यद्यपि यह रूस में तो असफल रहा लेकिन चीन में इसका अब भी अस्तित्त्व है। अत:प्लेटो के साम्यवाद की तुलना में आधुनिक साम्यवाद अधिक व्यावहारिक है।

परिस्थितियों सम्बन्धी अन्तर—प्लेटो का साम्यवाद 5 वीं शताब्दी की एथेन्स की परिस्थितियों की उपज है, जबकि आधुनिक साम्यवाद 19 वीं सदी में ब्रिटेन में उत्पन्न औद्योगिक क्रान्ति कापरिणाम है।

इस प्रकार अनेक असमानताओं के आधार पर टेलर का कथन उचित है- "रिपब्लिक में समाजवाद तथा साम्यवाद के बरे में बहुत कुछ कहे जाने के बावजूद वास्तव में इस ग्रन्थ में न तो समाजवाद है और न ही साम्यवाद।" इसलिए प्लेटो को प्रथम साम्यवादी मानना सर्वथा गलत है। प्लेटो में ऐसा कोई विशेष तत्त्व नहीं है, जो आधुनिक साम्यवाद से मेल खाता हो।

प्लेटो का शिक्षा का सिद्धान्त

प्लेटो अपने आदर्श राज्य में न्याय की प्राप्ति के लिए जिन दो तरीकों को पेश करता है, उनमें से शिक्षा एक सकारात्मक तरीकाहै। समाज में शिक्षा की

बहुत आवश्यकता होती है। शिक्षा द्वारा ही समाज में भ्रातृभाव और एकता की भावना पैदा होती है।शिक्षा के महत्त्व को स्वीकारते हुए प्लेटो कहता है- "राज्य वृक्षों या चट्टानों से निर्मित नहीं होता, बल्कि उन व्यक्तियों के चरित्र से निर्मित होता है, जो उसमें रहते हैं, व्यक्तियों को श्रेष्ठ व चरित्रवान बनाने के लिए शिक्षा की बहुत आवश्यकता है। बार्करके अनुसार- "शिक्षा एक मानसिक रोग का मानसिक औषधि से इलाज करने का प्रयास है।" शिक्षा व्यक्ति का समाज के प्रतिदृष्टिकोण बदलकर उसे अच्छा व्यक्ति बनाती है।

शिक्षा का महत्त्व

शिक्षा का सिद्धान्त न्याय सिद्धान्त का तार्किक परिणाम–अपने आदर्श राज्य को न्याय पर आधारित करने हेतु प्लेटो ने शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है। न्याय का अर्थ व्यक्तियों और वर्गों द्वारा अपने स्वभावानुकूल विशिष्ट कार्यों कासम्पन्न करना है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को विशिष्ट कार्य का प्रशिक्षण देकर कुशल व दक्ष बनाया जा सकता है। प्लेटो न्यायकी रक्षा के लिए भी शिक्षा को आवश्यक मानता है।

नागरिकों को सद्गुणी बनाना–प्लेटो का शिक्षा-सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि "सद्गुण ही ज्ञान है " यदि सद्गुण ज्ञान है तो उसे सिखाया जा सकता है। नागरिकों को सद्गुणी बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है ताकि समाज क ेतीनों वर्ग सद्गुणी बनकर अपने-अपने कर्त्तव्यों को स्वेच्छा से पूरा कर सकें।

शिक्षा द्वारा व्यक्ति की आत्मा का विकास–प्लेटो का मानना है कि मनुष्य की आत्मा में अनेक श्रेष्ठ तत्त्व निवास करतेहैं। इन्हीं अन्तर्निहित तत्त्वों को बाहर निकाल कर सही दिशा में गतिमान करना ही प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा एक ऐसा वातावरण तैयार करती है, जो आत्मा को अपने विकास के प्रत्येक स्तर पर सहायता करती है। शिक्षा के अभावमें मानव आत्मा पथभ्रष्ट हो सकती है, जो समाज और व्यक्ति दोनों के लिए घातक है।

शिक्षा व्यक्ति को सामाजिक बनाती है–शिक्षा व्यक्ति के हृदय में समष्टि का भाव भरती है और उसे आत्मसंयम का पाठ पढ़ाती है। यह व्यक्ति को सत्यवादी और आज्ञाकारी होने की सीख देती है तथा अहंकार व स्वार्थ को त्याग करपरमार्थ की ओर प्रेरित करती है। शिक्षा व्यक्ति की सामाजिक चेतना को जगाकर विभिन्न वर्गों में सामंजस्य व एकतास्थापित करती है।

शिक्षा का राजनीतिक महत्त्व–शिक्षा के द्वारा शासक व सैनिक वर्ग को प्रशिक्षण प्राप्त होता है और दार्शनिक शासकका जन्म होता है। शिक्षा लोगों को राजनीतिक जीवन में भाग लेने के योग्य बनाती है। राज्य के प्रत्येक वर्ग को उसकेकर्त्तव्य से अवगत कराती है। यह व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को परिशुद्ध कर राज्य को एकता के सूत्रा में बाँधती है।

शिक्षा का दार्शनिक महत्त्व–शिक्षा अपने आप में एक अच्छाई है। इसका अन्तिम लक्ष्य उस चरम सत्य की खोज करनाहै, जो काल और स्थान से परे है, जो सृष्टि की सभी वस्तुओं का मूल कारण है, जो अपनी विभूति से सदा देदीप्यमानहोता है एवं जिसकी ज्योति से समस्त चराचर प्रकाशित होता रहता है। इसी चिरंतन, शाश्वत और अटल सत्य की खोजकर व्यक्ति पार्थिव जीवन की सीमाओं से ऊपर उठने का प्रयास करता है।

शिक्षा सिद्धान्त का दार्शनिक आधार

प्लेटो की शिक्षा योजना के पीछे एक दार्शनिक दृष्टिकोण निहित है। प्लेटो की मान्यता है कि मनुष्य की आत्मा कोई निश्चेष्टवस्तु न होकर सक्रिय तत्त्व है। अपनी सक्रियता के कारण मन अपने आप को पर्यावरण के हर पदार्थ की ओर अग्रसर करता है। अत: शिक्षक का कार्य तो इस सक्रिय आध्यात्मिक शक्ति को सौन्दर्य की ओर आकृष्ट करना है। प्लेटो के लिए शिक्षा का अर्थ है- "मन के 'अन्तरचक्षु' को प्रकाश की ओर प्रेरित करना।" प्लेटो की शिक्षा योजना का दूसरा महत्त्वपूर्ण दार्शनिक आधार यह है कि मनुष्य की आत्मा को अपनी सतत सक्रियता के लिए सतत भोज्य पदार्थ की उसी प्रकार आवश्यकता है जैसी कि भौतिक अस्तित्त्व के लिए शरीर को भोजन आवश्यकता है। अत:जब तब आत्मा का अस्तित्त्व है तब तक उसे शिक्षा द्वारा पोषक तत्त्व प्रदान किया जाना चाहिए। अत: शिक्षा जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। यह युवावस्था में भावनाओं और कल्पनाओं को संतुलित करती है तो प्रौढ़ावस्था में विज्ञान के द्वारा विवेकका विकास करती है और इसके बाद भी दर्शन के द्वारा विभिन्न शास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान कराती है एवं मानवजीवन के अन्तिम लक्ष्य को समझने हेतु अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है।

प्लेटो मानव मस्तिष्क की सोद्देश्यता में विश्वास करता है। इसकी दो बातें प्रमुख हैं- (i) मानव मस्तिष्क सदा एक उद्देश्य कीओर बढ़ता है क्योंकि यह विवेक प्रेरित होता है। (ii) यह सदैव एक ही उद्देश्य की ओर बढ़ता है और

वह उद्देश्य है शिव की प्राप्ति। अत: मस्तिष्क सदैव एक ही उद्देश्य की ओर बढ़ता है और उन्हीं वस्तुओं को जानने का प्रयास करता है जिनकेकुछ उद्देश्य होते हैं। शिव के स्वरूप की खोज करना विश्व की समस्त वस्तुओं का आधार है। अत: प्लेटो की शिक्षा की परिणतिशिव के स्वरूप के ज्ञान प्राप्त करने में होती है। शिव के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है सदाचारपूर्ण कार्य करना।यही सभी वस्तुओं का अन्तिम लक्ष्य है। इसी वास्तविक एवं अन्तिम अर्थ में प्लेटो ने सद्‌गुण को ज्ञान कहा है। अत: 'ज्ञान हीगुण है', यही प्लेटो की शिक्षा का दार्शनिक आधार है।

प्लेटो ने रिपब्लिक में अपने शिक्षा-सिद्धान्त पर विस्तार से चर्चा की है। रूसो के शब्दों में- "रिपब्लिक राजनीतिशास्त्र पर ही,वरन् शिक्षा पर लिखा गया सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।" सेवाईन का मत है कि- "शिक्षा एक सकारात्मक साधन है जिसके द्वारा शासकएक सामंजस्यपूर्ण राज्य का निर्माण करने के लिए मानव प्रकृति को सही दिशा में ढाल सकता है।" प्लेटो अपने समय के एथेन्सव यूनान की शिक्षा पद्धतियों का गहरा विद्वान था। उसने अपने आदर्श राज्य में न्याय की प्राप्ति के लिए शिक्षा का जा`सकारात्मक साधन पेश किया, वह एथेन्स व स्पार्टा दोनों की शिक्षा पद्धतियों पर आधारित था। इसलिए प्लेटो की योजना का`समझने से पहले इन दोनों पद्धतियों को जानना आवश्यक है।

एथेन्स और स्पार्टा की शिक्षा प्रणालियों का पुनरावलोकन

एथेन्स की शिक्षा व्यवस्था–एथेन्स में शिक्षा परिवार का अपना उत्तरदायित्व था और राज्य का उस पर कोई नियन्त्रण नहीं था। तत्कालीन एथेन्स में प्रचलित शिक्षा समाजोन्मुखी न होकर व्यक्तिपरक थी जिससे राज्य के लिए अच्छे व्यक्तियों का निर्माण असम्भव था। परिवारको स्वतन्त्रता थी कि वे अपने बच्चों को कैसी भी शिक्षा दें और कहीं भी दें। रोमन साम्राज्य के समय तक एथेन्स में कोईराज्य-नियन्त्रित स्कूल नहीं था। प्रसिद्ध विधिशास्त्री सोलन के नियम के अनुसार- "माता-पिता का यह कर्त्तव्य था कि वे अपनेबच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करें।" लड़के एवं लड़कियों के लिए शिक्षा की समान व्यवस्था नहीं थी। लड़कियों को घरेलू आवश्यकताओं की ही शिक्षा दी जाती थी। एथेन्स की शिक्षा प्रणाली तीन स्तरों में विभाजित थी, जिसका वर्णन इस प्रकारहै –

प्राथमिक शिक्षा–प्राथमिक शिक्षा में केवल पढ़ना लिखना ही सिखाया जाता था और प्राचीन कविता, व्यायाम व संगीत की शिक्षा दी जाती थी। यूनान

में कवि धर्म गुरु माने जाते थे, अत: उन्हें साहित्य के अध्ययन में नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता था। शिक्षा का समय 6 से 14 वर्ष तक था।

माध्यमिक शिक्षा–इस शिक्षा का लाभ अमीर लोग ही उठा सकते थे। भारी शिक्षा शुल्कों के कारण गरीब व्यक्ति शिक्षा से वंचित रह जाते थे। इसमें अलंकारशास्त्र, भाषण कला और राजनीति की शिक्षा दी जातीथीं इसका समय 14 से 18 वर्ष का था।

सैनिक शिक्षा–एथेन्स के प्रत्येक युवक के लिए यह शिक्षा अनिवार्य थी। इस शिक्षा में दक्ष होनेपर ही व्यक्ति को नागरिक अधिकार प्रदान किए जाते थे। शिक्षा का यह स्तर 18 से 20 वर्ष की आयु तक था। यह शिक्षाकेवल 2 वर्ष तक राज्य द्वारा प्रदान की जाती थी।

एथेन्स की यह शिक्षा पद्धति व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और चारित्राक विकास के लिए उपयुक्त थी, परन्तु इसका सबसेबड़ा दोष यह था कि इसमें शिक्षा देना राज्य का नहीं, परिवार का उत्तरदायित्व था। यह शिक्षा पद्धति राज्य की आवश्यकताओंऔर उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं थी। इसके परिणामस्वरूप एथेन्स अज्ञानी व अयोग्य शासकों द्वारा शासित रहा। प्लेटोने इन दोषों को पहचानकर अपनी शिक्षा-पद्धति में इन दोषों का निराकरण किया। उसने इस शिक्षा प्रणाली की अच्छी-अच्छीबातों को ग्रहण कर लिया।

स्पार्टा की शिक्षा-प्रणाली

यह शिक्षा पद्धति राज्य द्वारा पूर्णतया नियन्त्रित थी। स्पार्टा का समाज प्राचीन ढंग का योद्धाओं का समाज था जिसके लिए योद्धाओं की आवश्यकता थी। इसलिए राज्य में सैनिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता था। शिक्षा परिवार का उत्तरदायित्व न होकर राज्य का अपना उत्तरदायित्व था। बच्चे 7 वर्ष की आयु तक ही अपनी माता के पास रहते थे। शिक्षा को राज्य के उद्देश्यों के अनुकूल ढालने के लिए बच्चों को 7 वर्ष के बाद राज्य अपने नियन्त्रण में ले लेता था। इसके बाद बच्चों को उनकी प्रतिभा, योग्यता, अभिरुचि के अनुसार राज्य द्वारा शिक्षा दी जाती थी। इस शिक्षा का उद्देश्य अच्छे लड़ाकू व रक्षक पैदा करनाथा। स्त्रियों के लिए भी शारीरिक शिक्षा जरूरी थी। प्लूटार्क ने लाइकरगस (स्पार्टा का विधि निर्माता) की जीवनी में लिखाहै- "यहाँ बालक-बालिकाएँ एक साथ नग्नावस्था में विविध प्रकार के व्यायाम करते थे।

युवतियों के शरीर दौड़, कुश्ती, बर्छी,भाला फेंकने आदि के व्यायामों द्वारा सुपुष्ट बनाए जाते थे ताकि उनकी सन्तान बलवान और पुष्ट हो सके और स्वयं स्त्रियाँ भी राज्य रक्षा में पुरुषों की भाँति भाग ले सकें।" इस तरह स्पार्टा में राज्य हित की पूर्ति के लिए परिवार को गौण बना दियाथा और जीवन के सभी सुखों का सैनिक आवश्यकताओं के ऊपर बलिदान कर दिया था। स्पार्टा में 20 वर्ष की आयु के बाद विवाह की स्वतन्त्रता थी। विवाह एक गुप्त एवं अवैध सम्बन्ध होता था। पति-पत्नी वैवाहिक जीवन का आनन्द नहीं ले सकत थे। स्पार्टा की सामाजिक व्यवस्था भी राज्य की सैनिक आवश्यकताओं के अनुकूल थी। सभी नागरिक सामूहिक भोजनालयों में भोजन करते थे। स्पार्टा में अमीर गरीब का भेदभाव नहीं था। वहाँ कोई सोना या चाँदी रख सकता था। लोहे की मुद्रा प्रचलित थी। स्पार्टा का शासन कुलीन व्यक्तियों के हाथों में था। जनता आर्थिक व पारिवारिक चिन्ताओं से दूर अपना सारा समय राज्यके लिए अर्पित कर देते थे। इस शिक्षा प्रणाली को समस्त यूनान में ख्याति प्राप्त थी और समस्त यूनान विशेष तौर पर एथेन्स से युवक शिक्षा प्राप्ति के लिए वहाँ जाते थे।

स्पार्टा की इस शिक्षा प्रणाली का पाठ्यक्रम भी संकुचित एवं एकांगी था। इसमें साहित्यिक शिक्षा की उपेक्षा की गई थी, जिससे स्पार्टा की अधिकांश जनता पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे। उन्हें यूनान के साहित्य का कोई ज्ञान नहीं था। स्पार्टा में शारीरिक विकास तो हो सकता था लेकिन वहाँ मानसिक एवं बौद्धिक विकास उपेक्षित था। अत: यह शिक्षा व्यक्ति को पूर्ण नहीं बना सकती थी।

उपर्युक्त दोनों शिक्षा पद्धतियों का विश्लेषण करके बार्कर ने कहा है- "एथेन्स से प्लेटो की शिक्षा योजना का व्यक्तिगत पहलू आता है - मानव का सम्पूर्ण विकास होना चाहिए, स्पार्टा से उसका सामाजिक पहलू आता है - नागरिक को राज्य में उसकेउचित स्थान पर प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से शिक्षा राज्य द्वारा नियन्त्रित होनी चाहिए।"

प्लेटो की शिक्षा के उद्देश्य

प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व का विकास करना है। यह विकास ज्ञान पर ही निर्भर होताहै। इसलिएप्लेटो ने अपनी शिक्षा के उद्देश्य बताए हैं –

व्यक्तित्त्व के पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए प्लेटो के अनुसार शिक्षा को व्यक्ति के सामाजिक और वैयक्तिक दोनों के पक्षों केपूर्ण विकास के उद्देश्य को पूर्ण करना चाहिए।

आदर्श राज्य के निर्माण को सम्भव बनाने के लिए विशेषकर संरक्षक वर्ग (सैनिक व दार्शनिक शासक) को प्रशिक्षित करनाशिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ आत्मा का निवास होता है। अत: शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास करनाहोना चाहिए।

प्लेटो का मत है - सदाचार ही ज्ञान है। अत: शिक्षा का उद्देश्य केवल सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं, उसे उसज्ञान को आचरण में कैसे उतारा जाए इसका व्यावहारिक प्रशिक्षण भी देना चाहिए, प्लेटो के अनुसार विद्यार्थियों को पहले सैद्धान्तिक शिक्षा और उसे बाद प्रयोगात्मक शिक्षा दी जानी चाहिए।

मनुष्य की आत्मा का गुण ज्ञान होने के कारण, शिक्षा का उद्देश्य भी ज्ञान प्राप्त करना है, प्लेटो के अनुसार मानव-आत्माके पास स्वयं ज्ञान-नेत्रा होता है, शिक्षा तो उस ज्ञान-नेत्रा का रुख प्रकाश की ओर आकर्षित करती है। शिक्षा एक ऐसा वातावरण देती है कि आत्मा का ज्ञान स्वत: ही प्रकट हो जाए। प्लेटो के अनुसार शिक्षा आत्मनेत्रा को प्रकाशोन्मुख करती है।

शिक्षा का उद्देश्य मात्रा वस्तुगत जगत् का ज्ञान प्राप्त करना नहीं है, अपितु वस्तुगत जगत् के मूल में निहित 'सत' अर्थातअनन्त वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है।

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सौन्दर्य के प्रति आकर्षित करना है, अत: विशिष्ट कलाओंय जैसे साहित्य, संगीत आदि काप्रशिक्षण देना भी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

आदर्श राज्य में शिक्षा-योजना

प्लेटो की शिक्षा योजना स्पार्टा व एथेन्स की शिक्षा योजनाओं का मिला-जुला रूप है। लेकिन यह प्लेटो की अपनी देन होने के कारण मौलिकता के गुण से भी युक्त है। प्लेटो ने शिक्षा को जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया बताया है। प्लेटो की शिक्षायोजना 6 से 50 वर्ष तक की आयु तक चलने वाली प्रक्रिया व पाठ्यक्रम है। प्लेटो की शिक्षा योजना को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है –

1. प्रारम्भिक शिक्षा
2. उच्चस्तरीय शिक्षा

1. प्रारम्भिक शिक्षा

प्लेटो प्रारम्भिक शिक्षा को तीन भागों में बाँटता है –

(i) प्रारम्भिक शिक्षा 6 वर्ष की शिक्षा–इस समय में जन्म से 6 वर्ष की शिक्षा शामिलहै। इस दौरान बालक को मुख्यत: छोटी-छोटी कहानियों के माध्यम से नैतिक और धार्मिक शिक्षा दी जाती है।

(ii) 6 से 18 वर्ष तक की शिक्षा–इसमें किशोरों को व्यायाम,अक्षरबोध, संगीत की शिक्षा शामिल है। प्लेटो ने इसे दो विषयों में समाहित किया है- (i) व्यायाम (ii) संगीत शिक्षा की यह योजना एथेनियन पाठ्यक्रम पर ही आधारित है जिसमें कुछ सुधार किए गए हैं।

व्यायाम–व्यायाम द्वारा शरीर को स्वस्थ बनाया जा सकता है। बार्कर के शब्दों में-"व्यायाम मस्तिष्क केलिए शरीर का प्रशिक्षण है।" प्लेटो ने इसमें शरीर की समस्त शिक्षा को शामिल किया है। इसमें खुराक, व्यायाम औरचिकित्सा भी शामिल है। प्लेटो का उद्देश्य है कि व्यायाम द्वारा विद्यार्थियों को हृष्ट-पुष्ट बनाकर उन्हें रोगमुक्त रखा जाए।प्लेटो ने व्यक्ति के शारीरिक विकास के लिए सात्विक भोजन पर बल दिया है। नैटलशिप के शब्दों में- "शारीरिक प्रशिक्षणमें खुराक का सादापन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु है।" प्लेटो का मानना है कि जो व्यक्ति सादा भोजन करेगा, वह रोगमुक्त हो जाएगा। यदि नागरिक नियमित रूप से व्यायाम और सात्विक भोजन लेते रहेंगे तो वे कभी रोग की चपेट में नहीं आएँगे और उन्हें डॉक्टर की जरूरत नहीं होगी।

संगीत–प्लेटो ने व्यायाम की तरह संगीत का भी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। संगीत का अर्थ केवलगान-विद्या नहीं है। बार्कर के अनुसार- "यह मन के सामान्य प्रशिक्षण का मार्ग है।" प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में काव्य,साहित्य, इतिहास, गीत व नृत्य, चित्राकला, मूर्तिकला आदि सभी आ जाते हैं। प्लेटो के अनुसार संगीत मन को उसी तरहसाधता है, जिस प्रकार व्यायाम शरीर को। काव्य, संगीत व मूर्तिकला का प्रभाव व्यापक होता है। इनकी ओर व्यक्ति स्वतरूही आकृष्ट होता है और अपने जीवन में नवजात शक्ति का अनुभव करता है। प्लेटो के अनुसार, संगीत शिक्षा द्वारा मनुष्यके शौर्यत्व पर संयम कायम रखा जाता है तथा बौद्धिक गुणों को बाहर निकला गया है। यह आत्मा का विकास

करताहै। अत: प्लेटो ने उसी संगीत का समर्थन किया है, जो न्यायपरायणता के भाव भरे। प्लेटो ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा में सत् साहित्य को भी शामिल किया है। उसके अनुसार जो साहित्य व्यक्ति के उज्ज्वलचरित्रा, गुरुजनों तथा माता-पिता के प्रति आदर, भ्रातृ-भाव, साहस, सत्यप्रियता, आत्मसंयम आदि गुणों का विकास करताहो सत् साहित्य कहलाने का अधिकारी है। जो साहित्य भय, क्रोध, घृणा, पथभ्रष्टता आदि बुराइयों को बढ़ावा दे उसेछोड़ देना चाहिए। प्लेटो ने जन उपयोगी कविता को ही महऋत्त्व दिया है। वह देवमन्त्रा (भ्लउदे जव जीम ळवके) तथा यशस्वीव्यक्तियों की प्रशस्तियाँ ही अपनी कविता में शामिल करना चाहता है, अन्य नहीं। कविता की ही तरह वह नाटक पररोक लगाने का पक्षधर है। प्लेटो ने धर्म सुधार और साहित्यिक आलोचना का ही सूत्रापात किया है। प्लेटो ने धर्म, विश्वासऔर साहित्य के सही स्वरूप की रक्षा के लिए सुधार और आलोचना के तरीके अपनाए हैं। प्लेटो ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा में वाद्ययन्त्रों के चयन पर काफी जोर दिया है। वह नगरवासियों के लिए 'लिरे' तथा हार्प को तथा ग्रामवासियों के लिए 'पाइप' को उचित ठहराया है। उसने वंशी को स्वीकृति प्रदाननहीं की है। प्लेटो संगीत के प्रभाव को शाश्वत मानता है। वह राग-रागनियों को सावधानीपूर्वक संगीत में शामिल करनेकी बात करता है। वह सरल लय व ताल को अपनाने की बात करता है। प्लेटो का कहना है कि सुरताल को सरल भेदोंतक ही सीमित होना चाहिए। वह संगीत कभी भी मान्य नहीं हो सकता जिसमें न्याय की प्रभुत्वमयी छवि प्रतिबिम्बितनहीं हो।

(iii) 18 से 20 वर्ष तक की शिक्षा–प्लेटो इस अवधीके दौरान या 2 वर्ष तक सैनिक शिक्षा का प्रावधान करता है। इससे विद्यार्थियों में साहस, आत्म-नियन्त्रण तथा अनुशासनकी प्रवृत्ति बढ़ेगी और वे राज्य की रक्षा करने के योग्य बनेंगे। यह शिक्षा राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्णहोगी।

2. उच्चस्तरीय शिक्षा

प्लेटो ने उन विद्यार्थियों के लिए जो प्राथमिक स्तर पर प्रतिभावान होते हैं, उच्च शिक्षा का प्रावधान किया है। शेष प्राथमिकस्तर की शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों को सैनिक वर्ग में स्थान दिया जाता है। प्लेटो ने उच्च शिक्षा के दो स्तर निर्धारित किए हैं –(क) 20 से 30 वर्ष तक। (ख) 30 से 35 वर्ष तक।

(क) 20 से 30 वर्ष तक की आयु के लिए शिक्षा–प्लेटोने इस वर्ग के विद्यार्थियों के लिए चार विषयों - अंकगणित, रेखागणित, ज्योतिशास्त्र तथा

स्वर-विद्या को स्थान दियाहै। प्लेटो ने इस आयु में जिन विषयों के अध्ययन पर जोर दिया है, वे वैज्ञानिक अध्ययन के प्रतीक माने गए हैं। प्लेटोमानव आचरण और विकास के सन्दर्भ में विज्ञान को बहुत महत्त्व प्रदान करता था। प्लेटो ने सबसे अधिक महत्त्व अंकगणितको दिया है। उसके बाद रेखागणित, ज्योतिशास्त्र व स्वर-विद्या के अध्ययन पर भी बहुत जोर दिया है।

(ख) 30 से 35 वर्ष तक की आयु के लिए शिक्षा रू20 से 30 वर्ष की आयु में वैज्ञानिक शिक्षा के बाद एक परीक्षा का आयोजन करके गिने-चुने विद्यार्थियों को 30 से 35वर्ष की आयु में द्वन्द्व और दर्शन की शिक्षा दी जाएगी। कवायर ने कहा है- "दर्शन प्रौढ़अवस्था के लिए है, युवावस्था के लिए नहीं।" प्लेटो ने द्वन्द्वात्मकता को गणित से भी बढ़कर माना है।

हम द्वन्द्वात्मक को तर्कशास्त्र, तत्त्वमीमांसा या सीधे दर्शन का नाम दे सकते हैं। इसमें केवल मनोविज्ञान का ही अध्ययननन होकर, सत्ता के आदि और अन्त, सत्ता के कारण व ज्ञान का लक्ष्य का अध्ययन होता है। यहाँ प्लेटो का सत्ता से तात्पर्य उस नियामक शक्ति से है, जो इस ब्राह्माण्ड का संचालन करती है और सद् का अस्तित्त्व कायम करती है। प्लेटो केअनुसार- "द्वन्द्वात्मकवादी वह है, जो प्रत्येक वस्तु को निचोड़ की सम्बोधन तक पहुँचाता है और श्रेय के भाव का दर्शनकर लेता है।" यद्यपि ग्रीक जगत् में द्वन्द्वात्मकता का सिद्धान्त सत्य तक पहुँचने के लिए और उसे साक्षात् करने के लिएएक प्रभावशाली साधन था लेकिन फिर भी इसे समझना कठिन होने के कारण सभी लोग इसे समझने में अयोग्य होतेथे। यह सिद्धान्त श्रेष्ठ बुद्धि वाले उन लोगों की ही समझ में आ सकता था जो सद्गुणी होते थे। इसे समझने का अथकप्रयास करते थे।

अत: प्लेटो की शिक्षा प्रणाली इस बात का संकेत है कि एक तरफ तो प्लेटो का राज्य नागरिकों में सामाजिकता का भावजागृत करके शरीर और मन को स्वस्थ व शुद्ध भाव में राज्य की रक्षा का भार सौंपना चाहता है और दूसरी तरफ वहएक ऐसे दार्शनिक शासक का निर्माण करना चाहता है, जो सद्गुणी होकर निष्पक्ष रूप से शासन करते हुए प्रजा में तालमेलव संतुलन बनाए रख सके।

प्लेटो की यह शिक्षा सैद्धान्तिक पक्ष से सरोकार रखती है, व्यावहारिक पक्ष से नहीं। अत: प्लेटो ने आगामी 15 वर्षों तक जीवनकी पाठशाला में कठिनाइयाँ झेलकर व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था की है। प्लेटो का मानना है कि 50 वर्ष कीआयु में ही दार्शनिक शासक बनने की प्रक्रिया पूरी होती है और उसे शासक वर्ग में शामिल कर लिया जाता है। अब यह राज्यका संचालन

संभालकर भावी पीढ़ी की शिक्षा योजना का संचालन करता है और अपने उत्तराधिकारी तैयार करता है। 50 वर्षके बाद भी व्यक्ति के आत्म-साक्षात्कार तथा अन्तिम सत्य की खोज के लिए शिक्षा चलती रहती है। आयु के बढ़ने के साथ-साथराजनीति का क्षेत्र खाली होता जाता है और स्वयं अन्तिम सत्य के अन्वेषण में लग जाते हैं।

प्लेटो की शिक्षा प्रणाली की विशेषताएँ

चरित्र निर्माण पर बल–प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों को अच्छे यासद्गुणी बनाकर उन्हें राज्य के प्रति निरूस्वार्थ सेवा की भावना जगाना है। प्लेटो शिक्षा को एक ऐसा विद्यात्मक साधनमानता है, जो नागरिकों का चरित्र निर्माण करती है।

राज्य द्वारा नियन्त्रित तथा अनिवार्य शिक्षा–प्लेटो शिक्षा कोव्यक्तिगत क्षेत्र में नहीं छोड़ना चाहता। वह शिक्षा पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षधर है। प्लेटो का मानना है कि राज्यके नियन्त्रण के अभाव में शिक्षा व्यक्तिगत हितों की ही पोषक होगी, सामाजिक हितों की नहीं। प्लेटो ने शिक्षा प्राप्त करनाप्रत्येक परिवार व व्यक्ति के लिए अनिवार्य कर दिया है। राज्य की ओर से शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था हो गई है।

कला और साहित्य पर नियन्त्रण–प्लेटो काव्य और साहित्य पर कठोरनियन्त्रण का पक्षधर है। प्लेटो का उद्देश्य गन्दे साहित्य का निर्माण रोकना है। उसका उद्देश्य युवकों को बुरे रास्ते सेहटाकर सद्मार्ग पर चलाना है ताकि वे अच्छे नागरिक बन सकें।

स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान शिक्षा–प्लेटो की शिक्षा योजनास्त्री और पुरुष दोनों के लिए है। प्लेटो स्त्री-पुरुष में कोई स्वाभाविक अन्तर नहीं मानता है। वह इस दृष्टि से एथेन्सकी शिक्षा प्रणाली का दोष दूर कर देता है क्योंकि उस समय एथेन्स में केवल पुरुषों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारप्राप्त था। प्लेटो का विश्वास था कि स्त्रिया भी राज्य को शक्तिशाली बनाने में योगदान दे सकती हैं। इसलिए दोनों कोसमान व अनिवार्य शिक्षा मिलनी ही चाहिए।

शिक्षा राज्य के कर्त्तव्य के रूप में–अपने आदर्श राज्य में व्यक्तिको गुणी से सामाजिक बनाने के लिए शिक्षा को अनिवार्य माना है अर्थात् शिक्षा व्यक्ति तथा समाज दोनों का निर्माण करती है। अत: प्लेटो शिक्षा को निजी हाथों में न सौंपकर राज्य को सौंपता है। प्लेटो का उद्देश्य योजनाबद्ध तरीके से

नागरिकोंमें कर्त्तव्यभावना पैदा करके उन्हें समाज के अनुरूप बनाना है। सेबाइन ने लिखा है- "प्लेटो की राज्य नियन्त्रित शिक्षाप्रणाली एथेन्स की शैक्षणिक कार्यशैली का नया परिवर्तन था।"

शिक्षा मानसिक रोग का मानसिक उपचार है –प्लेटो सारी बुराई की जड़ अज्ञानता को मानता है। उसका कहना है कि शिक्षा द्वारा ही बुराइयों का अन्त किया जा सकताहै। शिक्षा व्यक्ति के स्वभाव को राज्य के उद्देश्य के अनुकूल बदलत सकती है। बार्कर के अनुसार- "शिक्षा मानसिक रोगके उपचार के लिए एक मानसिक औषधि है।" अर्थात् यह मानसिक रोग का मानसिक उपचार है।

नैतिक विकास पर बल–प्लेटो की शिक्षा योजना 'सद्गुण ही ज्ञान है' केसिद्धान्त को स्वीकार करके व्यक्ति के नैतिक विकास की परिस्थितियाँ पैदा करती है। प्लेटो कला व साहित्य के ऐसेअंशों पर प्रतिबन्ध लगाने का पक्षधर है, जो नागरिकों के नैतिक गुणों का ह्रास करते हों।

सर्वांगगीण विकास पर बल–प्लेटो की शिक्षा प्रणाली व्यक्ति के शारीरिक,मानसिक व आध्यात्मिक तीनों पक्षों के पूर्ण विकास पर बल देती है। प्लेटो की शिक्षा योजना व्यक्ति के प्रत्येक सद्गुणको विकसित करने का प्रयास करती है।

शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिए–प्लेटो की शिक्षा प्रणाली में उत्पादक वर्ग के लिएशिक्षा का कोई पाठ्यक्रम ही नहीं है। प्लेटो की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य राजनेताओं का निर्माण करना है जिससे आदर्शराज्य का सपना साकार हो सके। अत: प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने का पक्षपाती है।

शिक्षा-योजना मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित है–प्लेटो ने मानव स्वभाव की प्रवृत्तियों और आत्मा के तीन तत्त्वों के अनुकूल ही अपनी शिक्षा व्यवस्था को आधारित कियाहै।

शिक्षा का पाठ्यक्रम आयु-भेद व वर्ग-भेद पर आधारित–प्लेटो ने शिक्षा प्रणाली के दो भाग किए हैं - प्राथमिक व उच्च शिक्षा। दोनो शिक्षा स्तरों का आधार आयुव वर्ग-भेद है। प्रारम्भिक शिक्षा नौजवानों के लिए जबकि उच्च शिक्षा प्रौढ़ावस्था का प्रशिक्षण है तथा शासक वर्ग काभी इसमें गणित, तर्क, दर्शन व विज्ञान का ज्ञान दिया जाता है।

प्लेटो की शिक्षा में सीखने की प्रक्रिया सरल से जटिल की ओर–प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम सरलता से जटिलता की आरे

बढ़ता है। शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर परसंगीत, साहित्य, व्यायाम आदि सरल विषय पढ़ाए जाते हैं, परन्तु बीस वर्ष के बाद गणित, विज्ञान आदि कुछ जटिल विषयऔर अन्त में 30 वर्ष बाद द्वन्द्व व दर्शन का ज्ञान कराया जाता है।

शिक्षा आजीवन प्रक्रिया–प्लेटो की शिक्षा योजना जीवनपर्यन्त चलने वालीप्रक्रिया है। 35 वर्ष से 50 वर्ष तक मनुष्य दार्शनिक व व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता है। उसके बाद अन्तिम सत्य कीखोज करता है। अत:यह आजीवन प्रक्रिया है।

दार्शनिक शासक के लिए प्रशिक्षण–प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे दार्शनिकशासक का निर्माण करना है, जो सर्वगुणसम्पन्न हो और सैनिक व उत्पादक वर्ग पर समाज हित में पूर्ण नियन्त्रण व सभीवर्गों में एकता व सामंजस्य कायम रख सके।

शिक्षा में गणित को महत्त्व–प्लेटो की शिक्षा योजना में सबसे अधिकमहत्त्व गणित को दिया गया है। प्लेटो ने अपनी अकादमी के बाहर दरवाजे पर ये शब्द लिखे थे- "जिसे अंकगणित काज्ञान नहीं, वह इसमें प्रवेश नहीं कर सकता।" अत: प्लेटो ने सर्वाधिक महत्त्व गणित को दिया है।

आलोचनाएँ

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की आलोचना के आधार हैं –

शिक्षा मात्र अभिभावक वर्ग के लिए–प्लेटो शिक्षा को महान् वस्तु मानताहै और उसे आदर्श राज्य का आचार बताता है, किन्तु उसने समस्त नागरिकों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध न करके केवलअभिभावक वर्ग (सैनिक व दार्शनिक वर्ग) के लिए ही शिक्षा की योजना प्रस्तुत की है। इस प्रकार उसकी शिक्षा योजना कुलीनतन्त्रावादी है जिसे आधुनिक दृष्टि से अप्रजातान्त्रिक कहा जाएगा। सेबाइन ने कहा है- "राज्य में शिक्षा के महत्त्वपूर्णस्थान को देखकर यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि प्लेटो शिल्पियों (उत्पादक वर्ग) के लिए शिक्षा के सम्बन्ध में कोईविचार नहीं करता।" अत: यह सिद्धान्त अभिजातवर्ग का ही पोषक है।

उत्पादक वर्ग की उपेक्षा–प्लेटो की शिक्षा प्रणाली संकुचित है। प्लेटो ने बहुसंख्यकउत्पादक वर्ग की पूर्ण उपेक्षा की है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वर्ग, जिसमें उत्पादक वर्ग भी एक है,को अपने समस्त कार्य विशिष्टता के साथ करने चाहिएं। किन्तु प्लेटो यह भूल जाता है कि उत्पादक

वर्ग बिना शिक्षा व प्रशिक्षण के अभाव में कार्य-कौशल व विशेषज्ञता कैसे प्राप्त करेंगे। अत: प्लेटो द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में उत्पादक वर्ग कीअपेक्षा न्याय के सिद्धान्त के विपरीत है।

डॉक्टर एवं वकीलों का बहिष्कार–प्लेटो ने अपने राज्य से डॉक्टरों ओर सभीअदालती संस्थाओं का बहिष्कार किया है। उसके अनुसार व्यायाम और संगीत के प्रशिक्षण से नागरिक के शरीर औरमन दोनों स्वस्थ रहेंगे और इस प्रकार शारीरिक और मानसिक रोगों के होने की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। आलोचकों ने कहा है कि प्लेटो ने अपनी शिक्षा प्रणाली यह ही भरोसा किया है, डॉक्टरों व वकीलों पर नहीं।

साहित्य की उपेक्षा– प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में गणित को अधिक तथासाहित्य को कम महत्त्व दिया है। साहित्य जीवन व समाज का दर्पण है और मानव की कोमन भावनाओं को विकसितकर उसके दृष्टिकोण को व्यापक करता है।

कला और साहित्य पर कठोर नियन्त्रण–काव्य और साहित्य पर कठोरप्रतिबंध लगाना उचित नहीं होता। इससे स्वतन्त्र कलात्मक प्रवृत्ति मुरझा सकती है और उस पर विध्वंसकारी प्रभाव पड़सकता है। कला और साहित्य का विकास स्वतन्त्रा वातावरण में ही हो सकता है। बार्कर के शब्दों में- "एक नैतिक उद्देश्यके लिए राज्य के पास में जकड़ी हुई कला मानव की भावनाओं को स्पर्श नहीं कर सकती और जो कला विशुद्ध कला के रूप में श्रोता या पाठक की भावनाओं को गुदगुदा नहीं सकती, वह उसके आधार को भी प्रभावित नहीं कर सकती।"

शिक्षा क्रम लम्बा और खर्चीला है–प्लेटो का शिक्षा-क्रम इतना लम्बा और खर्चीला है कि इसको धनी-वर्ग ही ग्रहण कर सकता है। 35 वर्ष तक लगातार अध्ययन से ज्ञान का उत्साह कम हो जाता है और लोगों में इसके प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह राज्य की व्यक्ति के ऊपर जबरदस्ती थोपी गई इच्छा है।

पुरुषों व स्त्रियों की प्रकृति और भावना में अन्तर–प्लेटो ने सभी पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम निश्चित किया है। दोनों के स्वभाव एवं भावनाओं में अन्तर होने के कारण दोनों के पाठ्यक्रम में अन्तर होना आवश्यकहै। प्लेटो ने दोनों के लिए समान शिक्षा व्यवस्था करने की भारी भूल है।

शिका–योजना में विरोधाभास–एक ओर तो प्लेटो शिक्षा व्यवस्था को आदर्श राज्यका आधार मानता है, दूसरी तरफ राज्य का नियन्त्रण स्थापित करता है। यदि उचित शिक्षा के द्वारा आदर्श राज्य कीस्थापना हो सकती है तो राज्य का शिक्षा पर नियन्त्रण ठीक नहीं है। प्लेटो कहता है कि उचित शिक्षा की व्यवस्था राज्यद्वारा ही हो सकती है, लेकिन दूसरी ओर शिक्षा व्यवस्था आदर्श राज्य की स्थापना के बाद प्रारम्भ होती है। अत: प्लेटोके दृष्टिकोण में विरोधाभास है। बार्कर के अनुसार- "प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में कार्य सम्बन्धी आदर्श तथा चिन्तन सम्बन्धीआदर्श के बीच एक प्रकार की डगमगाहट पाई जाती है।"

तकनीकी शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं–प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में तकनीकी शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं कियाहै, जो आज के औद्योगिक और तकनीकी विकास के लिए आवश्यक है। तकनीकी विकास के बिना किसी भी राज्य काआर्थिक विकास नहीं हो सकता।

अनावश्यक एकरूपता का दोष–प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में सदैव के लिए एक स्थायी और अपरिवर्तनशीलपाठ्यक्रम निश्चित किया है। परन्तु वह मानव स्वभाव की रुचि की विविधता को भूल जाता है जिससे वैचारिक संकीर्णताबढ़ती है।

शिक्षा योजना में अधिनायकवाद–प्रो0 अल्फ्रेड हार्नले के अनुसार प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में अधिनायकतन्त्रा के बीजछिपे हैं। फासीवादी, नाजीवादी और साम्यवादी के समान प्लेटो का राज्य भी शिक्षा पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है, कलाऔर साहित्य पर कठोर प्रतिबन्ध लगाता है, शासन के अनुरूप व्यक्ति के व्यक्तित्त्व को ढालता है एवं व्यक्ति को अपनीप्रतिभा को स्वतन्त्रा रूप से मुखरित करने से वंचित करता है।

व्यक्तित्त्व का स्वतन्त्र विकास नहीं–प्लेटो ने व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का विकास राज्य के हित के अनुकूल किया है। प्लेटोने राज्य के हितों पर व्यक्ति के हितों की बलि चढ़ाकर व्यक्ति के व्यक्तित्त्व की स्वतन्त्रता पर ध्यान नहीं दिया है। पापरके अनुसार- "प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य आत्म-समीक्षा करना एवं समीक्षात्मक विचारों को जगाना नहीं, अपितुमत-शिक्षण है - मस्तिष्क और आत्मा के एक ऐसे साँचे में ढालना है कि वे स्वतन्त्रा रूप से कुछ करे के योग्य न हो सकें।

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का महत्त्व

प्लेटो के सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ हुई फिर भी उसका बहुत महत्त्व है। प्लेटो के विचार आधुनिक युग के लिए भी सत्यहै। आधुनिक युग में भी स्त्रियों की शिक्षा पर जोर दिया जा रहा है, यह प्लेटो की देन है। मानसिक विकास के साथ-साथशारीरिक शिक्षा पर भी आज जोर दिया जा रहा है। आज विश्व के अनेक देशों में खराब साहित्य पर राज्य रोक लगाताहै। प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त के महत्त्व हैं –

प्लेटो पहला चिन्तक है जिसने यह बताया कि शिक्षा का सम्बन्ध केवल जीवन के किसी एक निश्चित काल से न होकरसमस्त जीवन से है। प्लेटो ने आजीवन शिक्षा की व्यवस्था की है।

प्लेटो ने शिक्षा को आजीवन व निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया बताया है। यह सिर्फ मानसिक नहीं, धार्मिक, नैतिक औरशारीरिक भी है, संकीर्ण नहीं, सर्वांगीण हैं, सैद्धान्तिक नहीं, व्यावहारिक भी है।

प्लेटो उचित आयु के लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था करता है।

प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास करना है।

प्लेटो का प्राथमिक स्तर पर शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था आज के राज्यों में भी पाई जाती है। यह प्लेटो के सिद्धान्त काअनुसरण है।

मैक्सी के अनुसार- "प्लेटो की शिक्षा योजना अनेक दृष्टियों से आश्चर्यजनक रूप में आधुनिक लगती है।" प्लेटो ने शिक्षा परजो बल दिया है तथा शिक्षा का जो व्यापक महत्त्व बताया है। उसके लिए संसार उस महान् शिक्षा-शास्त्री का सदैव ऋणी रहेगा। जावेट का सारगर्भित कथन है- "प्लेटो पहला लेखक है, जो स्पष्ट रूप से कहता है कि शिक्षा का क्रम आजीवन चलनाचाहिए।" अत: प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक अमूल्य एवं बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है।

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त उसके दर्शन की आधारशिला है। 'रिपब्लिक' में वर्णित आदर्श राज्य का मुख्य उद्देश्य न्याय की प्राप्ति है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो न्याय के स्वरूप तथा निवास स्थान की विस्तृत चर्चा करता है। 'रिपब्लिक'का

प्रारम्भ और अन्त न्याय की चर्चा से होता है। प्लेटो ने न्याय को कितना महत्त्व दिया है, इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो 'रिपब्लिक' को 'न्याय विषयक ग्रन्थ' कहता है। आदर्श राज्य में न्याय व्यवस्थाकी स्थापना के लिए ही दर्शन का शासन, राज्य नियन्त्रित शिक्षा व्यवस्था तथा साम्यवादी व्यवस्था का प्रावधान किया है। प्लेटोके अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति और प्रशिक्षण के अनुकूल अपने कार्य कुशलतापूर्वक करने चाहिए औरदूसरों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्लेटो तत्कालीन नगर राज्यों की बुराइयों से बहुत ही चिन्तित था। सोफिस्टोंके प्रचार के परिणामस्वरूप यूनानी नगर राज्यों के लोग बहुत ही स्वार्थी और व्यक्तिवादी बन गए थे। उनमें नैतिक मूल्यों का पतन हो चुका था, इन बुराइयों को दूर करने के लिए और राज्य में एकता तथा सामाजिक भ्रातृभाव लानेके लिए प्लेटो न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। प्लेटो न्याय के लिए 'डिकायोस्यून' शब्द का प्रयोग कियाहै, जिसका अर्थ है 'कंसर्निंग जस्टिस' अर्थात् न्याय से सम्बन्धित। यही प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का आधार है। प्लेटो के न्यायसिद्धान्त को समझने लिए इसका आधुनिक अर्थ जानना आवश्यक है।

न्याय का आधुनिक अर्थ

यह लैटिन भाषा के 'श्रने' शब्द से बना है जिसका अर्थ है – बाँधना। तात्पर्य यह है कि न्याय उस व्यवस्था का नाम है जिसकेद्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से जुड़ा रहता है। समाज सामाजिक बन्धनों का समुच्चय है। हरव्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से किसी रूप में सम्बन्ध जुड़ा रहता है। हर सम्बन्ध के पीछे दायित्व और अधिकार होते हैं। प्रत्येकव्यक्ति को अपने अधिकारों का प्रयोग और कर्त्तव्यों का पालन एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत करना पड़ता है। यही न्याय कातकाजा है। मेरियम ने आधुनिक अर्थ में न्याय को परिभाषित करते हुए कहा है– "न्याय उन मान्यताओं और प्रक्रियाओं काजोड़ है जिसके माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को वे सभी अधिकार और सुविधाएँ जुटाई जाती हैं जिन्हें समाज उचित मानता है।"आधुनिक अर्थ में न्याय का सम्बन्ध कानूनी प्रक्रिया द्वारा उपराधियों को दण्ड देने की प्रक्रिया से हो सकता है। उपर्युक्त परिभाषाके आधार पर न्याय के तीन पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं– (i) न्याय का सम्बन्ध समाज की मान्यता या विचारों से है। (ii) न्याय प्रक्रियामें कानून का बहुत महत्त्व है। (iii) न्याय का उद्देश्य समाज द्वारा मान्य अधिकारों और सुविधाओं को जुटाना है। आधुनिक

अर्थमें न्याय कानून की उचित प्रक्रिया का नाम है जिससे समाज में व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा होती है।प्लेटो ने अपना न्याय का सिद्धान्त स्पष्ट करने के लिए सबसे पहले यह बताने का प्रयास किया है कि न्याय क्या नहीं है। प्लेटोने यह बताने के लिए कि न्याय क्या है ? उसका निवास-स्थान कहाँ है ? पहले उस युग में प्रचलित तीन धारणाओं का खण्डनकिया है।

न्याय की परम्परावादी धारणा

इस धारणा का प्रतिपादक सीफेलस है। उसकेअनुसार- "सत्य बोलना और दूसरों का ऋण चुकाना ही न्याय है।" उसके पुत्र पोलिमार्कस के अनुसार- "न्याय प्रत्येक व्यक्ति को वह देने में है, जो उसके लिए उचित है।" इस धारणा का विवेचन करने से यह अर्थ निकलता है कि "न्याय एक ऐसी कला है, जिसके द्वारा मित्रों की भलाई तथा शत्रुओं की बुराई की जाती है। प्लेटो ने इस धारणा का खण्डनचार आधारों पर किया है।

न्याय कला न होकर आत्मा का गुण है। न्याय हमेशा अच्छाई की ओर प्रवृत्त होता है, बुराई की ओर नहीं। कला तोबाह्य वस्तु है जबकि न्याय आत्मा का गुण व मन की प्रवृत्ति है।

शत्रु तथा मित्र के आधार पर न्याय करना व्यवहार में कठिन है। एक अच्छा मित्र भी शत्रु हो सकता है। व्यक्ति के अन्दर छिपी बात कोई नहीं जान सकता, अत: यह पहचानना मुश्किल है कि कौन मित्र है और कौन शत्रु।

मित्र की भलाई करना तो उचित है, लेकिन शत्रु की बुराई करने से उसका अद्यरू पतन हो जाता है। न्याय सेवा भावनापर आधारित होता है। अत: किसी व्यक्ति को पहले से अधिक बदत्तर बनाना न्याय नहीं हो सकता।

मित्र और शत्रु के प्रति भलाई और बुराई का विचार व्यक्तिवादी सिद्धान्तों पर आधारित है जबकि न्याय की अवधारणाका मूल रूप से सामाजिक हित से सरोकार होती है।

न्याय की उग्रवादी धारणा

इस धारणा के प्रवक्ता थ्रेसीमेक्स हैं। उसके अनुसार- "न्यायशक्तिशाली का हित है।" इसका अर्थ है कि 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस'। शासक के हितों की पूर्ति ही न्याय है। व्यक्तिके लिए न्यायप्रिय होने का अर्थ है कि वह सरकार व शासन के हितों का साधन बन जाए। न्याय की इस धारणा काअभिप्राय यह भी है

कि सरकार सदा स्वयं से स्वार्थ के लिए शासन करती है तथा 'अन्याय न्याय से अच्छा है'।प्लेटो इस धारणा का खण्डन निम्न तर्कों के आधार पर करता है–

व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था का एक अविभाज्य अंग है और इस सामाजिक व्यवस्था में उसका तथा उसके कर्तृतव्यों कास्थान निश्चित है। व्यक्ति का सच्चा सुख अपने कर्तृतव्यों के पालन में है न कि स्वार्थों की पूर्ति में।

शासक एक सच्चे कलाकार की तरह होता है। एक सच्चा न्यायपूर्ण शासक वह है, जो अपनी कलाकृति अर्थात् अपनेनागरिकों के हितों में वृद्धि करता है। वह सीमित स्वार्थों का सेवक न होकर समूचे समाज के हितों का सेवक या पोषकहोता है।

न्यायी व्यक्ति ही अन्यायी की तुलना में बुद्धिमान होता है। वह अपने निर्दिष्ट कर्तृतव्यों को पूरा करता हुआ आत्मानन्दप्राप्त करता है। इस प्रकार न्यायी अन्यायी से अच्छा है, न कि अन्यायी न्यायी से।

न्याय की व्यवहारवादी धारणा

इस धारणा का प्रतिपादन ग्लॉकन ने किया है।ग्लॉकन का मानना है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है। मनुष्य ने प्राकृतिक अवस्था में उत्पन्न अन्याय को दूर करने केलिए समझौता किया कि वे न तो अन्याय करेंगे और न अन्याय को सहन करेंगे। ग्लॉकन का तर्क है कि न्याय एक कृत्रिमव्यवस्था है जिसकी उत्पत्ति का आधार भय है। न्याय भय की संतान है। यह दुर्बलों की आवश्यकता है ताकि वे शक्तिशालीके विरुद्ध अपनी रक्षा कर सकें। अतः ग्लॉकन के अनुसार– "न्याय दुर्बल का हित है।"

प्लेटो के विचारानुसार न्याय का निवास मनुष्य की आत्मा में है न कि किसी बाह्य समझौते में। न्याय व्यक्ति की आत्माका गुण है, न्याय उसकी सहज प्रकृति है। न्याय का पालन भय से नहीं, स्वाभाविक रूप से होता है।उपर्युक्त तीनों धारणाओं का खण्डन करते हुए प्लेटो कहता है कि "न्याय मनुष्य की आत्मा का गुण तथा मानव मस्तिष्कका स्वभाव है, ऐसा गुण तथा ऐसा स्वभाव जिसे एक बार प्राप्त करने पर मनुष्य सदैव एक ही सदाचारी व व्यवहार तथामार्ग का अनुसरण करता है।"

प्लेटो की अवधारणा

प्लेटो का न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना अलग–अलग स्वभाव होता है। मनुष्यकी आत्मा में तीन गुण होते

हैं- विवेक, साहस और क्षुधा। आत्मा के प्रत्येक तत्त्व का अपना स्वाभाविक कार्य है। विवेक काकार्य नियन्त्रण करना, साहस का कार्य रक्षा करना एवं क्षुधा का कार्य भौतिक वस्तुओं का संचय करना है। प्लेटो के अनुसारयदि मानव आत्मा के तीनों गुणों के आधार पर व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुकूल कार्य करे तो वह न्याय है। प्लेटो के अनुसार-"एक व्यक्ति को केवल एक ही कार्य करना चाहिए, जो उसकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है।" इस प्रकार प्लेटो प्रचलित तीनोंधारणाओं का खण्डन करते हुए न्याय को बाह्य वस्तु न मानकर आत्मा का गुण मानता है। प्लेटो काकहना है- "न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक माँग है।" प्लेटो के अनुसार न्याय केदो रूप हैं –

सामाजिक न्याय

प्लेटो का कहना है कि सामाजिक रूप में न्याय तभी सम्भव है जब समाज के सभी वर्ग अपने स्वभावानुकूल कार्यों को पूरा करते हैं और परस्पर सामंजस्य तथा एकता बनाए रखते हैं। प्लेटो राज्य मेंदार्शनिक वर्ग में विवेक, सैनिक वर्ग में साहस तथा उत्पादक वर्ग में क्षुधा या तृष्णा तत्त्वों की प्रधानता स्वीकारता है। न्यायका सम्बन्ध तो समूचे राज्य से होता है। प्रत्येक वर्ग अपने अपने कर्त्तव्यों का उचित दिशा में निर्वहन करके न्याय की स्थापनाकर सकता है। प्लेटो का कहना है कि राज्य के तीनों - दार्शनिक शासक को, सैनिक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग द्वाराअपने-अपने कार्यों का समुचित निर्वाह और पालन करना ही सामाजिक न्याय है। प्लेटो की न्याय सम्बन्धी धारणाविशिष्टीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही ऐसा कार्य करना चाहिए जो उसके स्वभावके अनुकूल हो। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के बरे में बार्कर का कहना है- "न्याय का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उस कर्त्तव्यका पालन, जो उसके प्राकृतिक गुणों एवं सामाजिक स्थिति के अनुकूल है। नागरिक की स्वधर्म चेतना तथा सार्वजनिकजीवन में उसकी अभिव्यंजना ही राज्य का न्याय है।" कवायर के अनुसार- "प्रत्येक व्यक्ति को उसके अनुकूल भूमिकाऔर कार्य देना ही न्याय है।" प्लेटो के अनुसार सच्चे न्याय के लिए समाज के सभी वर्गों में एकता व सामंजस्य बनाएरखना आवश्यक होता है। सेबाइन के अनुसार- "न्याय समाज की एकता का शत्रु है, यह उन व्यक्तियों के परस्पर तालमेलका नाम है, जिनमें से प्रत्येक ने अपनी प्रकृति और शिक्षा-दीक्षा के अनुसार अपने कर्त्तव्य को चुन लिया है और उसकापालन करता है। यह व्यक्तिगत धर्म भी है और सामाजिक

धर्म भी, क्योंकि इसके द्वारा इसके राज्य तथा घटकों का परमकल्याण की प्राप्ति होती है।" अतएव वही राज्य न्यायी होता है जहाँ दार्शनिक राजा शासन करता है, सैनिक रक्षा करताहै और उत्पादक उत्पादन करता है। ये तीनों वर्ग अपने-अपने कार्य क्षेत्रा में विशिष्टता प्राप्त करते हैं, एक-दूसरे केकार्यक्षेत्रा में हस्तक्षेप किए बिना परस्पर सामंजस्य बनाए रखते हैं।

व्यक्तिगत न्याय

प्लेटो व्यक्तिगत न्याय के बारे में भी वही आधार अपनाता है, जो सामाजिकन्याय के बारे में अपनाता है। प्लेटो का कहना है कि जब व्यक्ति की आत्मा के साहस और क्षुधा तत्त्व विवेक के नियन्त्रणव अनुशासन में कार्य करते हैं तो व्यक्तिगत न्याय की प्राप्ति होती है। प्लेटो के अनुसार राज्य व्यक्ति का ही विस्तृत रूपहै। प्लेटो का कहना है कि- "राज्य की उत्पत्ति वृक्षों और चट्टानों से नहीं, बल्कि उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों केचरित्र से होती है।" जिस प्रकार सामाजिक न्याय में तीनों वर्ग अपने-अपने कार्यक्षेत्रा में रहते हैं, उसी प्रकार व्यक्तिगतन्याय में भी आत्मा के तीनों तत्त्व अपने ही क्षेत्रों में सीमित रहते हैं। आत्मा के तीनों तत्त्वों में सहयोग, एकता, सामंजस्यएवं संतुलन पाया जाता है। वैयक्तिक न्याय ही वह गुण है, जो व्यक्ति को सामाजिक बनाता है। अतः वैयक्तिक न्यायके बिना सामाजिक न्याय की कल्पना नहीं की जा सकती।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ

विशिष्टीकरण का सिद्धान्त –प्लिटो का मानना है कि मनुष्य की आत्मा के प्रत्येक तत्त्व का अपना विशिष्ट कार्य होता है। विवेक का कार्य नेतृत्व करना, साहस का कार्य रक्षा करना और क्षुधा का कार्य उत्पादनकरना है। विवेक, साहस और क्षुधा तत्त्व दार्शनिक वर्ग, सैनिक वर्ग और उत्पादक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं अर्थात्समाज का वह वर्ग जिसमें विवेक तत्त्व की प्रधानता होती है, शासन करने के योग्य है। साहस प्रधान वर्ग युद्ध तथा क्षुधाप्रधान वर्ग उत्पादन करने के योगय होता है। चूँकि प्रत्येक वर्ग का अपना-अपना विशिष्ट कार्य होता है, एतएवअपनी-अपनी प्राकृतिक योग्यतानुसार ही कार्य करना न्याय है।

अहस्तक्षेप का सिद्धान्त–प्लेटो का मानना है कि आत्मा के तीनों तत्त्वों या तीनोंवर्गों का अपना-अपना कार्यक्षेत्रा होता है। उनके लिए यह उचित है कि वे एक दूसरे के कार्यक्षेत्रा में हस्तक्षेप ने करें।दार्शनिक शासक को सैनिक वर्ग

व उत्पादक वर्ग के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसी प्रकारउत्पादक वर्ग को सैनिक व दार्शनिक वर्ग के कार्यों में तथा सैनिक वर्ग को दार्शनिक तथा उत्पादक वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेपनहीं करना चाहिए, यही बात आत्मा के तत्त्वों पर लागू होती है। एतएव अपने अपने कार्यों को निर्बाध रूप से करना औरदूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करना ही न्याय है। यदि व्यक्तियों या तीनों वर्गों या तत्त्वों द्वारा एक-दूसरे के कार्यों मेंअनावश्यक हस्तक्षेप किया जाएगा तो संघर्ष और विनाश की ही उत्पत्ति होगी।

सामंजस्य तथा एकता का सिद्धान्त—प्लेटो अपने न्याय के सिद्धान्त द्वारा राज्यके तीनों वर्गों व आत्मा के तीनों तत्त्वों में सामंजस्य ओर एकता बनाए रखना चाहता है। प्लेटो के अनुसार कार्यविशिष्टीकरण और अहस्तक्षेप की नीति के द्वारा आत्मा का प्रत्येक तत्त्व व राज्य का प्रत्येक वर्ग अपने को संयमित रखताहै एवं अपने से श्रेष्ठ तत्त्व की अधीनता स्वीकार करके स्वेच्छा से सामंजस्य एवं एकता स्थापित करता है। प्लेटो का न्यायसिद्धान्त समरसता का सिद्धान्त है, एकता व सहयोग का सिद्धान्त है, प्रेम और शान्ति का सिद्धान्त है। यह न्यायनिष्ठसमाज की स्थापना का सूचक है।

न्याय सिद्धान्त रचनात्मक सिद्धान्त है—प्लेटो न्याय की आधारशिला परराज्यरूपी सुन्दर भवन का निर्माण करता है जहाँ व्यक्ति और वर्ग एक-दूसरे के साथ ऐसे एकता के सूत्रा में बँधे रहतेहैं कि प्रत्येक सम्पूर्ण का निर्माण करते हुए अपने वास्तविक सौन्दर्य को भी परिलक्षित करता है। न्याय राज्य के तीनोंनिर्माणकारी तत्त्वों में घनिष्ठ सम्बन्ध पैदा करता है। प्लेटो का न्याय भवन निर्माण कला से मिलता-जुलता है। जिस प्रकार एक भवन निर्माण विशेषज्ञ अपने अधीनस्थ कारीगरों को अंकुश में रखता है, उसी प्रकार न्याय मनुष्य की विभिन्नआकांक्षाओं को नियन्त्रित कर तुम्हें अनेक कार्य करने से रोकता है एवं उस कार्य की ओर प्रेरित करता है जिसे करनेकी उसमें स्वाभाविक क्षमता होती है। इस प्रकार न्याय का सिद्धान्त एक रचनात्मक कार्यक्रम पेश करता है।

स्त्रियों को समान अधिकार—प्लेटो अपने न्याय सिद्धान्त में स्त्रियों और पुरुषों को समान मानकर स्त्रियों को सार्वजनिकक्षेत्रा में बराबर अधिकर प्रदान करता है। प्लेटो का विश्वास है कि स्त्रियाँ राजनीतिक व सैनिक कार्यों में भाग ले सकतीहैं।

न्याय के दो प्रकार—प्लेटो न्याय को दो भागों - वैयक्तिक न्याय तथा सामाजिक न्याय में बाँटता है। मूलत: न्याय का निवास स्थान आत्मा में होता है।

प्लेटो राज्य को व्यक्ति का वृहत् रूप मानता है। प्लेटो न्यायका निवास राज्य में भी मानता है क्योंकि राज्य आत्मा के तीनों तत्त्वों व तीनों वर्गों का संयोग है। इसलिए प्लेटो इसे सामाजिक न्याय कहता है। वैयक्तिक न्याय द्वारा आत्मा की तीनों प्रवृत्तियों में सामंजस्य पैदा होता है तथा व्यक्ति में एकता स्थापित होती है। वैयक्तिक न्याय में आत्मा के तीनों तत्त्व अपना-अपना कार्य करते हुए परस्पर तालमेल बनाए रखते हैं। इस तरह वैयक्तिक न्याय का भी आधार वही है, जो सामाजिक न्याय है। अत: दोनों न्यायों में आधारभूत समानता है।

व्यक्तिवाद का विरोधी–प्लेटो का मानना है कि समाज या राज्य से अलग व्यक्तिका कोई अस्तित्त्व नहीं है। व्यक्ति और राज्य दोनों का लक्ष्य एक श्रेष्ठ जीवन का विकास करना है। राज्य के अंग केरूप में अपनी प्राकृतिक क्षमता तथा प्रशिक्षण के आधार पर निर्धारित क्षेत्रा में अधिक से अधिक श्रेष्ठता प्राप्त करके ही व्यक्तिअपने जीवन का समुचित विकास कर सकता है। प्लेटो ने अपने इस सिद्धान्त द्वारा सोफिस्टों की व्यक्तिवादी विचारधारा को यूनानी नगर राज्यों के लिए सबसे बड़ा अभिशाप माना है। प्लेटो का उद्देश्य संकीर्ण स्वार्थों से व्यक्ति को निकालकरस्वयं तथा राज्य के कल्याण का मार्ग दिखाना है। इस प्रकार व्यक्ति एक व्यवस्था का अंग है और उसका उद्देश्य एकाकीआत्मा के सुखों की सिद्धि नहीं बल्कि व्यवस्था में एक नियत स्थान की पूर्ति करना है।

न्याय सिद्धान्त के सहायक एवं अनिवार्य साधन–प्लेटो ने अपने न्याय के सिद्धान्त को अमलीजामा पहनाने के लिए दो साधनों की व्यवस्था की है। उनमें से पहला शिक्षा का सकारात्मक तरीका है तथा दूसरासाम्यवाद नकारातमक तरीका है। प्लेटो का विचार है कि अन्याय का आधार अज्ञान होता है। अज्ञान एक मानसिक रोगहोता है और उसकी एकमात्रा उपचार या औषधि उचित शिक्षा है। प्लेटो अपने न्याय के सिद्धान्त में शिक्षा द्वारा अज्ञानतारूपी रोग का ईलाज करना चाहता है। साम्यवादी व्यवस्था शासक व सैनिक वर्ग को पथभ्रष्ट होने से रोकने कानकारात्मक तरीका है। ये दोनों तरीके राज्य से अज्ञान को हटा सकते हैं।

दार्शनिक शासक–न्याय की प्राप्ति के लिए राज्य के शासन की बागडोर एक विवेकी, निस्वार्थीऔर कर्तव्यपरायण व्यक्ति के हाथ में होनी चाहिए। प्लेटो ने ऐसे सद्गुणी व्यक्ति को दार्शनिक शासक का नाम दियाहै। प्लेटो का दार्शनिक शासक विवेक की साक्षात् प्रतिमूर्ति होता है। वह कानून से ऊपर है। उसका प्रमुख कर्त्तव्य सैनिकव उत्पादक वर्ग पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करना है। दार्शनिक शासक ही समाज के तीनों वर्गों में सामंजस्य एवं सन्तुलनस्थापित करता है। राज्य

को आंगिक एकता प्रदान करता है। प्लेटो का दावा है कि शासक वर्ग न तो स्वेच्छाचारी होसकता है और न ही अत्याचारी, ग्रात्सियान्सकी के अनुसार- "प्लेटो की न्याय व्यवस्था में राज्य दार्शनिकों के लिए नहोकर दार्शनिक राज्य के लिए होते हैं।" प्लेटो का दार्शनिक शासक सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण–प्लेटो के मतानुसार जब व्यक्ति अपनी मूल प्रवृत्ति के अनुसार कार्यकरता है तब उसमें उसकी रुचि बढ़ती है, वह विशिष्टता प्राप्त करता है और उनमें अधिकतम कुशलता प्राप्त करता है।इससे कार्यों के विशेषीकरण के सिद्धान्त का जन्म होता है।

सावयवी एकता का सिद्धान्त–प्लेटो को न्याय सिद्धान्त में व्यक्ति राज्य के लिए है औरराज्य के प्रति उसके कर्त्तव्य ही हैं अधिकार नहीं। राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन है। प्लेटो ने कहा है- "नागरिकोंके कर्त्तव्य भावना ही राज्य का न्याय सिद्धान्त है।" राज्य से अलग व्यक्ति का कोई अस्तित्त्व नहीं है। प्लेटो का न्यायसिद्धान्त राज्य में एकता व सामंजस्य स्थापित करता है। व्यक्ति का व्यक्तित्त्व राज्य के व्यक्तित्त्व में ही लीन हो जाता है।

नैतिकता का सिद्धान्त–प्लेटो की न्याय सम्बन्धी अवधारणा को केवल वैधानिक कर्त्तव्यों परही आधारित नहीं किया गया है बल्कि नैतिक व सर्वव्यापी कर्त्तव्यों का प्रावधान है। अत: प्लेटो का सिद्धान्त नैतिकता कापोषक है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से अपने निर्दिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करते हुए दूसरों के क्षेत्राधिकार में प्रवेश नहींकरता। प्लेटो बुराई का प्रतिकार भलाई से करने की बात करता है। प्लेटो का न्याय उन सभी सद्गुणों का सम्मिलितरूप है, जो मनुष्य दूसरों के साथ अपने आचरण में प्रदर्शित करता है। प्लेटो स्वधर्म पालन पर जोर देता है। इस अर्थमें प्लेटो का न्याय सिद्धान्त नैतिक और आध्यात्मिक धारणा है।

आदर्श राज्य का रक्षक–प्लेटो ने न्याय को ऐसा गुण माना है, जो राज्य में तब भी निवासकरता है जब विवेक, साहस और आत्मसंयम क्षीण हो जाते हैं। प्लेटो का मत है कि न्याय की अनुपस्थिति में समाजअक्षमता, अव्यवस्था, स्वार्थपरता, फूट और कलह जैसी व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है। अत: प्लेटो का न्याय-सिद्धान्तआदर्श राज्य का रक्षक व त्राता है।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की आलोचनाएँ

प्लेटो का न्याय केवल नैतिक है, कानूनी नहीं–प्लेटो का न्याय कासिद्धान्त किसी दण्डकारी शक्ति के अभाव में केवल नैतिक बन कर रह जाता

है। जब तक किसी कर्त्तव्य के पीछे कानूनीशक्ति न हो तो वह प्रभावी नहीं हो सकता। बार्कर का कहना है- "प्लेटो का न्याय वस्तुतः न्याय नहीं है, यह मनुष्यों कोकेवल अपने कर्त्तव्यों तक सीमित करने वाली भावना मात्र है, कोई ठोस कानून नहीं।" प्लेटो ने कानून की व्यवस्था नकरके न्याय को निष्क्रिय बना दिया है।

कर्त्तव्यों पर अत्यधिक जोर–प्लेटो मनुष्य को अपने कार्यक्षेत्रा तक सीमित रहने कासुझाव देता है। वह अधिकारों के कारण मनुष्यों में होने वाले संघर्ष के समाधान की कोई व्यवस्था नहीं करता है। प्लेटोने कर्त्तव्यों पर अधिक बल देकर अधिकारों की पूर्ण उपेक्षा की है। प्लेटो ने नैतिक कर्त्तव्यों और अधिकारों की विभाजनरेखा को मिटाने का प्रयास किया है। अधिकार और कर्त्तव्य एक सिक्के के दो पहलू होते हैं और ये दोनों साथ-साथचलते हैं।

व्यक्तित्त्व के पूर्ण विकास के लिए अवसर का अभाव –व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व के विकास के लिए उसे अपनी सारी योग्यताओं व क्षमताओं को विकसित करने का अवसर मिलना आवश्यक होता है अर्थात् आत्मा के तीनों गुणों का विकास करने का अवसर मिलना चाहिए। किन्तु प्लेटो व्यक्तिको केवल आत्मा के किसी एक गुण के आधार पर ही कार्य विशिष्टीकरण पर जोर देता है। आत्मा के तीनों गुण किसीएक व्यक्ति में इकट्ठे भी मिल सकते हैं। इसलिए प्लेटो द्वारा किसी एक गुण के आधार पर व्यक्ति का विकास अपूर्ण विकासहै। इससे समाज को भी व्यक्ति की सम्पूर्ण प्रतिभाओं का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा समाज अविकसित समाज होता है।

अत्यधिक एकीकरण व अत्यधिक पृथक्करण की प्रवृत्ति –प्लेटो व्यक्ति को राज्य के अधीन एवं साहस व क्षुधा को विवेक के अधीन कर देता है। यह अत्यधिक एकीकरण का सिद्धान्त है। यह व्यक्ति को राज्य के हित का साधन मानता है। व्यक्ति केवल एक ही गुण का विकास कर सकता है। उसके शेष दो गुण अन्य दो गुणों की बलि ले लेते हैं। दूसरी तरफ प्लेटो ने राज्य के नागरिकों का वर्गीकरण करके तथा उनमेंकार्य-विभाजन करके इस एकीकरण को तोड़ा है। इससे व्यक्ति में सामान्य हित का अभाव हो जाता है। इससे समाजमें वर्ग-हित की भावना जन्म लेती है। अतः इससे जातीय और पृथक्वादिता को इतना अधिक प्रोत्साहन मिलेगा कि सामुदायिक हितों का लक्ष्य ही पीछे छूट जाएगा।

आधुनिक राज्यों में लागू नहीं–आधुनिक राज्यों के दृष्टिकोण से यह विचार अव्यावहारिक है। आधुनिक राज्यों में जनसंख्या, क्षेत्रा, अर्थव्यवस्था और

शासन संचालन सम्बन्धी समस्या जटिलहो गई है। प्लेटो के समय में जनसंख्या व क्षेत्राफल की दृष्टि से छोटे-छोटे राज्य होते थे। जनसंख्या को आत्मा के तीनतत्त्वों के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा जा सकता था, लेकिन आज के युग में इस सिद्धान्त की बात करना असम्भव है।

निरंकुशवाद का प्रतीक—प्लेटो ने दार्शनिक शासक के हाथों में सम्पूर्ण राजनीतिक सत्तासौंपकर निरंकुशतावाद को बढ़ावा दिया है। प्लेटो का तर्क है कि यह शासक विवेक के आधार पर सत्ता का संचालन करेगा। दार्शनिक शासक सद्गुणी होने के कारण विवेकपूर्ण ढंग से शासन करेगा। प्लेटो ने शासक वर्ग को कानूनी व अन्य नियन्त्रणों से मुक्त रखा है। सत्य तो यह है कि यदि इतनी सारी शक्तियाँ एक व्यक्ति के हाथ में आ जाएँ तो वहअवश्य ही निरंकुश बन जाएगा और अपने राजनीतिक विरोधियों को कुचल देगा, शक्ति का मद किसी भी विवेकी व्यक्तिको भ्रष्ट कर सकता है।

अप्रजातान्त्रिक—प्लेटो ने व्यक्तियों की समानता को अस्वीकार किया है। उसका मानना है कि शासन कराने के गुण सभी व्यक्तियों में नहीं होते। वह व्यक्ति के अधिकारों की उपेक्षा कर केवल कर्त्तव्यों पर जोर देता है। प्लेटोके आदर्श राज्य में एक अल्पसंख्यक वर्ग का बहुसंख्यक वर्ग पर प्रतिनिधित्व है। प्रत्येक वर्ग के ऊपर कुछ बन्धन डालेगए हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त समानता तथा स्वतन्त्रता के अधिकार का उल्लंघन करता है।

वर्ग- सघंर्ष—प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में समाज के तीन वर्गों को कठोर विभाजन और व्यक्ति को उसकीमूल प्रवृत्ति के साथ बाँध दिया गया है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में मनुष्यों में होने वाले स्वाभाविक संघर्षों के समाधान की कोई व्यवस्था नहीं की गई है और न ही कोई ऐसी व्यवस्था करता है जिससे तीनों वर्गों में सौहार्द बन सके और संघर्ष की भावना का अन्त हो सके।

सामान्य जनता पर अविश्वास—प्लेटो का बहुमत पर बिलकुल विश्वास नहीं है। वहकलाकारों एवं कृषकों में प्रशासन की जरा भी क्षमता नहीं मानता। जिस प्रकार एक रोगी डॉक्टर के अधीन हो जाता है,उसी प्रकार प्लेटो ने राज्य को बौद्धिक वर्ग के हाथों में सौंप दिया है। प्लेटो का यह मानना गलत है कि ज्ञान या विवेककेवल दार्शनिक राजा के पास हो सकता है, सैनिक व उत्पादक वर्ग के पास नहीं।

विरोधाभास सिद्धान्त—प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त विभिन्न वर्गों में पारस्परिक अहस्तक्षेप को अस्वीकार करता है। राज्य के तीनों वर्ग एक-दूसरे के कार्यों में

हस्तक्षेप न करते हुए अपने-अपने कर्त्तव्यों का निर्वहनकरते हैं। दूसरी तरफ प्लेटो शासक वर्ग को सैनिक व उत्पादक वर्ग पर कठोर नियन्त्रण का अधिकार देकर विरोधाभास को ही जन्म देता है। अत: यह धारणा विरोधाभासी है।

अमनोवैज्ञानिक–प्लेटो ने न्याय सिद्धान्त में शासक व सैनिक वर्ग के लिए जिस साम्यवादी प्रणाली का प्रतिपादन किया है, वह स्त्री-पुरुषों के मनोविज्ञान पर भी आधारित नहीं है। परिवार व सम्पत्ति का मोह त्यागकर कोई भी व्यक्ति सामाजिक कार्यों का प्रतिपादन ठीक ढंग से नहीं कर सकता। प्लेटो ने व्यक्तियों को इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के पारस्परिक संघर्ष की भी उपेक्षा की है। यह सिद्धान्त एक तरह से यांत्रिक जीवन पद्धति पर ही आधारितहै।

श्रम विभाजन की प्रणाली का अभाव–प्लेटो के अनुसार समाज के तीन वर्गोंकी स्थापना व्यक्तियों को आत्मा के गुणों के अनुरूप होनी चाहिए। लेकिन प्लेटो ने यह नहीं बताया कि इस बात कानिर्णय कैसे होगा कि किसमें विवेक है, या किसमें साहस, किसे उत्पादक वर्ग में रखा जाए और किसे शासक वर्ग में ?प्लेटो का यह मानना कि हर व्यक्ति अपनी आत्मा के गुणों को स्वयं जानकर अपना वर्ग निश्चित करे, अत्यन्त भ्रामक वअव्यावहारिक है।

अनुभव का कोई महत्त्व नहीं–प्लेटो के सिद्धान्त में अनुभव का कोई महत्त्वनहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि प्लेटो नागरिक जीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को नहीं सुलझा सके जिसके लिएवे इतने इच्छुक थे।

अधिकारों और दण्ड की व्यवस्था का अभाव–प्लेटो ने अपने न्यायसिद्धान्त में किसी व्यक्ति द्वारा दूसरे के कार्यक्षेत्रा में हस्तक्षेप करने पर दण्ड का कोई प्रावधान नहीं किया है। दण्डात्मकशक्ति के अभाव में मानव स्वभावानुसार दूसरे के क्षेत्राधिकार को अवश्य चुनौती देता है। प्लेटो ने व्यक्ति के अधिकारोंकी भी कोई व्यवस्था नहीं की है।

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त सर्वसत्तावादी तथा फासीवादी तत्त्वों से पोषित है।

प्लेटो के सिद्धान्त का महत्त्व

प्लेटो ने इस सिद्धान्त के माध्यम से समाज और राज्य में एकता स्थापित करने का प्रयास किया है। प्लेटो यह मानकर चलता है कि आत्मारोपित कर्त्तव्यपरायणता और व्यावसायिक दक्षता से समाज के विभिन्न वर्गों में कार्यकुशलता एवंसामाजिक एकता की स्थापना होगी। यही प्लेटो का मूल उद्देश्य था।

यह सिद्धान्त समाज में अज्ञान को समस्याओं का जनक मानता है और उसके निवारण हेतु सुव्यवस्थित शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन करता है। आज भी इसका महत्त्व स्वत: स्पष्ट है।

यह सिद्धान्त सार्वजनिक जीवन के पतन का प्रमुख कारण राजनीतिक सत्ता व आर्थिक सत्ता के एक ही हाथ में केन्द्रित होने को मानता है और इस दृष्टि से दोनों सत्ताओं के पृथक्करण की व्यवस्था करता है।

प्लेटो ने जिस न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह आजकल की शासन-व्यवस्था में व्याप्त दोषों को दूर करने के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है। आज की राजनीति में कर्त्तव्यनिष्ठा की कमी, कार्य का विशेषीकरण का अभाव, विवेकपूर्ण नियन्त्रण का अभाव जैसी समस्याएँ हैं। यदि प्लेटो के स्वधर्म, सदाचरण, नैतिकता को हम आधार मानकर चलें तो ये त्रुटियाँ स्वत: ही समाप्त हो जाएंगी।

2

अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत

अरस्तू का जन्म मकदूनिया के स्तगिरा नामक नगर में 384 ई. पू. में हुआ था। उनके पिता सिकंदर के पितामह (अमिंतास) के दरबार में चिकित्सक थे। अत: प्रतिष्ठित परिवार में जन्में दार्शनिक अरस्तू बाल्यकाल से ही अत्यंत मेधावी और कुशाग्र बुद्धि के थे। वे प्लेटो के परमप्रिय शिष्य, जिन्हें प्लेटो अपने वीधापीठ का मस्तिष्क कहा करते थे। उन्हें सिकंदर महान का गुरू होने का भी गौरव प्राप्त है। ज्ञान-विज्ञान के लगभग सभी क्षेत्रों पर उनका समान अधिकार था। यही कारण है कि अरस्तू को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की विधाओं का आदि आचार्य माना जाता है। उनकी कृतियों की संख्या 400 मानी गई है, किन्तु उनकी प्रतिष्ठा के लिए दो ही ग्रंथ उपलब्ध है- 'तेखनेस रितेरिकेस' जो भाषण कला से सम्बन्धित है। इसका अनुवाद 'भाषण कला' किया गया, दूसरा 'पेरिपोइतिकेस' जो काव्यशास्त्र से सम्बन्धित है। जिसका अनुवाद 'काव्यशास्त्र' किया गया हालांकि 'काव्यशास्त्र' का यह ग्रंथ वृहत् ग्रंथ न होकर एक छोटी-सी पुस्तिका मात्र है, जिसमें कोई व्यवस्थित विस्तृत काव्य शास्त्रीय सिद्धांत निरूपण नहीं है। माना जाता है कि इसमें उनके द्वारा अपने विधापीठ में पढाने के लिए तैयार की नई समाग्री को उनके विषयों ने एकत्र कर दिया जो एक अत्यंत महत्वपूर्ण संदर्भ ग्रंथ बन पड़ा है। 'काव्यशास्त्र' की रचना के मूल में अरस्तू के दो उद्देश्य रहे हैं- एक तो अपनी दृष्टि से यूनानी काव्य का वस्तुगत विवेचन-विश्लेषण दूसरा अपने गुरू प्लेटो द्वारा काव्य पर किये गये आक्षेपों का समाधान। किंतु इस प्रसंग

में अरस्तू ने न तो कहीं प्लेटो का नाम लिया है, न खंडनात्मक तेवर अपनाया है और न गुरू के विचारों की तुलना में अपने विचारों को श्रेष्ठ ठहराने की अशालीनता प्रदर्शित की है, बल्कि उन्होंने प्लेटो के काव्य विषयक विचारों की दृढ़तापूर्वक और प्रतिभायुक्त समीक्षा की है।

अरस्तू ने जिन काव्यशास्त्रीय सिद्धांतो का प्रतिपादन किया, उनमें से तीन सिद्धांत विशेष महत्व रखते हैं- (1) अनुकरण सिद्धांत (2) त्रासदी-विवेचन (3) विरेचन सिद्धांत।।

अनुकरण-सिद्धान्त

'इमिटेशन' जो यूनानी के 'मिमेसिस' का अंग्रेजी अनुवाद है, और हिन्दी में अनुकरण। अरस्तू ने प्लेटो द्वारा प्रयुक्त शब्द तो स्वीकार करते है, लेकिन उसे एक नवीन अर्थ में। प्लेटो ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग हू-ब-हू नकल मानते है जबकि अरस्तू ने उसको एक सीमित तथा निश्चित अर्थ दिया। अरस्तू ने कला को 'प्रकृति की अनुकृति' माना है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अनुकरण उनके यहाँ 'बाह्यरूप की अनुकृति' नहीं है, जैसी कि प्लेटो की धारणा थी। बल्कि वे कहते हैं कि अनुकरण प्रकृति के बाह्यरूपों का नहीं, उसकी सर्जन-प्रक्रिया का है। कलाकार बाह्यजगत् से सामग्री चुनता है और उसे अपने तरीके से छाँटकर और तराशकर इस प्रकार पुनः संयोजित करता है कि वह कलाकृति कलात्मक अनुभूति को जन्म देती है। प्रकृति में जो कुछ अपूर्णता रह जाती है, उसे कलाकार पूर्ण करने की चेष्टा करता है। इस सम्बन्ध में एबरक्रोम्बे का मत उल्लेखनिय है। उन्होंने लिखा है कि अरस्तू का तर्क था कि यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती, तो वह हमें उससे कुछ अधिक नहीं दे सकती थी जो प्रकृति देती है, पर तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वादन इसलिए करते हैं कि वह हमें वह प्रदान करती है, जो प्रकृति नहीं दे सकती। कवि की कल्पना में जो वस्तु-रूप प्रस्तुत होता है, उसी को वह भाषा में प्रस्तुत करता है। यह पुनःप्रस्तुतीकरण ही अनुकरण है। अरस्तू के अनुसार कलाकार तीन प्रकार की वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण कर सकता है- (1) प्रतीयमान रूप में, अर्थात् जो वस्तु जैसी है, वैसी ही दिखाई दे। (2) सम्भाव्य रूप में, अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है, किंतु वैसी हो सकती है। (3) आदर्श रूप में, अर्थात् किसी वस्तु को ऐसा होना चाहिए। इनमें पहली स्थिति यथातथ्यात्मक अनुकरण मानी जा सकती हैं। जबकि दूसरी एवं तीसरी स्थितियों में वास्तविक जगत् के

अनुकरण से भिन्नता होती है। इन स्थितियों में कविता के संदर्भ में कहे तो, कवि बाह्य जगत् को आधार बनाता है, किन्तु वह कल्पना तथा आदर्श भावना का आधार लेकर उस वस्तु का चित्रण कुछ इस प्रकार करता है कि वह बाह्य, इन्द्रियगोचर या भौतिक जगत् की सीमा से बहुत ऊपर उठ जाती है। अरस्तू का एक और विचार महत्वपूर्ण है। वह है इतिहास को लेकर। इतिहास और काव्य की तुलना करते हुए अरस्तू ने काव्य के सत्य को इतिहास के तथ्य से ऊँचा माना है। अरस्तू का मत है –श्कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि – (1) इतिहास केवल घटित हो चुकी घटनाओं का उल्लेख करता है, जबकि काव्य में सम्भाव्य या घटित होनी वाली आदर्श स्थितियों का चित्रण होता है। (2) इतिहास केवल बाह्य जगत् की विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख एवं विवेचन प्रस्तुत करता है, जबकि काव्य का सत्य घटना विशेष तक ही सीमित नहीं होता, बल्कि 'सामान्य' होता है। (3) इतिहास वस्तुपरक होता है। इसके विपरीत काव्य में अनुभूति एवं विचार का सहारा लिया जाता है। श्रेष्ठ काव्य में तो दर्शन तत्त्व की भी प्रधानता होती है। समग्रतः अरस्तू अपनी 'अनुकरण' विषयक अवधारणा में इस तथ्य पर बल देते हैं कि काव्य में केवल बाह्य जगत् में प्रत्यक्ष जीवन का ही अनुकरण नहीं किया जाता, बल्कि सूक्ष्म, आंतरिक और अमूर्त जीवन का भी अनुकरण किया जाता है। इसके लिए कवि या कलाकार अनुभूति एवं कल्पना का आश्रय ग्रहण करता है। वे अनुकरण के तीन बिषय मानते हैं- (1) प्रकृति (2) इतिहास (3) कार्यरत मनुष्य।

त्रासदी-विवेचन

पश्चिम में त्रासदी का सर्वप्रथम विवेचन यूनान में हुआ। यधपि अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने भी त्रासदी पर अपने विचार प्रकट किये थे, तथापि अरस्तू ने ही सबसे पहले त्रासदी का गम्भीर एवं विशद विवेचन किया। त्रासदी ग्रीक साहित्य की महत्वपूर्ण विधा रही है। यह मूलतः नृत्य-गीत परम्परा से विकसित नाट्यरूप था। जिसे एस्खिलुस और सोफोक्लीज जैसे नाट्यकारों ने समृद्ध किया। यों तो उस युग में कामदी, महाकाव्य और गीतिकाव्य जैसी साहित्यिक विधाएँ भी यूनान में खूब प्रचलित थीं, किन्तु अरस्तू ने अपनी पुस्तक श्पेरिपोइतिकेस' (पोयटिक्स) में सर्वाधिक महत्व त्रासदी को ही दिया। त्रासदी, त्रास अर्थात् कष्ट देने वाली विधा को कह सकते हैं, किन्तु अरस्तू ने त्रासदी की परिभाषा देते हुए कहा है कि – 'त्रासदी किसी गम्भीर स्वतरूपूर्ण निश्चित आयाम से युक्त कार्य

की अनुकृति है।' ' अर्थात् त्रासदी में जीवन के किसी पक्ष का गंभीर चित्रण संवाद तथा अभिनय द्वारा होता है और वह दुखान्त होती है। उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर हम त्रासदी की विशेषताओं को निम्न रूप में रेखांकित कर सकते हैं- (1) त्रासदी 'कार्य की अनुकृति' है। व्यक्ति की अनुकृति नहीं। (2) त्रासदी में वर्णित 'कार्य' गम्भीर तथा स्वत: पूर्ण होता है। इसका क्षेत्र तथा विस्तार निश्चित होता है। (3) इसमें जीवन व्यापार वर्णनात्मक रूप नहीं होता, बल्कि यह प्रदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। (4) त्रासदी की शैली अलंकारपूर्ण होती है। (5) इसमें करूणा और त्रास का उद्रेक होता है। अरस्तू ने त्रासदी के छह तत्त्व माने हैं- (1) कथानक (2) चरित्र (3) विचार (4) पदविन्यास (5) दृश्यविधान (6) गीत। अरस्तू ने त्रासदी में सर्वाधिक महत्व कथानक को दिया। चरित्र को इतना महत्व नहीं दिया। यहाँ तक कि वे चरित्र के अभाव में भी त्रासदी की सत्ता स्वीकार करते है।

विरेचन सिद्धांत

यूनानी के शब्द 'ब्जींतेपे' का हिन्दी रूपांतर 'विरेचन' होता है। जिस प्रकार 'ब्जींतेपे' शब्द यूनानी चिकित्सा-पद्धति से सम्बद्ध है, उसी प्रकार 'विरेचन' शब्द भारतीय आयुर्वेद-शास्त्र से सम्बन्धित है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर में वात, पित्त, कफ - ये तीन दोष (विकार) होते हैं। उपयुक्त औषधि के प्रयोग से शरीर के विकारों को निकाल बाहर कर राहत प्रदान करता है। इसका सबसे सटीक उदाहरण- पेट के कब्ज को साफ करना। वैध के पुत्र होने के कारण अरस्तू ने यह शब्द वैधक-शास्त्र से ग्रहण किया और काव्यशास्त्र में उसका लाक्षणिक प्रयोग किया। अरस्तू त्रासदी को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। और त्रासदी को सर्वश्रेष्ठ मानने के कारणों में उनका विरेचन सिद्धान्त था। अर्थात् अरस्तू के अनुसार त्रासदी दर्शकों के मन में करूणा एवं त्रास (दु:ख) की भावनाओं को उकसाकर उनका विरेचन कर देती है। संगीत के क्षेत्र में यह और भी अधिक सटीक बैठती है। यह एक प्रकार से मनोविकारों को उभारकर शांत करने और करूण एवं त्रास से आवेशित व्यक्तियों को 'शुद्धि का अनुभव' प्रदान करने की प्रक्रिया है, जो अन्तत: आनंद प्रदान करती है। कलांतर में अरस्तू के 'विरेचन सिद्धांत' की तीन दृष्टियों से व्याख्या की गई- (1) धर्मपरक (2) नीतिपरक (3) कलापरक। विरेचन की यह प्रक्रिया भारतीय काव्य शास्त्र के अन्तर्गत साधारणीकरण की अवधारणा से मेल खाती है।अरस्तु का अनुकरण सिद्धांत एक स्तर पर प्लेटो का

अनुकरण सिद्धांत की प्रतिक्रिया है और दूसरे स्तर पर उसका विकास भी। महान दार्शनिक प्लेटो ने कला और काव्य को सत्य से तिहरी दूरी पर कहकर उसका महत्व बहुत कम कर दिया था। उसके शिष्य अरस्तु ने अनुकरण में पुनर्रचना का समावेश किया। उनके अनुसार अनुकरण हूबहू नकल नहीं है बल्कि पुनः प्रस्तुतिकरण है जिसमें पुनर्रचना भी शामिल होती है। अनुकरण के द्वारा कलाकार सार्वभौम को पहचानकर उसे सरल तथा इन्द्रीय रूप से पुनः रूपागत करने का प्रयत्न करता है। कवि प्रतियमान संभाव्य अथवा आदर्श तीनों में से किसी का भी अनुकरण करने के लिये स्वतंत्र है। वह संवेदना, ज्ञान, कल्पना, आदर्श आदि द्वारा अपूर्ण को पूर्ण बनाता है।

अनुकरण के महत्त्व के कारण

यहाँ एक जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से होती है कि अरस्तू ने काव्य-विवेचन में अनुकरण को इतना महत्व क्यों दिया? इस सन्दर्भ में निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया जा सकता है- (1) अरस्तू से पूर्व उनके गुरु प्लेटो ने काव्य तथा अन्य कलाओं को अनुकृति व्यापार दर्शन से सम्बद्ध होने के कारण हीन माना था। अरस्तू ने उसे मात्र काव्य और सृष्टि के सम्बन्ध में ग्रहण किया। इससे उन्होंने अनुकरण का अर्थ और उसकी ध्वनियों को परिवर्तित कर दिया। (2) अरस्तू ने प्लेटो के समान चित्र और काव्य को स्पष्ट रूप से अनुकरण-मूलक कहा है। (3) अरस्तू काव्य में त्रासदी को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य के रूप में मानते हैं उनका समस्त काव्य-विवेचन त्रासदी के विवेचन के सन्दर्भ में हुआ है। त्रासदी में अनुकरण की प्रधानता होती है, अतः अरस्तू के काव्य-विवेचन में अनुकरण की प्रधानता होना स्वाभाविक है। य4द्ध ग्रीक भाषा में कवि के लिए 'पोयतेस' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका व्युत्पत्यर्थ है- कर्त्ता या रचयिता। कवि घटनाओं का कर्त्ता नहीं अनुकर्त्ता माना जा सकता है। इस प्रकार अनुकरण की प्रधानता का सम्बन्ध 'पोयतेस' के व्युत्पत्यर्थ से जुड़ जाता है।

अरस्तू के व्याख्याकार

अनेक आलोचकों ने अरस्तू की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है, किन्तु एक बात में सभी सहमत हैं कि अरस्तू ने अनुकरण का प्रयोग प्लेटो की भाँति स्थूल यथावत् प्रतिकृति के अर्थ में नहीं किया।

(1) प्रो. बूचर का मत है कि अरस्तू के अनुकरण का अर्थ है- ''सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन, सांकेतिक उल्लेखन नहीं।'' कोई भी कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन जैसी वह होती है। वैसे नहीं अपितु जैसी वह इन्द्रियों को प्रतीत होती है वैसा करती है। कलाकृति, इन्द्रिय-बोध सापेक्ष पुनः सृजन है, यथातथ्य अनुकरण नहीं। कला का संवेदन तत्त्व गृहिणी बुद्धि के प्रति नहीं अपितु भावुकता और मन की मूर्ति विधायिनी शक्ति के प्रति होता है।

(2) प्रो. गिल्बर्ट मरे ने यूनानी शब्द 'पोयतेस' (कर्तृता या रचयिता) को आधार मानकर अनुकरण की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार कवि शब्द के पर्याय में ही अनुकरण की धारणा निहित है, किन्तु अनुकरण का अर्थ सर्जना का अभाव नहीं।

(3) यॉट्स का मत - इनके अनुसार, ''अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आशय जैसे प्रभाव का उत्पादन, जो किसी स्थिति, अनुभूति तथा व्यक्ति के शुद्ध प्रकृति रूप से उत्पन्न होता है।'' वस्तुतः इनके अनुसार अनुकरण का अर्थ है- ''आत्माभिव्यंजन से भिन्न जीवन का अनुभूति का पुनः सृजन।''

(4) स्कॉट जेम्स का मत- इन्होंने अनुकरण को जीवन के कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्याय माना है। इनकी दृष्टि से- ''अरस्तू के काव्यशास्त्र में अनुकरण से अभिप्राय है साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते हैं।''

ये व्याख्याएँ अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी अरस्तू के शब्दों को प्रमाण मानकर अनुकरण का विवेचन करना समीचीन होगा।

कला और प्रकृति

कला प्रकृति की अनुकृति है। यह कला और अनुकरण दोनों तत्त्वों का विवेचन का मूल सूत्र है। यहाँ अनुकरण की अपेक्षा प्रकृति शब्द का अधिक विवेच्य है। होरेस के आधार पर नव्यशास्त्रवादियों ने प्रकृति का अर्थ किया- नीति, नियमों से परिबद्ध जीवन और अनुकरण का अर्थ किया - यथावत् प्रत्यंकन, इस प्रकार अरस्तू का यह सूत्र रीतिबद्ध काव्य-रचना का प्रेरक मन्त्र बन गया। किन्तु प्रकृति के अर्थ को इस प्रकार सीमित करने का कोई कारण नहीं है।

यहाँ प्रकृति जीवन के समग्र रूप अर्थात् अन्तर्बाह्य, दोनों रूपों की समष्टि का पर्याय है। इसमें स्थूलगोचर रूप अरस्तू को अभिप्रेत नहीं है, अर्थात् मानवेतर प्रकृति का अनुकरण करना अनुकरणात्मक कला का नाम नहीं है। कवि या कलाकार प्रकृति की सर्जन-प्रक्रिया का अनुकरण करता है। अनुकरण का विषयागोचर वस्तुएँ न होकर उनमें निहित प्रकृति-नियम है। अत: अरस्तू के अनुसार- ''प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने पर जो होती है उसे ही हम उसकी प्रकृति कहते हैं।'' प्रकृति इस आदर्श रूप की उपलब्धि की ओर निरन्तर कार्यरत रहती है। किन्तु कई कारणों से वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो पाती। अनुकरण में प्रकृति के इन अभावों को कला द्वारा पूरा किया जा सकता है।

इस प्रकार अनुकरण एक सर्जन-क्रिया है। काव्य-कला प्रकृति की सर्जन-प्रक्रिया अनुकरण करती हुई प्रकृति के अधूरे कार्य को पूर्ण करती है। इसी से काव्य में अनुकरण तत्त्व की महत्ता है।

अनुकरण की वस्तुएँ या विषय

अरस्तू के अनुसार अनुकरण में तीन प्रकार की वस्तुओं में से कोई एक हो सकती है- जैसे वे थीं या है (यथार्थ) जैसी वे कही या समझी जाती हैं (कल्पित यथार्थ), जैसे वे होनी चाहिए (सम्भाव्य यथार्थ)। इन्हीं को क्रमश: प्रतीयमान, सम्भाव्य और आदर्श रूप माना गया है।

कवि को यह स्वतन्त्रता है कि वह वस्तु या विषय को उस रूप में चित्रित करे जैसी वह उसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है अथवा भविष्य में प्रतीत हो सकती है अथवा होनी चाहिए। निश्चय ही इसमें कवि की भावना और कल्पना का योगदान होगा - वह नकल मात्र नहीं होगा। इसी से अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त-भावना और कल्पनायुक्त अनुकरण को मानकर चलता है, शुद्ध प्रकृति को नहीं।

काव्य सत्य के सम्बन्ध में अपने विचारों को सिद्ध करने के लिए अरस्तू ने कविता और इतिहास पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है। इस तथ्य को बूचर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है-

कवि-कर्म जो कुछ घटित हो चुका है, उसका वर्णन करना नहीं, वरन् जो कुछ घटित हो सकता है- जो कुछ सम्भावना या अनिवार्यता के नियमाधीन सम्भव है- उसका वर्णन करना है।... कवि और इतिहासकार में गद्य और पद्य

लेखन के कारण भेद नहीं है।..... वरन् उनमें वास्तविक भेद यह है कि एक उसका वर्णन करता है, जो घटित हो चुका है तथा दूसरा उसका वर्णन करता है, जो घटित हो सकता है। इसलिए कविता इतिहास से अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि कविता सार्वभौम का चित्रण करती है, जबकि इतिहास विशेष का।''

कवि और इतिहासकार में अन्तर

अरस्तू के मतानुसार, ''कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है, जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है, जो घटित हो सकता है। परिणामत: काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की।'' इतिहास की घटनाएँ देश-काल की सीमा से बँधकर केवल अपने पृथक् और विशिष्ट रूप में हमारे सामने आती हैं, जबकि काव्य-निबद्ध तथ्य अपने-अपने सार्वभौम रूप में अभिव्यक्त होते हैं। अत: उनकी पुनरावृत्ति सम्भावित होती है। इस प्रकार काव्य और इतिहास सम्बन्धी विवेचन में अनुकरण से है, यथार्थ वस्तुपरक प्रत्यंकन से नहीं।

'कार्य' का अभिप्राय

अरस्तू ने त्रासदी के विवेचन में लिखा है कि त्रासदी मनुष्यों का नहीं वरन् कार्य और जीवन का अनुकरण करती है। 'कार्य' शब्द का प्रयोग उन्होंने मानव-जीवन का चित्र के अर्थ में किया है। उनके अनुसार जो कुछ भी मानव-जीवन के आन्तरिक पक्ष को व्यक्त करे, बुद्धिसम्मत व्यक्तित्त्व का उद्घाटन करे, वह सभी कुछ 'कार्य' के अन्तर्गत आएगा। अत: कार्य का अर्थ केवल मनुष्य के कर्म ही नहीं, उसके भाव, विचार, चरित्र आदि भी है, जो कर्म के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अत: अनुकरण का विषय है- क्रियाशील मानव।

अनुकरण और आनन्द

अरस्तू का विचार है कि अनुकूल वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं है- ''जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हमें दु:ख देता है, उनका अनुकरण द्वारा प्रस्तुत रूप हमें आनन्द प्रदान करता है। डरावने जानवर देखने से हमें डर लगता है, किन्तु उनका अनुकूल रूप हमें आनन्द प्राप्त करता है।'' अत: अनुकरण

आनन्द का तत्त्व अनिवार्यत: निहित होने का अर्थ यही है कि उसमें आत्म-तत्त्व का प्रकाशन निहित रहता है, क्योंकि आनन्द की उपलब्धि आत्मतत्त्व के प्रकाशन के बिना सम्भव नहीं है। अत: अनुकरण निश्चय ही यथार्थ वस्तुपरक अंकन न होकर भावात्मक और कल्पनात्मक होगा।

किन्तु भाव-तत्त्व और उसमें निहित आत्म तत्त्व का सद्भाव होने पर भी अनुकरण विशुद्ध, आत्माभिव्यंजन का पर्याय नहीं है, क्योंकि इसमें वस्तु-तत्त्व की प्रधानता अनिवार्य है। आधुनिक आलोचना शास्त्र की शब्दावली का आश्रय लेकर कहें तो अनुकरण में अभिजात कला के वस्तु-परक भाव-तत्त्व की ही स्वीकृति है, किन्तु रम्याद्भुत कला के व्यक्तिपरक भाव-तत्त्व की नहीं। इस प्रकार उसमें जीवन की अनुभूतियों से निर्मित कवि की अन्तश्चेतना को पर्याप्त महत्त्व नहीं मिला है। अनुकरण में जिन विषयों का विवेचन होता है वे सभी स्थूल व सूक्ष्म होते हुए भी अनुकार्य हैं, परस्थ हैं। उनकी स्थिति अनुकर्त्ता से बाहर है। अत: अनुकरण को व्यक्तिपरक अनुभूति के अभाव में शुद्ध आत्माभिव्यंजन की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

अनुकरण की व्याप्ति

प्रश्न है कि अनुकरण सिद्धान्त की व्याप्ति कहाँ तक है? नीति काव्य की वैयक्तिक अनुभूतियों का उद्गीथ अनुकरण की परिधि में कैसे आ सकता है? अरस्तू ने गीतिकाव्य को उपेक्षित कर दिया है। गीत को उन्होंने काव्य का अलंकार मात्र माना है।

अरस्तू का पक्षपाती यह भी तर्क देता है कि जिस प्रकार त्रासदी में दूसरे की अनुभूतियों का अनुकरण सम्भव है, उसी प्रकार गीतिकाव्य में भी अपनी अनुभूतियों का अनुकरण सम्भव है। किन्तु जो स्वयं अभिव्यक्त रूप हैं, उसके अनुकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: अनुकरण शब्द का अर्थ इतना अर्थ-विस्तार सम्भव नहीं है कि गीतिकाव्य को यथावत् उसकी परिधि में अन्तर्भूत किया जा सके, यही उसकी परिसीमा है।

अनुकरण सिद्धान्त का क्रोचे के सहजानुभूति सिद्धान्त से भी साक्षात् विरोध है। क्रोचे के अनुसार, काव्य-कला का जो मौलिक रूप है, वह अनुकरण का विषय नहीं हो सकता और उसका मूर्त्त रूप, जो अनुकरण का विषय है, क्रोचे के अनुसार सर्वथा आनुषंगिक है। अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त में किसी भी प्रकार सहजानुभूति का समावेश नहीं हो सकता। अत: जिस अंश

तक क्रोचे का सहजानुभूति सिद्धान्त मान्य है, उसी अंश तक अनुकरण सिद्धान्त अमान्य है।

डॉ. नगेन्द्र ने अनुकरण सिद्धान्त का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि सृजन और अनुकरण में भेद है। काव्य में वस्तुओं के मर्म को आकर्षक रीति से उद्‌घाटित करना कवि-कर्म है। इसके दो पक्ष हैं- वस्तु के मर्म का दर्शन और उसकी शब्दों में अभिव्यक्ति ये दोनों पक्ष अभिन्न हैं। काव्य दोनों की समन्वित क्रिया है, अनुकरण नहीं। कवि की प्रतिभा कारयित्री है अनुकारयित्री नहीं। कवि लौकिक पदार्थों के मार्मिक रूप का उद्‌घाटन करता है। इसी से काव्य नवनिर्माण है, सृजन है, अनुकरण नहीं। वस्तुत: कवि जीवन में अनुभव में अपना दृष्टिकोण जोड़ देता है और यही दृष्टिकोण सृजन-तत्त्व है। इसी से अनुकरण शब्द का अर्थ विस्तार हो गया है।

अनुकरण की शक्ति और सीमाएँ

शक्ति

(1) अरस्तू के अनुकरण को नया अर्थ प्रदानकर कला का स्वतंत्र अस्तित्त्व स्थापित किया है। सुन्दर को शिव से अधिक विस्तृत माना है।

(2) प्लेटो द्वारा कला पर लगाए गए आक्षेप का निराकरण किया है और कविता दार्शनिक तथा नीतिकार बन्धन से छुटकारा दिलाया है।

(3) उन्होंने अनुकरण की हीनता का उन्नयन किया है। इन विशेषताओं के होते भी उसकी कुछ सीमाएँ हैं।

सीमाएँ

(1) अनुकरण में व्यक्तिपरक भाव-तत्त्व की अपेक्षा वस्तुपरक भाव-तत्त्व को अधिक महत्व दिया, जो निश्चय ही अनुचित है।

(2) कवि की अन्तश्चेतना को उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना दिया जाना चाहिए था। इससे उसकी परिधि संकुचित हो गई थी।

(3) विश्व की गीति काव्य संख्या में सर्वाधिक होते हुए भी अनुकरण की परिधि में नहीं समा सकता, क्योंकि उसकी आत्मा है-भाव, जो प्रेरणा के भार से दबकर फूटता है।

(4) कलाकार के मानस में घटित होनेवाले सहजानुभूति सिद्धान्त के अनुसार अनुकरण का कला-सृजन में कोई महत्त्व नहीं, जबकि अरस्तू अनुकरण को ही कला कहता है।

(5) अरस्तू द्वारा अपनाए गए 'मिमेसिस' शब्द की अर्थ-परिधि में 'पुनःसृजन' 'कल्पनात्मक पुनर्निर्माण' आदि अर्थों का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

निष्कर्ष - सत्य कभी एकदेशीय नहीं होता। उसकी उपलब्धि तो किसी-न-किसी रूप में होती जाती है, किन्तु उपलब्धि की विधि और उसका आधारभूत दृष्टिकोण भी कम महत्त्वूपर्ण नहीं होता। अरस्तू ने काव्य या कला को प्रकृति का अनुकरण माना है। अतः कला अनुकरण होते हुए भी नवीकरण है, सृजन रूप है।

अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत प्लेटो के अनुकरण सिद्धांत से भिन्न है तथा उसे एक नया अर्थ प्रदान करता है। प्लेटो ने कविता की तुलना चित्रकला से की है, परंतु अरस्तू ने कविता की तुलना संगीत से करते हुए स्पष्ट किया कि चित्रकला में वस्तु जगत की चीजों के स्थूल रूपाकार का अनुकरण किया जाता है। परंतु संगीत कला में मनुष्य की आंतरिक वासनाओं, वृत्तियों और भावनाओं को मूर्त किया जाता है। संगीत से तुलना करने से स्पष्ट है कि अरस्तू को 'अनुकरण' का व्यापक और सूक्ष्म अर्थ मान्य है। उसके लिए अनुकरण दृश्य वस्तु जगत की स्थूल अनुकृति नहीं है। उसे अनुसार कवि अपनी रचना में दृश्य जगत की वस्तुओं को जैसी वे हैं, वैसी ही प्रस्तुत नहीं करता। या तो वह उन्हें बेहतर रूप में प्रस्तुत करता है या हीनतर रूप में। उसकी दृष्टि में 'अनुकरण' मात्र आकृति और स्वर का ही नहीं किया जाता, वह आंतरिक भावों और वृत्तियों का भी किया जाता है।

अरस्तू के अनुसार कवि के अनुसरण का विषय कर्म-रत मनुष्य है। मनुष्य वाह्य जीवन के साथ ही मानसिक स्तर भी क्रियाशील होता है, उसके मानसिक क्रिया-कलापों का, उसकी मानसिक उधेड़ बुन का या मनोवृत्तियों के उत्कर्ष व अपकर्ष का चित्रण एक मनोवैज्ञानिक एवं रचनाशील प्रक्रिया है। कवि इसे अपनी रचनात्मक कल्पना द्वारा ही मूर्त या चित्रित कर सकता है। पलंग का चित्र निर्मित करने की प्रक्रिया में पलंग को जब चित्रकार देखता है तो नेत्रों माध्यम से देख गया रूपाकार पहले चित्रकार के मानसपटल पर अंकित होता है।उसके बाद उसका मनोबिंब चित्रकार की कल्पना शक्ति के सहारे चित्र के रूप में

आकार ग्रहण करता है। इसलिए उसे नकल या स्थूल अनुकरण कहकर हेय नहीं ठहराया जा सकता।

अरस्तू ने स्पष्ट कर दिया कि कवि और चित्रकार के कला माध्यम अलग अलग हैं। चित्रकार रूप और रंग के माध्यम से अनुकरण करता है, जबकि कवि भाषा, लय और सामंजस्य के माध्यम से। जिस प्रकार संगीत में सामंजस्य और लय का, नृत्य में केवल लय का उपयोग होता है, उसी प्रकार काव्यकला में अनुकृति के लिए भाषा का प्रयोग होता है। यह भाषा गद्य या पद्य दोनों में हो सकती है। इस स्तर पर वह संगीत कला के अधिक निकट है। भारतीय शब्दावली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि अरस्तू के विचार से काव्य की आत्मा 'अनुकृति' है।

अरस्तू ने अनुकरण को प्रतिकृति न मानकर पुनः सृजन अथवा पुनर्निमाण माना है। उसकी दृष्टि में अनुकरण नकल न होकर सर्जन प्रक्रिया है। इसमें संवेदना और आदर्शों का मेल है। इन्हीं के द्वारा कवि अपूर्णता को पूर्णता प्रदान करता है। अरस्तू के अनुसार तीन प्रकार की वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण होता है–

1. जैसी वे थीं या हैं। 2. जैसी वे कही या समझी जाती हैं। 3. जैसी वे होनी चाहिए।

अरस्तू ने इन्हें प्रतीयमान, संभाव्य और आदर्श माना है। अरस्तू का अनुकरण संवेदनामय है। कल्पनायुक्त है, शुद्ध प्रतिकृति नहीं।

अरस्तू ने अनुकृति के माध्यम, विषय और विधान का विस्तार से विचार किया। यद्यपि सभी कलाओं का मूल तत्त्व अनुकृति ही है, किंतु उन सबके माध्यम आदि के पारस्परिक अंतर के कारण ही वे एक दूसरी से पृथक की जाती है। अतः काव्य के विशिष्ट अध्ययन के लिए उसके माध्यम आदि का ज्ञान अपेक्षित है।

व माध्यम – अनुकृति के लिए छंद ही माध्यम हो ऐसा आवश्यक नहीं। भाषा का कोई भी रूप काव्यात्मक अनुकृति का माध्यम बन सकता है। कविता मात्र छंदबद्ध प्रस्तुति नहीं है यदि ऐसा होता तो भौतिक या चिकित्साशास्त्र की छंदबद्ध प्रस्तुति भी कविता कहलाती।

विषय – काव्य में मानवीय क्रियाकलापों का अनुकरण होता है। काव्य के दो भेदों में से कामदी का लक्ष्य हीनतर रूप को प्रस्तुत करना होता है, जबकि त्रासदी का लक्ष्य भव्यतर चित्रण करना।

विधान - काव्य के विभिन्न रूपों में अनुकृत विषय एवं उनके माध्यम की समानता होते हुए भी उनमें परस्पर विधि या शैली का अंतर विद्यमान रहता है। अरस्तू ने सामान्यत: तीन शैलियों का उल्लेख किया है -

1. जहाँ कवि कहीं स्वयं विषय का वर्णन करता है, कहीं अपने पात्रों के मुँह से कहलवा देता है। (प्रबंधात्मक शैली)
2. प्रारंभ से लेकर अंत तक कवि एक जैसा ही रूप रखे। (आत्माभिव्यंजनात्मक शैली)
3. कवि स्वयं दूर रहकर समस्त पात्रों को नाटकीय शैली में प्रस्तुत करें। (नाट्य शैली)

अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत के महत्त्वपूर्ण बिंदु इस प्रकार हैं-

1. कविता जगत की अनुकृति है तथा अनुकरण मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है।
2. अनुकरण से हमें शिक्षा मिलती है। बालक अपने से बड़ों की क्रियाएं देखकर तथा उसका अनुकरण करके ही सीखता है।
3. अनुकरण की प्रक्रिया आनंददायक है। हम अनुकृत वस्तु में मूल का सादृश्य आनंद प्राप्त करते हैं।
4. अनुकरण के माध्यम से भयमूलक या त्रासमूलक वस्तु को भी इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे आनंद की अनुभूति हो।
5. काव्यकला सर्वोच्च अनुकरणात्मक कला है तथा अन्य सभी ललित कलाओं एवं उपयोगी कलाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है। नाटक काव्यकला का सर्वाधिक उत्कृष्ट रूप है। अरस्तू ने काव्य की समीक्षा स्वतंत्र रूप से की है। प्लेटो की भांति दर्शन और राजनीति के चश्मे से नहीं देखा।

अरस्तु का विरेचन सिद्धांत

विरेचन सिद्धांत द्वारा अरस्तु ने प्रतिपादित किया कि कला और साहित्य के द्वारा हमारे दूषित मनोविकारों का उचित रूप से विरेचन हो जाता है। सफल त्रासदी विरेचन द्वारा करुणा और त्रास के भावों को उद्‌बुद्ध करती है, उनका सामंजन करती है और इस प्रकार आनंद की भूमिका प्रस्तुत करती है। विरेचन से भावात्मक विश्रांति ही नहीं होती, भावात्मक परिष्कार भी होता है। इस तरह अरस्तु ने कला और काव्य को प्रशंसनीय, ग्राह्य और सायास रक्षनीय सिद्ध किया है।

अरस्तु ने इस सिद्धांत के द्वारा कला और काव्य की महत्ता को पुनर्प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया। अरस्तु के गुरु प्लेटो ने कवियों और कलाकारों को अपने आदर्श राज्य के बाहर रखने की सिफारिश की थी। उनका मानना था कि काव्य हमारी वासनाओं को पोषित करने और भड़काने में सहायक है इसलिए निंदनीय और त्याज्य है। धार्मिक और उच्च कोटि का नैतिक साहित्य इसका अपवाद है, किंतु अधिकांश साहित्य इस आदर्श श्रेणी में नहीं आता है।

विरेचन सिद्धान्त का महत्त्व बहुविध है। प्रथम तो यह है कि उसने प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाए गए आक्षेप का निराकरण किया और दूसरा यह कि उसने गत कितने ही वर्षों के काव्यशास्त्रीय चिन्तन को किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित किया।

परिचय

'शविरेचन' यूनानी कथार्सिस का हिन्दी रूपान्तर है। यूनानी चिकित्साशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है- 'कैथार्सिस' और भारतीय चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद) का पारिभाषिक शब्द है- 'विरेचन'। इसका अर्थ है- रोचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों अर्थात् उदर के विकारों की शुद्धि। स्वास्थ्य के लिए जिस प्रकार शारीरिक मल का निष्कासन-शोधन आवश्यक है, उसी प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह और क्रोध आदि मानसिक मलों का निष्कासन एवं शोधन आवश्यक है।

अरस्तू ने 'कैथार्सिस' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग मानव-मन पर पड़नेवाली त्रासदी के प्रभाव का उद्घाटन करने के लिए किया है। त्रासदी के प्रति प्लेटो की आपत्ति थी- ''वह (त्रासदी) मानव की वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती है। वह उच्चतर तत्त्वों के बदले निम्नतर तत्त्वों को उभारकर आत्मा में अराजकता उत्पन्न करती है।''

अरस्तू ने कैथार्सिस (विरेचन) सिद्धान्त द्वारा प्लेटो के इस आक्षेप का खण्डनकर त्रासदी की उपादेयता स्थापित की। प्लेटो ने जिसे दोष सिद्ध किया था, अरस्तू ने उसी को गुण के रूप में प्रस्तुत किया। अरस्तू का अभिमत है-

त्रासदी किसी गम्भीर स्वत: पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य को अनुकृति का नाम है।... जिसके करुणा त्रास से उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है।

इसी प्रकार त्रासदी केवल अवांछनीय भावनाओं को ही उद्दीप्त नहीं करती, अपितु करुणा और त्रास के कृत्रिम उद्रेक द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास की भावनाओं का निष्कासन करती है।

विरेचन का स्वरूप

विरेचन का उल्लेख अरस्तू की रचनाओं में केवल दो स्थानों पर मिलता है। प्रथम उल्लेख उसके 'पोयटिक्स' (काव्यशास्त्र) ग्रंथ में, जहाँ ट्रैजेडी के स्वरूप की ओर संकेत किया गया है और दूसरा 'राजनीतिक' नामक ग्रंथ में जहाँ उन्होंने संगीत की उपयोगिता प्रतिपादित की है। इन स्थलों पर उन्होंने विरेचन शब्द का सूत्र रूप में एवं उसके स्वरूप की चर्चा की है। अरस्तू का कथन है– ''संगीत का अध्ययन एक नहीं वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए, अर्थात् शिक्षा के लिए विरेचन (शुद्धि) के लिए। संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है। ..... धार्मिक रागों के प्रभाव से वे शान्त हो जाते हैं, मानों उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो।

इस प्रकार विरेचन से अभिप्राय शुद्धि से है। अरस्तू के ये विचार त्रासदी–विवेचन के सन्दर्भ में फुटकर रूप में मिलते हैं। विशेष सुव्यवस्थितरूप से इनका सम्पादन नहीं किया गया है।

आधुनिक युग में अरस्तू के सीमित और अल्प शब्दों ने पूर्ण काव्य–शास्त्रीय सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया है। अत: एक प्रश्न स्वाभाविकरूप से उठा कि करुणा और त्रास के उद्रेक तथा रेचन से अरस्तू का मूलत: क्या अभिप्राय था? इस सन्दर्भ में अरस्तू के परवर्ती व्याख्याकारों ने विरेचन के भिन्न–भिन्न अर्थ और व्याख्याएँ प्रस्तुत का।

धर्मपरक अर्थ

अरस्तू के व्याख्याकारों में प्रो. गिल्बर्ट मरे और लिवि ने विरेचन की धर्मपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। धर्मपरक अर्थ की एक विशेष पृष्ठभूमि है। इसका सम्बन्ध धार्मिक उत्सवों से है। प्रो. गिल्बर्ट मरे का कथन है कि – ''यूनान में दिओन्यूसस नामक देवता से सम्बद्ध उत्सव अपने आप में एक प्रकार की शुद्धि का प्रतीक था, जिसमें विगत् समय के कलुष और पाप एवं मृत्यु–संसर्गों से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार बाह्य विकारों द्वारा आन्तरिक विकारों की शन्ति का यह उपाय अरस्तू के समय में धार्मिक संस्थाओं में काफी

प्रचलित था। उन्होंने इसका लाक्षणिक प्रयोग उसी के आधार पर किया है और विरेचन का अर्थ हुआ– ''बाह्य उत्तेजना और अंत में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शान्ति।''

नीतिपरक अर्थ

बारनेज नामक जर्मन विद्वान ने विरेचन की नीतिपरक व्याख्या की है। उसके अनुसार मानव–मन अनेक मनोविकारों से आक्रान्त रहता है। जिनमें करुण और भय, मूलत: दु:खद मनोवेग हैं। त्रासदी रंगमंच पर अवास्तविक परिस्थितियों द्वारा इन्हें अतिरंजित रूप में प्रस्तुतकर कृत्रिम अस्पष्ट उपायों से प्रेक्षक के मन में वासना रूप में स्थित इन मनोवेगों के देश का निराकरण और उसके परिणामस्वरूप मानसिक सामंजस्य की स्थापना करती है। अत: विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ – मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता।

वर्तमान मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण शास्त्र भी इस अर्थ की पुष्टि करते हैं। मानसिक स्वास्थ्य की साधक होने के कारण यह पद्धति नैतिक मानी गई है।

कलापरक अर्थ

गेटे और अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि आलोचकों में विरेचन के कलापरक अर्थ के संकेत मिलते हैं। अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो. बूचर का अभिमत है कि विरेचन केवल मनोविज्ञान अथवा निदानशास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर, एक कला–सिद्धान्त का अभिव्यंजक है। इस प्रकार त्रासदी का कर्तव्य–कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना ही नहीं अपितु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है। इनको कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत और स्पष्ट करना है। विरेचन का अर्थ यहाँ व्यापक है– मानसिक संतुलन इसका पूर्व भाग मात्र है, परिणति उसकी कलात्मक परितोष का परिष्कार ही है जिसके बिना त्रासदी के कलागत आस्वाद का वृत्त पूरा नहीं होता।

प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त तीनों अर्थों में से कौन सा अर्थ अरस्तू के मत के सर्वाधिक निकट है? यद्यपि तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों से अरस्तू का प्रभावित होना स्वाभाविक है और स्वयं धार्मिक संगीत की ओर अरस्तू ने संकेत भी किया है कि जिस प्रकार धार्मिक संगीत श्रोताओं के भावों को उत्तेजित कर

फिर शान्त करता है, उसी प्रकार त्रासदी प्रेक्षक के भय ओर करुणा के भावों को जगाकर बाद में उन्हें उपशमित करती है। त्रासदी के सम्बन्ध में यह मत अक्षरश: ठीक नहीं है, क्योंकि संगीत द्वारा ठीक किए जानेवाले व्यक्ति पहले ही भावाक्रान्त होते थे, जबकि प्रेक्षागृह में जानेवाले व्यक्ति करुणा या भय की मानसिक स्थिति में नहीं होते। अत: विरेचन सिद्धान्त की प्रकल्पना पर उक्त प्रथा का प्रभाव अप्रत्यक्ष तो माना जा सकता है, किन्तु सीधा सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है।

जहाँ तक नीतिपरक अर्थ की बात है, मनोविज्ञान भी इसकी पुष्टि करता है। विरेचन से अरस्तू के तात्पर्य भावों का निष्कासन मात्र नहीं, वरन् उनका संतुलन भी है।

इसी प्रकार प्रो. बूचर का अर्थ भी विचारणीय है। उनके अनुसार विरेचन के दो पक्ष है- एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। अभावात्मक पक्ष यह है कि वह पहले मनोवेगों को उत्तेजित करें, तदुपरान्त उनका शमनकर मन:शांति प्रदान करे। इसके बाद सम्पन्न कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है। विरेचन को भावात्मक रूप देना उचित नहीं है। अरस्तू का अभीष्ट केवल मन का सामंजस्य और तज्जन्य विमदता तक ही है, जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने 'अन्तवृत्तियों के समंजन' का सिद्धान्त प्रतिपादन किया है।

डॉ. नगेन्द्र का मत है कि ''विरेचन कला-स्वाद का साधक तो अवश्य है- समंजित मन कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है, परन्तु विरेचन में कला-स्वाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है। अतएव विरेचन सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित न्यायसंगत नहीं है।''

आधुनिकतम मत

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार त्रास और करुणा की भावनाएँ अपने प्रकृत रूप में अधिक कष्टप्रद बनकर प्रकट होती है। त्रासदी के प्रेक्षणा के फलस्वरूप वे अपने अनुग्र एवं अनापत्तिजनक रूप को प्रकाशित करती है। इस रूप में वे निवैयक्तिक एवं सार्वभौम रूप में सामने आती हैं। इससे विरेचन और साधारणीकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध सहज ही देखा जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या त्रासदी के प्रभाव या प्रयोजन को समझने के लिए विरेचन सिद्धान्त ही एकमात्र समीचीन माध्यम है? वस्तुत: त्रासदी के कार्य को रेचन तक सीमित कर देना उसके उद्देश्य को संकीर्ण बनाने जैसा है। इसके विपरीत भाववादी समीक्षकों ने विरेचन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत बनाकर

यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विरेचन से अवांछनीय भावनाओं में भी परिवर्तन होता है और उनका अतिरेक मिटता है। इस व्यापक दृष्टिकोण का प्रतिपादन ड्राइडन, एडीसन आदि विद्वानों ने किया।

आक्षेप और समाधान

कुछ विद्वान विरेचन प्रक्रिया के अस्तित्त्व के बारे में शंका करते हैं। उनका आक्षेप है कि वास्तविक जीवन में ऐसा विरेचन नहीं होता है। त्रासदी से करुणादि मनोवेग उद्‌बुद्ध तो हो जाते हैं, किन्तु उनके विरेचन से मनः शान्ति सर्वथा नहीं होती। वास्तव में त्रासदी का चमत्कार मूलतः रागात्मक होता है। वह विरेचन-प्रक्रिया द्वारा भावों को उद्‌बुद्ध करती है उनका समंजन करती है और इस प्रकार आनन्द की भूमिका प्रस्तुत करती है। यह विरेचन सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण देन है। दूसरा आक्षेप यह है कि त्रासदी में प्रदर्शित भाग अवास्तविक होते हैं, अतः वे हमारे भावों को उद्‌बुद्ध नहीं कर पाते, विरेचन की तो बात ही नहीं। वस्तुतः यह मत भी उचित नहीं है। त्रासदी द्वारा भावोद्रेक निश्चय ही कला-चमत्कार का प्रतिफल नहीं, रागात्मक प्रभाव की परिणति है। सारभूत समंजनकारी प्रभाव ही उसकी सफलता का कारण है। अतः आक्षेप सर्वथा निर्मूल है।

विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधार

मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार भावनाओं की अतृप्ति या दमन मानसिक रोगों का प्रमुख कारण है। इनका विचार भावों की उचित अभिव्यक्ति और परितोष द्वारा हो सकता है। अचेतन मन में पड़े भाव उचित अभिव्यक्ति के अभाव में मानसिक ग्रन्थियों को जन्म देते हैं। इन ग्रंथियों को चेतन स्तर पर लाकर मन की घुटन और अतृप्ति को दूर किया जाता है। इससे मन का तनाव दूर हो जाता है और चित्त एक प्रकार की विशदता एवं हल्कापन अनुभव करता है। मनोविश्लेषण शास्त्र की उन्मुक्त विचार-प्रवाह-प्रणाली का आधार यही प्रक्रिया है। इस दृष्टि से विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधार सर्वथा पुष्ट है। फ्रायड आदि विद्वानों ने अनेक स्थलों पर अरस्तू वाक्यों को अपन मत के समर्थन में प्रस्तुत किया है।

विरेचन और करुण रस

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित त्रासदी के प्रभाव का भारतीय काव्यशास्त्र में करुण रस से पर्याप्त साम्य है। त्रासद प्रभाव के आधारभूत मनोवेग है- करुणा और त्रास।

ये दोनों भाव मूलत: दु:खद हैं। उधर करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। भारतीय काव्यशास्त्र 'शोक' स्थायी भाव के अन्तर्गत करुणा के साथ त्रास के अस्तित्त्व को स्वीकार करता है। इष्ट नाश या विपत्ति शोक के कारण हैं। इनसे करुणा और त्रास दोनों की उद्‌भूति होती है। विपत्ति के साक्षात्कार से करुणा की, वैसी ही विपत्ति की पुनरावृत्ति की आशंका से त्रास की अनुभूति होती है। किन्तु भारतीय आचार्यों और अरस्तू के दृष्टिकोण में प्रमुख अन्तर यह है कि अरस्तू का त्रासद प्रभाव एक मिश्र भाव है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र का शोक स्थायी भाव मूलत: अमिश्र है, जैसे - सीता के दुर्भाग्य से उत्पन्न करुणा में त्रास का स्पर्श नहीं है, जबकि अरस्तू की दृष्टि में त्रासहीन करुण प्रसंग आदर्श स्थिति नहीं है।

अरस्तु का विरेचन सिद्धान्त अनुकरण सिद्धान्त के अतिरिक्त अरस्तू का दूसरा प्रमुख काव्य सिद्धान्त विरेचन का सिद्धान्त है। कविता के सम्बन्ध में प्लेटो का मत था कि वह अनुकरण की अनुकरण है अंत: वह सत्य से तिगुनी दूरी पर है, अंत: त्याज्य है। कविता हमारी वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती है, साथ ही वह तर्क या बुद्धि को प्रभावित करने के स्थान पर हृदय या भावनाओं को प्रभावित करती है। प्लेटो की इस व्याख्या का कारण कदाचित् यह था कि वह कला के अध्ययन को नीति-शास्त्र से सम्बद्ध मानता था। इसके विपरीत अरस्तु का कला सम्बन्धी मत सौन्दर्यशास्त्र पर आधारित था। अंत: उन्होंने प्लेटो के सिद्धान्त का विरोध करते हुए भावों के विरेचन की बात कही। अपने समय में प्रचलित चिकित्सा पद्धति के शब्द कैथासिस से संकेत ग्रहण कर उन्होंने उस शब्द के लाक्षणिक प्रयोग द्वरा प्लेटो केआक्षेप का उत्तर दिया।

विरेचन सिद्धान्त का उल्लेख-अरस्तू ने न तो विरेचन सिद्धान्त की कोई परिभाषा ही अपने किसी ग्रन्थ में दी है और न कहीं उसकी व्याख्या ही की है। उन्होंने केवल दो स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग किया हैकृप्रथम तो अपने ग्रन्थ 'पोइटिक्स' में जहाँ उन्होंने त्रासदी की परिभाषा तथा उसका स्वरूप निश्चित करते हुए कहा है-'त्रासदी किसी गंभीर स्वत: पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के अलंकारों से भूषित भाषा होती है, जो समाख्यान रूप न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिससे करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"

उक्त उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ अरस्तू ने प्लेटो के आक्षेप का उत्तर देने के साथ-साथ यह भी स्पष्ट किया है कि त्रासदी के मूलभाव त्रास और करुणा होते हैं और उन भावों को उद्‌बुद्ध करके शारीरिक परिष्कार के समान विरेचन की पद्धति से मानव मन का परिष्कार त्रासदी का मुख्य उद्देश्य होता है। दूसरे स्थान पर जहाँ विरेचन शब्द का उल्लेख अरस्तू ने किया है उनके 'राजनीति' नामक ग्रन्थ में है जहाँ वे लिखते हैं, किन्तु इससे आगे हमारा यह मत है कि संगीत का अध्ययन एक नहीं वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए।

(1) शिक्षा के लिए

(2) विरेचन शुद्धि के लिए

(3) संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है।....धार्मिक रागों के प्रभाव से-ऐसे रागों के प्रभाव से जो रहस्यात्मक आवेश को उद्‌बोध करते हैं वे शान्त हो जाते हैं मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है और दूसरे भी अपनी-अपनी संवेदनशील शक्ति के अनुसार प्राय: सभी इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं। उनकी आत्मा विशद् और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचन राग मानव समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।'

यहां भी विरेचन से अरस्तू का तात्पर्य शुद्धि से है। वह मानते हैं कि यद्यपि शिक्षा से नैतिक रागों को प्रधानता देनी चाहिए परन्तु आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागों का भी आनन्द लिया जा सकता है क्योंकि करुणा, त्रास अथवा आवेश का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में सभी व्यक्तियों पर होता है। ऐसे संगीत के प्रभाव से विरेचन द्वारा उनका आवेश शान्त हो जाता है। इस विधि से वे अपनी-अपनी संवेदन शक्ति के अनुसार एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं जिससे उनकी आत्मा विशद् और प्रसन्न हो जाती है। अत: विरेचन का अर्थ शुद्धि परिष्करण एवं मानसिक स्वास्थ्य है।

विरेचन का अर्थ-अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द 'कैथार्सिस' है हिन्दी में इसका अनुवाद 'रेचन' 'विरेचन' तथा 'परिष्करण' शब्दों द्वारा किया जाता है, परन्तु विरेचन शब्द सर्वाधिक प्रचलित है। जिस प्रकार कैथार्सिस शब्द यूनानी चिकित्सा पद्धति से सम्बद्ध माना जाता है उसी प्रकार विरेचन 'शब्द' भारतीय आयुर्वेदिकशास्त्र से सम्बन्धित है। चिकित्साशास्त्र में उसका अर्थ हैं-रेचक

औषधियों द्वारा शरीर के मल या अनावश्यक एवं अस्वास्थ्य कर पदार्थ (फौरिन मैटर) को बाहर निकालना। वैद्य के पुत्र होने के कारण अरस्तू ने यह शब्द वैद्यकशास्त्र से ग्रहण किया और काव्यशास्त्र में उसका लाक्षणिक प्रयोग किया जैसे होमोपैथी में किसी संवेग की चिकित्सा 'समान' संवेग के द्वारा की जाती है 'सर्वसम' के द्वारा नहीं। अम्ल के लिये अम्लता का और लवण द्रव्य के लिये लवण का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार अरस्तु का मत है कि त्रासदी, करुणा तथा त्रास के कृत्रिम उद्वेग द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास

भावनाओं का निष्काषण करती है। यह निष्काषण ही वास्तव में 'विरेचन' या उसका कार्य है।

अरस्तू के परवर्ती व्याख्याकारों ने लक्षण के आकार पर विरेचन के तीन अर्थ किये।

(1) धर्मपरक

(2) नीतिपरक

(3) कलापरक।

धर्मपरक अर्थ-यूनान में भी भारत की तरह नाटक का आरम्भ धार्मिक उत्सवों से ही हुआ था। प्रो0 मरे का मत है कि वर्ष के प्रारम्भ पर 'दि ओन्ययसस' नामक यूनानी देवता से सम्बद्ध उत्सव मनाया जाता था। उस उत्सव में देवता से विनती की जाती थी कि वह प्रशासकों को विगत वर्ष के पापों, कुकर्मो तथा कालुष्यों से मुक्त कर दें तथा आगामी वर्ष में उन्हें इतना विवेकपूर्ण तथा शुद्ध हृदय बना दे कि वे पाप, कलुष तथा मृत्यु आदि से बचे रहें। इस प्रकार यह उत्सव एक प्रकार से शुद्धि का प्रतीक था। अपने ग्रन्थ 'राजनीति' में अरस्तू ने लिखा है कि हाल की स्थिति से उत्पन्न आवेश के शमन के लिये भी यूनान में उद्दाम संगीत का प्रयोग किया जाता था। अंत: स्पष्ट है कि यूनान की धार्मिक संस्थाओं में बाह्य विकारों के द्वारा आन्तरिक विकारों की शान्ति और उनके शमन का यह उपाय अरस्तू को ज्ञात था और संभव है कि वहाँ से भी उन्हें विरेचन सिद्धान्त की प्रेरणा मिली हो। सारांश यह है कि विरेचन का लाक्षणिक प्रयोग धार्मिक आधार पर किया और उसका अर्थ था बाह्य उत्तेजना और अन्त में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शान्ति। धार्मिक साहित्य एक सीमा तक यह कार्य करता भी है।

नीतिपरक अर्थ-विरेचन सिद्धान्त के नीतिपरक अर्थ की व्याख्या एक जर्मन विद्वान वारनेज ने की। उसके अनुसार मानव मन में अनेक मनोविकार

वासना रूप में स्थिति रहते हैं। इनमें करुणा और त्रास नामक मनोवेग मूलत: दु:खद होते हैं। त्रासदी रंगमंच पर ऐसे दृश्य प्रस्तुत करती है जिसमें ये मनोवेग अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, उसमें ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित की जाती हैं, जो त्रास और करुणा से भरी होती हैं। प्रेक्षक जब इन दृश्यों को देखता है या उन परिस्थितियों के बीच मानसिक रूप से गुजरता है तो उसके मन में भी त्रास और करुणा के भाव अपार वेग से उद्वेलित होते हैं और तत्पश्चात् उपशमित हो जाते हैं। प्रेक्षक त्रासदी को देखकर मानसिक शान्ति का सुखद अनुभव करता है क्योंकि उसके मन में वासना आदि मनोवेगों का दंश समाप्त हो जाता है। अत: विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआकृमनोविकारों के उत्तेजन के बाद उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक शक्ति और विशदता मिलती है। निश्चय ही ये कार्य भी साहित्य के द्वारा प्रतिपादित होते हैं। अन्य ललित कलाएँ भी यही सब करती हैं।

कलापरक अर्थ–अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त के कलापरक अर्थ का संकेत तो गेटे तथा अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि आलोचकों ने भी दिया था परन्तु उसका सर्वाधिक आग्रह के साथ प्रतिपादन करने वाले हैं प्रोफेसर वूचर। उनका कथन है कि अरस्तू का विरेचन शब्द केवल मनोविज्ञान अथवा चिकित्सा शास्त्र से ही सम्बन्धित नहीं है, कला सिद्धान्त का भी अभिव्यंजक है। यह (विरेचन) केवल मनोविज्ञान अथवा नियम शास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर एक कला सिद्धान्त का अभिव्यंजक हैदृत्रासदी का कर्तव्य कर्म केवल करुणा या त्रास के लिये अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है अपितु उन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है और कला के माध्यम में डालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करता है। प्रोफेसर वूचर विरेचन के चिकित्सा शास्त्रीय अर्थ को ही अरस्तू का एक मात्र आशय नहीं मानते। उनके अनुसार विरेचन का कला परक अर्थ हैकृपहले मानसिक संतुलन और बाद में कलात्मक परिष्कार। भारतीय रसवादी भी कुछ इसी प्रकार की धारण कलाओं के सम्बन्ध में रखते हैं। व्याख्याओं की समीक्षा–व्याख्याकारों द्वारा प्रस्तुत विरेचन के सभी अर्थ अरस्तू को अभिप्रेत थे अथवा नहीं यह कहना अत्यन्त कठिन है क्योंकि इस विषय पर उनकी अपनी व्याख्या अपर्याप्त है। अंत: इस विषय में हम केवल अनुमान या तर्क से काम ले सकते हैं। धार्मिक शुद्धि की ओर तो स्वयं अरस्तू ने भी संकेत किया है साथ ही मानसिक शुद्धि की चर्चा भी उनके राजनीति नामक ग्रन्थ में उपलब्ध हो रही है अत: वे इसका नैतिक अर्थ भी करते होंगे। प्रश्न यह है कि

क्या वे उसका कलापरक अर्थ भी ग्रहण करते थे? हमारा मत है कि धर्मपरक, नीतिपरक तथा कलापरक तीनों अर्थों में सत्य का अंश वर्तमान है। यद्यपि प्रोफेसर बूचर ने जिस कलात्मक परितोष की बात कही है उसका अरस्तू ने कोई संकेत नहीं दिया है तथापि कलात्मक अर्थ भी अरस्तू को थोड़ा बहुत अवश्य अभीष्ट था। उनके अनुकरण सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी यहाँ इस

अर्थ के प्रयोजन होने की बात भी स्वीकार की जा सकती है। प्रोफेसर मरे ने यूनान की प्राचीन प्रथा के साथ विरेचन सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने विरेचन की धर्मपरक व्याख्या की है। इसी प्रकार फ्रायड, एडलर तथा युंग आदि ने नीतिपरक व्याख्या की है। प्रो0 वूचर ने ही कलापरक व्याख्या की है। उनका कहना है कि अरस्तू का अभीष्ट केवल मन को सामंजस्य, जन्य विशदता और भावनाओं की शुद्धि का था। कला जन्य अस्वाद अरस्तू के विरेचन की परिधि के बाहर की बात है। वे कहते हैं-विरेचन कलास्वाद का साधक तो अवश्य था।...परन्तु विरेचन में कलावाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है। अंत: विवेचन सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित न्याय संगत नहीं है। इस प्रकार अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त अपने ढंग से त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान करता है। उनके अनुसार त्रास और करुणा दोनों ही कटु भाव है। त्रासदी में मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा यह कटता नष्ट हो जाती है और प्रेक्षक मनरूशक्ति का उपयोग करता है। मन की यह स्थिति सुखद होती है। अरस्तू को विरेचन से इतना ही अभिप्रेत था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरस्तू के दो ही प्रमुख काव्य सिद्धान्त थे एक था। अनुकरण सिद्धान्त और दूसरा विरेचन सिद्धान्त।

अरस्तू ने 'विरेचन' शब्द का प्रयोग अपने काव्यशास्त्र के छठे अनुच्छेद के आरम्भ में त्रासदी की परिभाषा देते हुए, केवल एक बार किया है–श्शत्रासदी किसी गंभीर स्वत: पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप में प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमे करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।'' अरस्तू ने न तो 'विरेचन सिद्धांत' की कोई परिभाषा दी न ही उसकी व्याख्या की. 'विरेचन' का यूनानी अर्थ 'कैथार्सिस' है।

अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त शब्द कैथार्सिस की मूल धातु कैथारिओं का अर्थ है सफाई करना या अशुद्धियों को दूर करना, अतः कैथार्सिस का व्युत्पत्तिपरक अर्थ हुआ शुद्धिकरण। अरस्तू ने 'विरेचन' शब्द का ग्रहण चिकित्साशास्त्र से किया था, इस मत का प्रचार सं 1857 में जर्मन विद्वान बार्नेज के एक निबंध से हुआ, और तदुपरांत इस प्रायः स्वीकार किया जाने लगा। इन अनुमान के दो कारण थे– (1) अरस्तू स्वयं वैध पुत्र थे और (2) उनके पूर्व प्लेटो या किसी अन्य विचारक ने साहित्य के संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया था।

चिकित्साशास्त्र में इस शब्द का अर्थ था रोचक औषधि द्वारा उदारगत विकारों का निदान, अस्वास्थ्यकर पदार्थों का बहिष्कार कर शरीर को स्वस्थ करना। सम्भावना यही है की प्लेटो के काव्य प्रभाव सम्बन्धी आक्षेपों का उत्तर देने के लिए अरस्तु ने चिकित्साशास्त्र से इस शब्द को ग्रहण कर त्रासदी के प्रसंग में इसका प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में किया।

3

यथार्थवाद

यथार्थवाद से तात्पर्य उस विचारधारा से है, जो कि उस वस्तु एवं भौतिक जगत को सत्य मानती है, जिसका हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। पशु, पक्षी, मानव, जल थल, आकाश इत्यादि सभी वस्तुओं का हम प्रत्यक्षीकरण कर सकते हैं, इसलिए ये सभी सत्य हैं, वास्तविक हैं। यथार्थवाद, जैसा यह संसार है वैसा ही सामान्यतः उसे स्वीकार करता है। यथार्थवाद यद्यपि आदर्शवाद के विपरीत विचारधारा है, किन्तु यह बहुत कुछ प्रकृतिवाद एवं प्रयोजनवाद से साम्य रखती है।

यथार्थवाद किसी एक सुगठित दार्शनिक विचारधारा का नाम न होकर उन सभी विचारों का प्रतिनिधित्व करता है, जो यह मानते हैं कि वस्तु का अस्तित्त्व हमारे ज्ञान पर निर्भर करता है, किन्तु यथार्थवाद विचारक मानते हैं कि वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्त्व है, चाहे वह हमारे अनुभव में हो अथवा नहीं। वस्तु तथा उससे संबंधित ज्ञान दोनों अलग-अलग सत्तायें हैं। विश्व में अनेक ऐसी वस्तुएं हैं जिनके विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं होता परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे वस्तुएं अस्तित्त्व में नहीं हैं। ज्ञान तो हमेशा बढ़ता जाता है। जगत का सम्पूर्ण रहस्य मानव ज्ञान की सीमा में कभी नहीं आ सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु की स्वतंत्र स्थिति है चाहे मनुष्य को उसका ज्ञान हो अथवा नहीं। व्यक्ति का ज्ञान उसे वस्तु की स्थिति से अवगत कराता है, परन्तु वस्तु की स्थिति का ज्ञान मनुष्य को न हो तो वस्तु का अस्तित्त्व नष्ट नहीं होता। यथार्थवाद के अनुसार हमारा

अनुभव स्वतंत्र न होकर वाह्य पदार्थों के प्रति प्रतिक्रिया का निर्धारण करता है। अनुभव वाह्य जगत से प्रभावित है और वाह्य जगत का वास्तविक सत्ता है। यथार्थवाद के अनुसार मनुष्य को वातावरण का ज्ञान होना चाहिये। उसे यह पता होना चाहिए कि वह वातावरण को परिवर्तित कर सकता है अथवा नहीं और इसी ज्ञान के अनुसार उसे कार्य करना चाहिये।

यथार्थवाद का नवीन रूप वैज्ञानिक यथार्थवाद है जिसे आज 'यथार्थवाद' के नाम से ही जान जाता है। वैज्ञानिक यथार्थवादियों ने दर्शन की समस्याओं को सुलझाने में विशेष रूचि प्रदर्शित नहीं की। उनके अनुसार यथार्थ प्रवाहमय है। यह परिवर्तनशील है और इसके किसी निश्चित रूप को जानना असंभव है। अतः वह यह परिकल्पित करता है कि यथार्थ मानव मन की उपज नहीं है। सत्य मानव मस्तिष्क की देन है। यथार्थ मानव-मस्तिष्क से परे की वस्तु है। उस यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण विकसित करना सत्य कहा जायेगा। जो सत्य यथार्थ के जितना निकट होगा वह उतना ही यथार्थ सत्य होगा।

इतिहास

यथार्थवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसका बीजारोपण मानव मस्तिष्क में अति प्राचीन काल में ही हो गया था, जबकि वह अपने चारों ओर के वातावरण की वस्तुओं से प्रभावित होकर उन्हीं को यथार्थ मान लेता है। बटलर के अनुसार दृ बहुत बड़ी संख्या में व्यक्तियों के लिए संसार निर्विवाद यथार्थ है। यदि उसकी यथार्थता के सम्बन्ध में पूछा जाय तो शीघ्र ही उत्तर प्राप्त होगा कि वास्तव में यह जगत यथार्थ है। अज्ञात क्रिया एवं उपयुक्ति के अकृत्रिम क्षणों में हम सभी जगत के वाह्य रूप को स्वीकार करते हुए यही मनोवृत्ति धारण करेंगे। यहाँ तक कि आदर्शवादी विचारक अपने अनधिकृत क्षणों में इस प्रकार की अकृत्रिमता के दोषी हैं, ऐसा यथार्थवादियों का कथन है।

किन्तु जहाँ तक यथार्थवाद के वैज्ञानिक स्वरूप का प्रश्न है हम यह कह सकते हैं कि जिस यथार्थवादी विचारधारा का बहुत पहले मानव मस्तिष्क में अचेतन रूप से बीजारोपण हो गया था, उसका सूत्रपात 16वीं शताब्दी के अन्त में हुआ जो 17वीं शताब्दी तक पहुँचते पहुँचते एकदम स्पष्ट हो गया।

अपने विकास क्रम में यथार्थवाद प्राचीन काल से आधुनिक काल तक अनेक रूपों में उपस्थित हुआ। प्राचीन यथार्थवाद के अनुसार सृष्टि के दो रूप थे–

(1) प्राकृतिक व्यवस्था की सृष्टि, जिसमें परिवर्तन संभव है।
(2) दैवीय व्यवस्था की सृष्टि जिसमें परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है।

इस प्रकार बौद्धिकतावादी यथार्थवाद ने द्वैतवाद का समर्थन किया है। बौद्धिकतावादी यथार्थवाद के अनुसार दैवी जगत में कोई परिवर्तन नहीं होता इसलिए वहाँ पर शिक्षा का कोई प्रश्न नहीं। सीखना केवल प्राकृतिक जगत में ही संभव है, दैवीय जगत में नहीं।

यथार्थवाद के प्रादुर्भाव के दो प्रमुख कारण थे- प्रथम, प्राचीनकाल से चली आने वाली आदर्शवादी विचारधारा का 16वीं शताब्दी तक आडम्बरपूर्ण एवं खोखला हो जाना तथा द्वितीय, विज्ञान का विकास। सोलहवीं शताब्दी तक लगभग सभी प्राचीन तथा मध्यकालीन आदर्श महत्वहीन हो चुके थे। उनमें किसी का विश्वास न था क्योंकि वे वर्तमान मानव जीवन के लिए उपयोगी नहीं थे। वे मनुष्य की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ थे। वे मानसिक विकास तो कर सकते थे किन्तु मनुष्यों में क्रियाशीलता एवं व्यावहारिकता उत्पन्न नहीं कर सकते थे। प्राचीन आदर्श समय की माँग को पूरा करने में असमर्थ थे, इसलिए मनुष्य ऐसे आदर्श की माँग करने लगा जो वास्तविक जीवन व्यतीत करने में सहायक हो। परिणाम स्वरूप मध्यकाल में मठवाद एवं विद्वद्वाद के बाद पुनःत्थान काल का जन्म हुआ।

पुनःत्थान काल के इस युग में मनुष्य में एक ऐसी लहर उत्पन्न हो गयी कि परलोक के बजाय मानवीय गुणों का विकास करना मानव जाति का प्रधान लक्ष्य हो गया। इसके परिणामस्वरूप 'मानवतावाद' का प्रादुर्भाव हुआ और धीरे धीरे मानवतावाद सिसरोवाद में परिवर्तित हो गया क्योंकि सिसरों की लेखन शैली अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बन गया। इसके उपरान्त–श्सुधारकाल' का जन्म हुआ। मानवतावाद एवं सुधारवाद के परिणामस्वरूप मनुष्य 'बुद्धि' एवं 'विवेक' पर आस्था रखने लगा और इनके आधार पर सभी वस्तुओं को समझने का प्रयास करने लगा। उनके विश्वास को और अधिक दृढ़ विज्ञान के विकास ने किया जो यथार्थवाद के जन्म का दूसरा महत्वपूर्ण कारण है। कोपरनिकस, गैलीलियो, न्यूटन, जॉन केपलर, हारवीज, बेकन इत्यादि के शोधों के फलस्वरूप मानव दृष्टिकोण की संकीर्णता एवं अन्ध विश्वास नष्ट हो गये। वैज्ञानिक युग का आरम्भ हुआ और इस युग ने 'बुद्धि' एवं विवेक' को अधिक प्रधानता दी तथा मनुष्य का ध्यान वास्तविकता की ओर आकृष्ट किया। इस प्रकार भौतिक

दार्शनिकता एवं वैज्ञानिक प्रवृत्ति के समावेश से यथार्थवाद का जन्म हुआ जो परलोक की सत्ता को अस्वीकार करता है।

भारतीय यथार्थवाद

भारतीय दर्शन में न्याय एवं वैशेषिक दर्शन यथार्थवाद के समकक्ष माने जाते हैं।

न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम थे जो अक्षपाद के नाम से भी प्रसिद्ध थे। न्याय दर्शन में तार्किक आलोचना का आश्रय लिया गया है। अन्य सभी भारतीय दर्शन की भाँति न्याय दर्शन का उद्देश्य भी मोक्ष प्राप्ति है, किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। न्याय दर्शन में प्रमाण का विशेष महत्व है। यह दर्शन जीवन की समस्याओं का समाधान करने के लिए प्रमाणों द्वारा किसी विषय की परीक्षा करता है। जिसके द्वारा प्रभा की उत्पत्ति होती है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रभा का अर्थ है – यथार्थ ज्ञान अथव यथार्थ अनुभव। न्याय दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान चार उपायों से प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए प्रमाण भी चार माने गये हैं। यथा प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान एवं शब्द। जो अनुभव इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होता है और जिसके विषय में सन्देह का अभाव होता है तथा जो यथार्थ भी होता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। किसी हेतु अथवा लक्षण के ज्ञान से उस हेतु को धारण करने वाले पदार्थ का ज्ञान करना 'अनुमान' कहलाता है। 'उपमान' के द्वारा नाम एवं नामी का सम्बन्ध जान जाता है। 'गवय' अथवा नील गाय, सामान्य गाय के समान होती है। इसको सुनकर जब कोई व्यक्ति 'गो' अर्थात सामान्य गाय के समान पशु को नीलगाय समझने लगता है तब उसे 'उपमान' द्वारा प्राप्त ज्ञान कहा जाता है। चार्वाक दर्शन में उपमान को प्रमाण स्वीकार नहीं किया गया है। 'शब्द' न्याय दर्शन के अनुसार अन्तिम प्रमाण है। शब्दों एवं वाक्यों से हम पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह ज्ञान शब्द प्रमाण द्वारा होता है। इसलिए कहा गया है – आप्तोपदेशः शब्दः अर्थात यथार्थ का ज्ञान रखने वाले पुरूष का वचन ही शब्द प्रमाण है।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव इन सात पदार्थों पर विचार किया है। न्याय एवं वैशेषिक को यहाँ यथार्थवादी कहा गया है, किन्तु दोनों ही मुक्ति पर विश्वास करते हैं। अपने विवेचन में यह यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, इसीलिए इन्हें यथार्थवाद कहा गया है।

जैन दर्शन का स्यादवाद भी यथार्थवादी माना गया है। स्यादवाद सहिष्णुता एवं विनीतता का मार्ग है, जो हमें छात्रों में जनतंत्रात्मक मनोवृत्ति का विकास करने की प्रेरणा देता है, साथ ही दूसरों के विचारों को सुनना, दूसरे के रीति रिवाजों को समझना तथा लोकतंत्र के संचालन की भी शिक्षा देता है। भारतीय यथार्थवाद जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने का परामर्श देता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर, आत्मा इत्यादि को यह अनावश्यक बताता है।यथार्थवाद के लिए अंग्रेजी का शब्द 'रियलिज्म' है। 'रियल' शब्द ग्रीक भाषाके रीस शब्द से बना है जिसका अर्थ है वस्तु। अत: रियल का अर्थ होता है वस्तु सम्बंधी। यही कारण है ''रियलिज्म' (यथार्थवाद) वस्तु के अस्तित्त्व से सम्बन्धित यह एकदृष्टिकोण है जिसके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु सत्य है और प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्षका अनुभव हमें इन्द्रियों से होता है। वास्तव में यथार्थवाद एक भौतिकवादी दर्शन है।

वस्तु को वास्तविक अथवा यथार्थ मानने के कारण ही इस विचारधारा को वास्तववादअथवा यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है। यथार्थवाद जगत को मिथ्या कहने वाली भावनाका विरोधी स्वर है।

कार्टर वी0 गुड महोदय के अनुसार – ''वह सिद्धान्त जिसके अनुसारवस्तुगत यथार्थता या भौतिक जगत चेतन मन से स्वतन्त्र रूप में अस्तित्त्व रखताहै, उसकी प्रकृति और गुण उसके ज्ञान से मालूम होते हैं।''

रास महोदय के अनुसार – ''यथार्थवाद यह मानता है कि जो कछु हमप्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं, उनके पीछे तथा उनसे मिलता जुलता वस्तुओं काएक यथार्थ जगत है।''

स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में–''यथाथर्वाद का अर्थ उस विश्वास अथवासिद्धान्त से है, जो संसार को वैसा ही मानता है जैसा वह हमें दिखाई पड़ताहै – अर्थात संसार केलव एक प्रपंच मात्र है।''

नेफ के अनुसार – ''यथार्थ्वाद आत्मगत आदर्शवाद का प्रतिकार है, जो सत्यका निवास मानव मस्तिष्क में मानता है। सब यथार्थवादी इस बात से सहमतहैं कि सत्य और वास्तविकता का अस्तित्त्व है और रहेगा, भले ही किसी व्यक्तिको उनके अस्तित्त्व का ज्ञान न हों।''

ब्राउन के अनुसार–''यथार्थवाद का मखु य विचार यह है कि सब भौतिक वस्तएुतथा बाह्य जगत के पदार्थ वास्तविक हैं और उनका अस्तित्त्व देखने वाले

सेपश्थक है। यदि उनको देखने वाले व्यक्ति न हों, तो भी उनका अस्तित्त्व होगाऔर वे वास्तविक होंगे।''

यथार्थवाद साधारण व्यक्तियों की विचाराधारा माना जाये तो कुछ अनुचित नहींहै। सरल यथार्थवाद वस्तु जगत के प्रति हमारे दैनिक जीवन अनुभव एवं विश्वास हीहै। साधारणतया हम यह कह सकते हैं कि भौतिक सत्य को ही यथार्थवादी सब कुछमानता ह। यथार्थवादी भौतिक जगत की सत्यता एवं सत्ता दोनों में विश्वास रखता है।यथार्थवाद प्रयोगवाद में विश्वास रखता है। डॉ0 चौबे ने स्पष्ट तौर पर यथार्थवादी दर्शनके विषय में कहा –''यथार्थवाद अनुभव में भौतिक यथार्थता के जगत को वास्तविक एवंआधारभूत वस्तु मानता है। इसका विचार है कि भौतिक जगत ही वस्तुगत है औरतथ्यगत जगत की कोई ऐसी वस्तु है जिसे जैसे वह है उसी तरह सरलता से स्वीकारकर लेता है।''

यथार्थवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यथार्थवाद विचारधारा नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह वाद भी कईशताब्दियों से चला आ रहा है। अरस्तु ने अपनी पुस्तक 'फिजिक्स' में लिखा है – ''इसप्रकार की बहुत सी वस्तुयेंहैं जिन्हें हमसे संकेत किया है। जैसे कि पशु, पौधे, हवा,अग्नि और जल और जो अधिक स्पष्ट ढंग से प्रदर्शित करने का प्रयत्न करेगा तो उसेमालूम होगा कि अन्य कम प्रकट वस्तुओं की अपेक्षा उसे ज्ञात होगा कि उसमें विभेद करना कठिन नहीं है कि किनका अस्तित्त्व है किनका नहीं।'' इसका अभिप्राय है कि जगत यथार्थ है। अरस्तु के बाद सन्त अक्विनास के विचारों में भी पदार्थ की यथार्थता का आभास मिलता है। सन्त अक्विनास ने माना कि ईश्वर ने वस्तु जगत का निर्माण किया है। इसके पश्चात दर्शन जगत में कमेनियस नामक शिक्षाशास्त्री ने यथार्थवाद की भावना का प्रचार किया। कमेनियस ने मन को एक वस्तु रूप दिया। उनके अनुसार मनुष्य का मन ''एक गोल आकार का दर्पण है, जो कमरे में टंगा है और जिसमें उसकेचारों ओर की सभी वस्तुओं की प्रतिच्छाया पड़ती है।''

कमेनियस के पश्चात यथार्थवाद का विकास वस्तुत: माना जाता है। इसके बादसोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी से यथार्थवाद ने एक नया रूप लेकर आगे की ओर विकसित हुआ। डेकोर्ट ने यथार्थवाद को एक नया रूप दिया और आदर्णवादी विचारों के साथ यथार्थवादी विश्वास को बढ़ावा दिया। डेकोर्ट ने अपनेी द्वेतत्त्ववाद ने यथार्थवाद की स्पष्टझलक दिया और स्पष्ट किया कि ईश्वर

एवं प्रकृति अलग-अलग तत्त्व हैं। इसके पश्चात् स्पिनोजा ने भौतिक पदार्थ एवं वस्तुओं के प्रसार में ईश्वर के गुण को देखकर यथार्थवादी विचारधारा को हवा दी। स्पिनोजा के पश्चात लॉक ने अपने विचार प्रस्तुतकिये कि अनुभव से ही ज्ञान प्राप्त होता है और अनुभव प्राप्त करने में प्रकृति सहयोगदेती है। प्रथम प्रकार अनुभव बाह्य जगत के प्रभाव से इन्द्रियों के द्वारा मन को ज्ञानमिलता है। लॉक के पश्चात कान्ट के विचारधारा में भी यथार्थवादी झलक मिलती है।कान्ट के अनुसार हमारे इन्द्रियानुभव और प्रत्यक्षीकरण बाह्य जगत की पुनःउपस्थिति हैं। यदि ये हमारी चेतना में उपस्थित हैं तो कांट का यह विचार नवयथार्थवाद से मिलताहै। शिक्षाशास्त्री हरबार्ट के विचार में भी यथार्थवादी पुट मिलता है क्योंकि हरबार्ट मनपर बाह्य जगत पर प्रभाव मानते हैं।

बीसवीं शताब्दी से यथार्थवाद की नयी विचारधारा ने जन्म लिया और यहनवयथार्थवाद कहलायी। राल्फ, बाटन, पैरो, एडविन, वी0होल्ट, वाल्टर टी0, मारावन,एडवर्ड, ग्लीसन, स्फालडिंग तथा वाल्टर वी0 पिटकिन आदि नवयथार्थवादी कहलाये।यूरोप में यथार्थवाद का विकास का श्रेय ब्रेटेनो तथा मीरांग तथा जेम्स और मोच कोहै। बाद में मूर तथा रसेल ने आदर्शवाद के विरोध में यथार्थवाद को बढ़ाया। अमेरिकामें इंग्लैण्ड के दार्शनिक नन, रसेल आदि के प्रयासों से आगे बढ़ा। इसके पश्चात एलेक्जेन्डर, लायड मार्गन, मायड, मूर, केम्प, स्मिथ, जोड आदि अन्य दार्शनिकों नेयथार्थवादी प्रवृत्ति प्रकट की है। इसके पश्चात् आलोचनात्मक यथार्थवाद ने जन्मलिया। इनमें यथार्थवाद ड्यूरट ड्रेक, आथर ओ0 लवज्वाय, जेम्स विसेट प्रैट, जार्जसथ्याना, आर्थर के0 राजर्स तथा सा0ए0 स्ट्रांग आदि प्रमुख हैं। नवयथार्थवाद एवं आलोचनात्मक यथार्थवाद में भेद केवल ज्ञान के सिद्धान्त में से हैं। आलोचनात्मक यथार्थवाद के अनुसार हमारी चेतना में वस्तु की उपस्थित नहीं हो तो बल्कि उसकी पुनःपस्थिति होती है और चेतना में हम जिस वस्तु का अनुभव करते हैं वह बाह्य वस्तु से अलग होती है। नवयथार्थवादी ऐडमसन तथा एंड्रूसेट नामक नवयथार्थवादी केअनुसार वस्तु हमारे जगत ने यथार्थ होती हैं और प्रत्यक्षीकरण के तीन अंश होते हैं-प्रत्यक्षीकरण का कार्य, प्रत्यक्ष, प्रत्यक्षीकृत वस्तु। बाद में सेलार्स ने भौतिक यथार्थवाद की विचारधारा निकाला जिनके अनुसार संसार की वस्तुओं का स्थान तथा भौतिक गुण होता है और वे भौतिक प्रणाली में अविच्छेद रूप से बंधी हुयी है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में यथार्थवादी विचारधारा भी मिलती है। वेदों मेंप्रकृति के तत्त्वों का वर्णन मिलता है, जिन्हें देवरूप स्वीकार किया गया और

तत्सम्बन्धी उपासना हुयी। मानव शरीर को पंचतत्त्व का मेल माना और शरीर को धर्म का साध्न माना। साधन को यथार्थ व अस्तित्त्ववान माना गया।

यथार्थवादी के तत्त्वमीमांसा के तत्त्व भारतीय दर्शन में मिलता है जिसमें संसारके पदार्थ भौतिक तथा मानसिक पदार्थ में बंटे माने गये। चरम यथार्थवादी चार्वाकवादी माने गये और इन्होंने संसार को यथार्थ माना। इन चार्वाकवादियों में इन्द्रियसुख को महत्व दिया। सांख्य दर्शन में भी यथार्थवादी तत्त्व पाये जाते हैं क्योंकि प्रकृति एवं पुरूषदो तत्त्व माने गये हैं। प्रकृति को सत्य, रजस और तमस् से युक्त माना गया और प्रकृति के परिवर्तन पुरूष के लिए उपभोग का आधार प्रदान करती है।

बौद्ध दर्शन में यथार्थवादी तथ्य प्रकट होते हैं, बौद्ध विषय वादियों की एक प्रशाखा मानता है कि बाह्य जगत है तथा उनका अपरोक्ष तथा साक्षात् प्रत्यक्ष होता है।बौद्ध धर्म का दूसरा सम्प्रदाय यह मानता है कि पदार्थों का उनके प्रत्ययों से अनुमानलगाया जता है, जो उनकी प्रतिच्छाया तथा प्रतिरूप है। इस प्रकार से स्पष्ट है किभारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं में भी यथार्थवादी भावना पायी जाती है।

यथार्थवाद के दार्शनिक आधार

तत्त्व दर्शन में यथार्थवाद -

यर्थाथवाद यह मानते हैं कि ब्रह्माण्डगतिणील पदार्थ का बना है? हम अपने अनुभवों के आधार पर जगत केनियमित क्रियाकलापों को पहचान सकते हैं। पदार्थ गतिशील हैं और वहअस्तित्त्व में हैं इसलिए सत्य है।

ज्ञान शास्त्र में यथार्थवाद

यथार्थवादियों का विचार है कि वास्तविकजगत का अस्तित्त्व है। हम वास्तविक वस्तु को जानते हैं क्योंकि इसकाअस्तित्त्व है। हम यह कह सकते हैं कि वस्तु का वास्तविक जगत में अस्तित्त्वहै तो वह सत्य है। कोई भी कथन विश्लेषण के पश्चात ही स्वीकार्य है। ज्ञानका अस्तित्त्व मस्तिष्क ही स्वीकार करता है।

मूल्य मीमांसा में यथार्थवाद -

यथार्थवादी प्राकश्तिक नियमों में विश्वासकरते हैं उनका कहना है कि मनुष्य इन नियमों का पालन करके सद्जीवनव्यतीत कर सकता है। प्रकृति

सौन्दर्य से परिपूर्ण है। सौन्दर्य पूर्ण कला-कार्य,ब्रह्माण या प्रकृति की व्यवस्था तथा तर्क की प्रतिछाया है। कला की सराहनाकी जानी चाहिए।

यथार्थवाद के सिद्धान्त - यथार्थवाद प्रत्यक्ष जगत में ही विश्वास करते हैं उनकेअनुसार अस्तित्त्व प्रत्यक्ष में हैं। उनके कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं जिस पर नीचे विचारकिया जा रहा है।

दृश्य जगत ही सत्य-यथार्थवादी यह मानते है कि जो कुछ हम दखेतेसुनते व अनुभव करते हैं वही सत्य है। प्रत्यक्ष ही सत्य है। इस जगत कासत्यता विचारों के कारण नहीं है अस्तित्त्व स्वयं में हैं।

इन्द्रियाँ अनुभव व ज्ञान का आधार–सच्चे ज्ञान की प्र प्ति ने हमारी बाह्यइन्द्रियां सहायक होती हैं क्योंकि यह हमें अनुभव प्रदान कर पूर्ण एवं वास्तविकज्ञान लेने का आधार बनाती हैं। रसेल व हाइटहैड ने संवेदना को ज्ञान काआधार माना। रसेल के अनुसार - ''पदार्थ के अन्तिम निर्णायक तत्त्व अणु नहींहै, वरन संवेदन हैं'। मेरा विश्वास है कि हमारे मानसिक जीवन के रचनात्मकतत्त्व संवेदना तत्त्व संवेदनाओं औति प्रतिभाओं में निहित होते हैं।''

वस्तु जगत की निरन्तरता- यथार्थवादी वस्तु जगत में नियमितता कोस्वीकार करते हैं। वे मन को भी यांत्रिक ढंग से क्रियाशील मानते हैं।यथार्थवादियों का विचार है कि अनुभव और ज्ञान के लिए नियमिता का होनाआवश्यक है।

यथार्थवाद पारलौकिकता को अस्वीकार करता है -यथार्थवाद प्रत्यक्षको ही मानता है क्योंकि उसका अस्तित्त्व है और यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण काआधार है।

वर्तमान व व्यावहारिक जीवन को महत्व –यथार्थवादी उन आदर्शों,नियमों एवं मूल्यों का कोई महत्व नहीं देते हैं। जिनका सम्बन्ध वर्तमान एवंव्यवहारिकता से नहीं है। बौद्धिकता व आदर्शवादिता जीवन को सुखी नहीं करसकते उनका मानना है कि-जीवन का लक्ष्य समाज का कल्याण होना चाहिए।

समाज के लोगों का दृष्टि कोण वैज्ञानिक हो।

सामाजिक सक्रियता पर बल दिया जाना चाहिए।

जीवन में वे क्रियायें अपनायी जायें जो लाभप्रद हों।

वर्तमान जीवन ही विश्वसनीय हैं और भौतिकता से परिपूर्ण होनाचाहिए।

यथार्थवाद के सम्प्रदाय

अब आप यर्थावाद के दार्शनिक आधार एवं सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त करचुके हैं। अब हम यह जानेंगे कि यथार्थवाद के कौन-कौन से सम्प्रदाय हैं इनके विषयमें नीचे वर्णन किया गया है।

मानववादी यथार्थवाद–

इसे ऐतिहासिक यथार्थवाद कहा गया। इसकाजाना सांस्कृतिक पुनःत्थान के युग में हुआ। इस युग में मनुण्य को सर्वोच्चस्थान प्रदान किया गया। इस दर्शन में मुख्य रूप जीवन एवं प्रकृति को महत्वदिया और प्राचीन साहित्य अध्ययन को महत्व दिया। इस विचारधारा कोमानने वाले इरैसमस, रैबेले एवं मिल्टन थे।

समाजिकतावादी यथार्थवाद–

इस विचारधारा ने पुस्तकीय अध्ययन काविरोध किया। बालक में सामाजिक कुशलता को उत्पत्ति को शिक्षा का प्रमुखउद्देश्य माना एवं व्यवहारिक अनुभव आधारित शिक्षा पर बल दिया। लॉडमोटैन एवं जॉन लॉक प्रमुख विचारक थे।

ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद–

इस विचारधारा का सबसे अधिक प्रभाव शिक्षा परपड़ा। इसके दृष्टिकोण में प्रकृतिवाद एवं प्रयोज्यवाद के सभी अनुभववादीसिद्धान्तों की झलक मिलती है।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री बेकन, जर्मनी के रॉटके व चेकोस्लोबाकिया काकामेनियस इस विचारधारा के विचारक माने गये ज्ञानेन्द्रिय यथार्थ ने ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान का मुख्य आधार माना इस विचारधारा ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण काप्रतिपादन किया।

यथार्थवाद एवं शिक्षा

यथार्थवादी शिक्षा का क्रमबद्ध विवेचन हैरी ब्राउडी की पुस्तक ''बिल्डिंग अफिलासफी ऑफ एजुकेणन'' (1954) में प्राप्त होता है। यथार्थवादी शिक्षा की कुछविशेषताएं नीचे वर्णित है-

उदार शिक्षा– यथार्थवादी उदार शिक्षा पर बल देते थे। उन्हानें पुस्तकीय एवंअव्यवहारिक ज्ञान का विरोध किया। मिल्टन ने स्पष्ट कहा है कि–''मैं उस शिक्षाको पूर्ण एवं उदार शिक्षा कहता हूँ जो एक व्यक्ति को न्यायोचित ढंग सेकुणलतापूर्वक तथा उदारता के साथ निजी एवं सार्वजनिक- दोनों प्रकार के सभीकार्यों को णान्ति तथा युद्ध के समय पूर्ण करने के योग्य बनाती है।''

विस्तृतृत एवं व्यवहारिक पाठ्यक्रम– रास ने स्पष्ट किया है कि यथार्थवादपुस्तकीय एवं अवास्तविक ज्ञान के विरोध में आया है। यथार्थवाद ने पाठ्यक्रम को विस्तृत बनाया। कार्टर वी गुड ने लिखा है–''विस्तृत पाठ्यक्रम यथार्थवाद की एकप्रमुख विशेषता थी। 17 वीं शताब्दी के यथार्थवादियों के लिए यह स्वाभाविक नहींथी कि वे 25 या 80 विषयों को अध्ययन हेतु प्रस्तुत करें। जिसमें लैटिन, फ्रैंच औरवर्नाक्यूलर जैसी दो या तीन भाषाये, गणित की दो या तीन शाखायें, कई सामाजिकअध्ययन के विषय, बहुत से विज्ञान, दार्शनिक, सैन्य सम्बन्धी और व्यावसायिक तथाणिण्टाचार सम्बन्धी विभिन्न विषय हो।'' यथार्थवादियों ने पाठ्यक्रम को वास्तविकजीवन से जोड़ा।

विज्ञान शिक्षा पर बल– यथार्थवाद के अनुसार व्यापक कोण और अन्य सच्चू य एवंनिरर्थक विषयों के स्थान पर विज्ञानों का अध्ययन का क्षेत्र में होना चाहिए। हरबर्टस्पेन्सर ने अपने लेख ''एजूकेशन'' में स्पष्ट किया और आवश्यकतानुसार विभिन्नविज्ञानों के अध्ययन पर बल दिया एवं आगमन विधि के प्रयोग पर जोर दिया।

व्यावसायिक शिक्षा पर बल– यथार्थवादी शिक्षा के साथ साथ व्यावसायिकशिक्षा पर भी बल देता है। डेविनपोर का कथन है–''कोई भी व्यक्ति किसीव्यवसाय के बिना शिक्षा का चयन न करें और न बिना शिक्षा के व्यवसाय का चयनकरे।''

समाजिक संस्थाओं को महत्व– यथार्थवादी शिक्षा में विषयों की अपेक्षाप्राकृतिक तत्त्वों एवं सामाजिक संस्थाओं को महत्व दिया। पॉल मुनरो ने लिखा है– ''शिक्षा में यथार्थवाद उस प्रकार की शिक्षा के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिसमें भाषाओं और साहित्य की अपेक्षा प्राकृतिक घटनाओं और सामाजिक संस्थाओं काअध्ययन को मुख्य विषय बनाया जाता है।''

वास्तविक शिक्षण पर बल– यथार्थवाद अध्यापक की शिक्षण विधि तथा मूल्योंसे भी सम्बन्ध रखता है और इस बात पर बल देता है कि अध्यापक वास्तविकशिक्षण करे। रॉस ने लिखा है–''शिक्षा में यथार्थवादी विचारधारा कोशिक्षण विधि के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् उसकी पाठ्य वस्तु की महत्ता एवं उसकेमूल्य हेतु सतत् चिन्तनशील रहने के लिए चुनौती देती रहती है।''

शिक्षा जीवन की पूर्णता– यथार्थवादी मानते हैं कि शिक्षा को मानव को जीवनके सुख व उपभोग के लिए तैयार करना चाहिए।और शिक्षा मानव की रूचि, योग्यताएवं आवश्यकता के अनुसार नियोजित की जानी चाहिए।

यथार्थवादी शिक्षा के उद्देश्य

मूल्यों के विषय में यथार्थवादी दृष्टिकोण व्यक्तिनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ है।अत: उद्देश्य में वस्तुनिष्ठता की स्पष्ट झलक मिलती है।

जीवन जीने की कला प्रदान करना–यथार्थवादी बच्चों को विद्धान बनानेके बजाय जीवन को सुचारू रूप से जीने की कला सिखाने की वकालत करतेहैं। उनके अनुसार बालक को व्यावहारिक जीवन को सुख पूर्वक जीने के लिएसामाजिक एवं प्राकृतिक परिवेश का पूर्ण तथा समग्र ज्ञान आवश्यक है जिससेकि व्यक्ति समायोजित हो सके।

सामाजिक दायित्व के निर्वहन की योग्यता का विकास–रॉस नेआग्रह कर लिखा है कि ''शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों का इस प्रकार निर्माणकरना है कि वे सामाजिक संस्थाओं में अपना दायित्व निभा सकें। वे सामाजिक संस्थायें हैं–परिवार, उद्योग, स्वास्थ्य संरक्षण राज्य इत्यादि।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास–यथार्थवादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना भी है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिएतर्कनापरक विवके आवश्यक है। इससे बालक तथ्यों को खोजबीन करकेसोच-समझकर वास्तविकता को समझ सकेगा।

जीवन को सुखी व सफल बनाना–यथार्थवादी वह मानते है कि शिक्षाऐसी होनी चाहिए जो कि बालक को सुखी व सफल बनाये।

बालक का सर्वागीण विकास–यथार्थवादी यह मानते हैं कि शिक्षा कोबालक के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व सामाजिक विकास करना चाहिये।इस सम्वेत् विकास से सर्वांगीण विकास हो पायेगा। रैवेले के अनुसार-''शिक्षाका उद्देश्य–बालका का सर्वांगीण विकास करना है।''

व्यावसायिक आत्मनिर्भरता–यथार्थवादी मानते हैं कि जीवन को सभ्य,सुन्दर एवं उपयोगी बनाना है तो आत्मनिर्भरता अति आवश्यक है। विवेकानन्दजी के दर्शन में भी यथार्थवादी का पुट मिलता है उन्होंने स्पष्ट किया है -'मैंसच्ची शिक्षा उसे कहता हूँ जो बालक को इस योग्य बना दे कि वह अपने पैरोंपर खड़ा हो जाये।''

विवेकशील एवं सदाचारी बनाना–मान्टेसरी के अनुसार ''व्यक्ति कोबुद्धिमान एवं विवकेशील बनाना जिससे व्यक्ति जीवन को सफल एवं उपयोगीबना सके तथा समाज की उन्नति में सहयोग दे यही शिक्षा का उद्देश्य है।''लॉक के अनुसार-''शिक्षा का उद्देश्य–बालक में सद्गुण, बुद्धिमता,सदाचरण तथा सीखने की शक्ति का विकास करना होना चाहिए।''

4

लोंजाइनस की उदात्त संबंधी अवधारणा

लोंजाइनस के विषय में प्रामाणिक जानकारी का अभाव है। लोंगिनुस जन्म से यूनानी थे। उनका समय ईसा की प्रथम या तृतीय शताब्दी माना जाता है। लोंगिनुस के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पेरी हुप्सुसश् जिसका प्रकाशन 1554 में रोबेरतेल्लो ने किया। इसके कई अनुवाद मिलते हैं। यथा. 'हाइट ऑफ इलोक्वेंसश् (वाणी की पराकाष्ठा)1662 'लाफ्टीनेस ऑर एलीगेंसी ऑफ स्पीचश् भाषा का लालित्य या उत्तुंगताद्ध आदि। इसी के अनुरूप हिन्दी में 'काव्य में उदात्त तत्त्वशा् डॉ. नगेन्द्र एवं नैमिचंद जैन की पुस्तकों में भी मिलती है। 'पेरि हुप्सुस' पत्र के रूप में पोस्तुमिउस तेरेन्तियानुस नामक एक रोमी युवक को संबोधित है, जो लोंगिनुस का मित्र या शिष्य रहा होगा। वस्तुत: पुनर्जागरण युग में 16वीं सदी में जब पहली बार 'पेरीइप्सुस' कृति सामने आई तब यह मत प्रचलित हुआ कि लोंजाइनस शास्त्रवाद से प्रभावितए तीसरी सदी में पालचीरा की महारानी जेनोविया के अत्यंत विश्वासपात्र यूनानी मंत्री थे। जिन्हें बाद में महारानी के लिए मृत्यु का वरण करना पड़ा 1928 में स्काट.जेम्स ने इस मत को पुन:स्थापित करते हुए उन्हें 'पहला स्वच्छंदतावादी आलोचक' कहा है। पश्चिम में लोंजाइनस से पूर्व काव्यशास्त्रीय चिंतन की एक सुदृढ़ परम्परा का विकास प्लेटो तथा अरस्तू से ही माना जाता है। लोंजाइनस ने इन दोनों की अवधारणाओं को आत्मसात् करके

एक नए काव्यशास्त्रीय विचार प्रस्तुत किए। जहाँ प्लेटो के लिए साहित्य 'उत्तेजक' अरस्तू के लिए 'विरेचकश' वहीं लोंजाइनस के लिए 'उदात्त' था। उनकी यह अवधारणा इतनी युगांतकारी सिद्ध हुई कि आगे चलकर उसे शास्त्रवाद स्वच्छंदतावाद आधुनिकतावाद और यथार्थवाद से जोड़कर देखा गया। लोंजाइनस से पूर्व काव्य की महत्ता दो रूपों में मूल्यांकित की जाती थी. (1) शिक्षा प्रदान करना (2) आनंद प्रदान करना। 'एरिस्टोफेनिसश् सुधारवाद का पक्षधर थाए और 'होमरश् मनोरंजन का। अतः साहित्य काव्य और गध दोनों का आधार था। 'ज्व पदेजतनबजए जव कमसपहीजए जव चमतेनंकमष् अर्थात् शिक्षा देनाए आहलादित करना और प्रोत्साहित करना उस समय तक काव्य में आलंकारिकए चमत्कारिक और आडम्बरपूर्ण भाषा.शैली को महत्व दिया गया थाए भाव तत्त्व को नहीं लोंजाइनस ने इस ओर ध्यान केंद्रित किया।

लोंजाइनस का उदात्त तत्त्व

लोंजाइनस ने उदात्त तत्त्व की स्वतंत्र एवं व्यापक व्याख्या नहीं की है, उसे एक स्वतः स्पष्ट तथ्य मानकर छोड़ दिया है। उनका मत है कि उदात्तता साहित्य के सब गुणों में महान है, यह वह गुण है, जो अन्य छोटी.मोटी त्रुटियों के बावजूद साहित्य को सच्चे अर्थों में प्रभावपूर्ण बना देता है। उदात्त को परिभाषित करते हुए लोंगिनुस कहते हैं। 'अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कर्ष ही औदात्य है। उदात्त अभिव्यंजना का अनिर्वचनीय प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है।' यही वह साधन है जिसकी सहायता से महान कवियों या इतिहासकारों ने ख्याति और कीर्ति अर्जित की है। उनका कहना है कि उदात्त का प्रभाव श्रोताओं के अनुनयन मनोरंजन में नहीं बल्कि सम्मोहन में दृष्टिगोचर होता है। जो केवल हमारा मनोरंजन करता है, उसकी अपेक्षा वह निश्चय ही अधिक श्रेष्ठ है, जो हमें विस्मित कर सर्वदा और सर्वथा सम्मोहित कर लेता है। अनुनयन मनोरंजन हमारे अधिकार की चीज है, अर्थात् अनुनीत मनोरंजीत होना या न होना हमारे हाथ में है, किंतु उदात्त तो प्रत्येक श्रोता को अप्रतिरोध्य शक्ति से प्रभावित कर अपने वश में कर लेता है। सर्जनात्मक कौशल और वस्तुविन्यास पूरी रचना में आधंत वर्तमान रहते हैं और क्रमशः शनैः शनैः उभरते हैं, किंतु बिजली की कौंध की तरह सही समय पर उदात्त की एक कौंध पूरे विषय को उद्भासित कर देती है। वे कहते हैं कि कला में उदात्त किसी विशेष भाव या विचार के कारण नहीं बल्कि अनेक विरूद्धों के सामंजस्यश' अथवा भावों के संघात से उत्पन्न होता है। लोंगिनुस उदात्त की

उत्पति के लिए केवल प्रतिभा को ही पर्याप्त नहीं मानते उसके साथ ज्ञान व्युत्पति को भी आवश्यक बताते हैं। तात्पर्य यह है कि उदात्त नैसर्गिक ही नहींए उत्पाध भी है, प्रतिभा के अतिरिक्त ज्ञान और श्रम से भी उसकी सृष्टि संभव है।

उदात्त तत्त्व के स्त्रोत

लोंजाइनस ने उदात्त तत्त्व के विवेचन में पाँच तत्त्वों को आवश्यक ठहराया है। (1) विचार की महत्ता (2) भाव की तीव्रता (3) अलंकार का समुचित प्रयोग (4) उत्कृष्ट भाषा (5) रचना की गरिमा। इनमें से प्रथम दो जन्मजात अंतरंग पक्षद्ध तथा शेष तीन कलागत बहिरंग पक्ष के अन्तर्गत आते हैं। उन्होंने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उन तत्त्वों का भी उल्लेख किया है, जो औदात्य के विरोधी हैं। इस प्रकार उनके उदात्त के स्वरूप विवेचन के तीन पक्ष हो जाते हैं। (1) अन्तरंग तत्त्व (2)बहिरंग तत्त्व (3) विरोधी तत्त्व।

विचार की महत्ता

लोंजाइनस उदात्त के तत्त्वों में विचार की महत्ता का सबसे प्रमुख स्थान देते है। विचार की महत्ता तब तक संभव नहीं है, जब तक वक्ता या लेखक की आत्मा भी महान न हो वे कहते है। 'औदात्य महान आत्मा की प्रतिध्वनि' है। महान आत्मा का अर्थए व्यक्ति के चरित्र आचार व्यवहार सभी महान हों। इसके लिए प्राचीन श्रेष्ठ रचनाओं का ज्ञान आवश्यक है। उत्तम आदर्शों के अनुकरण से अनुकर्ता का पथ प्रशस्त तथा आलोकित होता है। अनुकरण बाहरी नकलमात्र नहीं है, बल्कि पूर्वजों की दिव्य भव्यता को अपने में समाहित करने का प्रयास है। वह उदात्त विचारों के लिए कल्पना और प्राचीन काव्यानुशीलन को आवश्यक मानते है। वह श्रेष्ठ रचना के लिए उसके विषय का विस्तारपूर्ण होना आवश्यक समझते हैं। उनका मत है कि विषय में ज्वालामुखी के समान असाधारण शक्ति और वेग होना चाहिए तथा ईश्वर का सा ऐश्वर्य और वैभव भी।

भाव की तीव्रता

'पेरिहुप्सु' के विभिन्न प्रसंगों में लोंगिनुस के कथनों से ज्ञात होता है कि उदात्त के लिए वे भाव की तीव्रता या प्रबलता को आवश्यक मानते हैं। भाव की तीव्रता के कारण ही वे होमर के 'इलियट' को 'ओदिसी' से श्रेष्ठ बताते हैं। भाव

की भव्यता में भाव की सत्यता भी अंतर्भूत है। इसलिए लोंगिनुस भाव के अतिरेक से बचने की राय देते हैं, जिससे भाव अविश्वसनीय असत्य न हो जाये। अविश्वसनीयता आहलाद में बाधक बनाती है। ध्यान में रखने की दूसरी चीज भाव का प्रयोग उचित स्थल पर होनी चाहिए। लोंगिनुस अपना अभिप्राय प्रस्तुत करते है। 'मैं विश्वासपूर्वक कहना चाहता हूं कि उचित स्थल पर भव्य भाव के समावेश से बढ़कर उदात्त की सिद्धि का और कोई साधन नहीं है। वह भाव वक्ता के शब्दों में एक प्रकार का रमणीय उन्माद भर देता है और उसे दिव्य अंत:प्रेरणा से समुच्छ्वासित कर देता है।'

अलंकार का समुचित प्रयोग

लोंजाइनस ने अलंकार का सम्बन्ध मनोविज्ञान से जोड़ा और मनोवैज्ञानिक प्रभावों को व्यक्त करने के निमित्त ही अलंकारों को उपयोगी ठहराया। केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिए अलंकारों का प्रयोग उन्हें मान्य न था। वह अलंकार को तभी उपयोगी मानते थे जब वह जहाँ प्रयुक्त हुआ है, वहाँ अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करे लेखक के भावावेग से उत्पन्न हुआ हो पाठक को आनन्द प्रदान करे उसे केवल चमत्कृत न करे। भाव यदि अलंकार के अनुरूप नहीं है, तो कविता. कामिनी का शृंगार न कर उसका बोझ बन जाएगा। वे कहते है 'प्रत्येक वाक्य में अलंकार की झंकार व्यर्थ का आडम्बर होगा। इसलिए अलंकारों का प्रयोग वहीं होना चाहिए जहाँ आवश्यक हो और उचित हो। आगे वे कहते हैं कि भव्यता के आलोक में अलंकारों को उसी तरह छिप जाना चाहिए जैसे सूर्य के आगे आसपास के मद्धिम प्रकाश में छिप जाते हैं।

उत्कृष्ट भाषा

उत्कृष्ट भाषा के अन्तर्गत लोंजाइनस ने शब्द चयन और भाषा सज्जा को लिया है। उन्होंने विचार और पद विन्यास को एक.दूसरे के आश्रित माना है, अत: उदात्त विचार क्षुद्र या साधारण शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त न होकर गरिमामयी भाषा में ही अभिव्यक्त हो सकते हैं। तुच्छ वस्तुओं की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट शब्दावली वैसे ही अनुप्रयुक्त होती है जैसे किसी छोटे बच्चे के मुंह पर रखा विशाल मुखौटा। लोंजाइनस का मानना है कि सुंदर शब्द ही वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं। यह तभी सम्भव है जब उचित स्थान उचित प्रसंग में उचित शब्दों का प्रयोग हो।

रचना की गरिमा

उदात्त का पंचम स्रोत है। रचना की गरिमा। जिसका लक्षण है। उचित क्रम में शब्दों का विन्यास। वे कहते है जिस तरह अंग अलग अलग रहकर शोभाजनक नहीं होते अपने अपने स्थान पर आनुपातिक रूप से जुड़कर ही वे सौंदर्य की सृष्टि करते हैं। यही स्थिति उदात्त के निष्पादक तत्त्वों की भी है। कैसे विचार के साथ कैसे भाव का मिश्रण उचित होगा उसमें कौन से अलंकार उपयुक्त होगे किस तरह के पद किस क्रम से विन्यस्त होकर अभिष्ट प्रभाव उत्पन्न करेंगे इन बातों का ठीक.ठाक आकलन किये बिना रचना में गरिमा नहीं आ सकती। उनकी दृष्टि में रचना का प्राण.तत्त्व हैं सामजस्य जो उदात्त शैली के लिए अनिवार्य है।

औदात्य के विरोधी तत्त्व

लोंजाइनस ने उदात्त शैली के विरोधी तत्त्वों की चर्चा भी उदात्त के तत्त्वों के साथ ही की है। वे कहते हैं कि रूचिहीन वाक् स्फीति भावाडम्बर शब्दाडम्बर आदि उदात्त.विरोधी हैं। लेखक अशक्तता और शुष्कता से बचने के प्रयास में शब्दाडंबर के शिकार हो जाते हैं। शब्दाडंबर उदात्त के अतिक्रमण की इच्छा से उत्पन्न होता है, किन्तु उदात्त का अतिक्रमण करने के बदले वह उसके प्रभाव को ही नष्ट कर देता है। बालिशता बचकानापन भव्यता का विलोम है। यह दोष तब आता है, जब लेखक रचना को असाधारण या आकर्षक या भड़कदार बनाना चाहता है, पर हाथ लगती है केवल कृत्रिमता और प्रदर्शनप्रियता। भावांडबर या मिथ्याभाव तीसरा दोष है। जहाँ भाव के बदले संयम की आवश्यकता है, वहां जब लेखक भाव की अमर्यादित अभिव्यक्ति में प्रवृत होता है तो भावाडंबर आ जाता है। अत: यह मानना पड़ेगा कि उदात्त का विश्लेषण और समग्र विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में उतना नहीं जितना लोंजाइनस के 'पेरि इप्सुसश् में। उसकी सबसे बड़ी देन यह है कि उसने दोषपूर्ण महान कृति को निर्दोष साधारण कृति से ऊँचा माना है, क्योंकि महान कृति में ही दोषों की सम्भावना हो सकती हैं।

संदर्भ

लोंगिनुस परम्परागत रूप से 'काव्य में उदात्त तत्त्वष् नामक कृति का रचनाकार माना जाता है। इस कृति में अच्छे लेखन के प्रभावों की चर्चा है।

लोंगिनुस का असली नाम ज्ञात नहीं है। वह यूनानी काव्यालोचन का शिक्षक था। उसका काल पहली से लेकर तीसरी शदी तक होने का अनुमान है।

लोंजाइनस ने काव्य को श्रेष्ठ बनाने वाले तत्त्वों पर विचार करते हुए इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। वे उदात्त को काव्य को श्रेष्ठ बनाने वाला तथा कवि को प्रतिष्ठा दिलाने वाला तत्त्व मानते हैं। यह उदात्त महान विचारों संगठित अलंकार योजना, अभिजात्य पद रचना तथा प्रभाव की गरिमा में निहित है। वे वागाडंबर बालेयता और भावाडंबर को उदाद्त्ता में बाधक तत्त्व मानते हैं।

परिचय

जिस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप और उसकी आत्मा को लेकर विभिन्न मतों का प्रतिपादन हुआ है उसी प्रकार पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में विभिन्न युगों में विभिन्न चिन्तकों ने काव्य या साहित्य के मूल तत्त्व की खोज की है।

प्लेटो ने अनुकरण को साहित्य का मूल तत्त्व माना। इनका पल्लवन अरस्तू ने अपनी दृष्टि से किया और विरेचन को साहित्य का उद्देश्य स्वीकार किया। इसी प्रकार लोंजाइनस का उदात्त सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि कोई भी कलाकृति या काव्यकृति बिना उदात्त तत्त्व के श्रेष्ठ रचना नहीं हो सकती। श्रेष्ठ वही है जिसमें रचयिता का गहन चिन्तन और अनुभूतियाँ रहती हैं। रचनाकार का यह अनुभूति तत्त्व अपनी महानता, उदात्तता, भव्यता या गरिमा के कारण रचना को महान बनाता है। रचना या कृति शिल्प के द्वारा अभिव्यक्ति पाती है, किन्तु उदात्त रचना का लेखक अपनी रचना में शिल्प के सौन्दर्य की अधिक चिन्ता न करके उसमें निहित अनुभूति को ही सबल बनाने का यत्न करता है।

इस उदात्त सिद्धान्त को प्रस्तुत करनेवाले आचार्य लोंजाइनस है। इनका यूनानी भाषा का नाम लोंगिनुस तथा अंग्रेजी भाषा में उच्चरित 'लोंजाइनसश्' है। इनकी रचना का नाम 'पेरिहुप्सुस' है, जिसका अंग्रेजी में 'ऑन द सब्लाइम' नाम से अनुवाद किया गया। इसी को हिन्दी में उदात्त की संज्ञा दी गई। इसका ग्रंथ पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का प्रमुख ग्रंथ है।

उदात्त का स्वरूप

लोंजाइनस ने उदात्त की परिभाषा और उसका सामान्य परिचय जिस रूप में दिया है उससे प्रतीत होता है कि उनके समय में यह शब्द इतना अधिक

प्रचलित हो गया था कि उन्होंने इसका विस्तृत परिचय देने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। फिर भी उदात्त के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने इतना कहा–

अर्थात् अभिव्यक्ति की विशिष्टता और श्रेष्ठता का नाम उदात्त है। इसी को लक्ष्य करके हिन्दी आलोचकों ने यह स्वीकार किया है कि किसी रचना में उदात्त तत्त्व उपयुक्त तथा गरिमापूर्ण शब्द–विधान, आवेग को दीप्त करने वाली अलंकार योजना तथा रचना–विधान द्वारा अभिव्यक्त होता है।

लोंजाइनस ने काव्य के उदात्त को वक्तृता से एकदम भिन्न बताया है, क्योंकि काव्य में श्रोताओं पर उदात्त का प्रभाव तन्मयता के रूप में होता है, प्रवर्तन के रूप में नहीं। इस कारण लोंजाइनस की दृष्टि में भव्य कविता वहीं है, जो आनन्दातिरेक के कारण हमें इतना निमग्न और तन्मय कर दे कि हम ऐसी उच्च भाव–भूमि पर पहुँच जाए जहाँ वर्ण्य विषय विद्युत–प्रकाश की भाँति आलोकित हो उठता है। इस दृष्टि से लोंजाइनस को आनन्दातिरेक और विश्वनाथ के विगलित–वेद्यान्तर में बहुत कुछ साम्य देखा जा सकता है। उदात्त के स्वरूप के अन्तर्गत लोंजाइनस में मनोवैज्ञानिक और व्यवहारिक दोनों दृष्टियों को सामने रखा। इसी से उन्होंने एक ओर उदात्त के आन्तरिक तत्त्वों का उल्लेख किया है और दूसरी ओर उसके बाह्य पक्ष की भी विवेचना की है।

उदात्त का मूल आधार

उदात्त का मूल आधार क्या है? क्या वह वक्ता या लेखक की जन्मजात प्रतिभा पर आधारित होता है या उसका प्रस्फुटन शिक्षा–दीक्षा से विचार किया जा सकता है या अभ्यास पर निर्भर है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए लोंजाइनस ने मध्य मार्ग का अनुकरण किया है। उनके विचार से उदात्त न तो सर्वथा प्रतिभा सापेक्ष है और न पूर्णत: अभ्यास–सापेक्ष। वस्तुत: उदात्त का आधार व्यक्ति का कोई एक पक्ष, एक गुण या एक प्रवृत्ति नहीं है अपितु उसके पीछे सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व की झलक होती है। अत: उदात्त का सृष्टा उदात्त व्यक्तित्त्व ही हो सकता है। महान प्रतिभाशाली उच्च विद्वान एवं यशस्वी चरित्रवान व्यक्ति ही उदात्त या उद्घोषक हो सकता है। लोंजाइनस के अनुसार – ''उदात्त आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है। सच्चा उदात्त केवल उन्हीं में प्राप्य है जिनकी चेतना उदात्त एवं विकासोन्मुख है। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क उदात्त धारणाओं से परिपूर्ण है उन्हीं की वाणी से उदात्त शब्द झंकृत हो सकते हैं।''

इस प्रकार उदात्त का सम्बन्ध केवल प्रतिभा, अध्ययन और भाषा के अध्ययन से नहीं, अपितु व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्त्व से है।

निष्कर्षत:

उदात्त अभिव्यंजना का प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है।

उदात्त का कार्य अनुनयन नहीं अपितु सम्मोहन है।

उदात्त सर्जनात्मक या रचनात्मक कौशल से भिन्न तत्त्व है।

उसका प्रभाव क्रमिक नहीं, आकस्मिक होता है और उसके अलौलिक आलोक से कथा चमक उठती है।

उदात्त के स्त्रोत

यद्यपि उदात्त के मूलाधार साहित्यकार के व्यक्तित्त्व की महानता में निहित है फिर भी रचना में उदात्त का तत्त्व लाने में लिए लोंजाइनस ने पाँच स्त्रोतों की चर्चा की है-

महान धारणाओं की क्षमता या विचारों की भव्यता।

प्रेरणा-प्रसूत आवेग या भावावेश की तीव्रता।

समुचित अलंकार योजना।

उत्कृष्ट भाषा।

गरिमामय रचना विधान।

उपर्युक्त पाँचों तत्त्वों में से प्रथम दो जन्मजात अर्थात् कवि-प्रतिभा के अंग हैं और शेष तीन कला सम्बन्धी विशेषताएँ हैं।

महान धारणाओं की क्षमता

उदात्त के स्त्रोतों में प्रथम स्थान विचार की महत्ता का है। इसी को लोंजाइनस ने शब्द-भेद से आत्मा की भव्यता भी कहा है। उनका स्पष्ट कथन है- ''उदात्त महान की आत्मा की प्रतिध्वनि होता है।'' यदि आत्मा की यह महत्ता नैसर्गिक न हो तो उत्कृष्ट विचारों द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है। महान शब्द उन्हीं के मुख से निकलते हैं जिनमें विचार गम्भीर और गहन हों। महान विचारों से सम्पन्न, आत्मोत्थानयुक्त साहित्यकार ही उदात्त-सृजन कर सकते हैं। लोंजाइनस की यह ऐसी अवधारणा है, जिससे उनकी उदात्त-प्रभाव सम्बन्धी धारणा भी जुड़ी हुई हैं। उदात्त का प्रभाव आत्मातिक्रमण होता है, अनुनयन नहीं। यह धारणा इस बात को विशेषीकृत करती हैं कि आत्माति क्रमण

भव्य और महान विचारों की गरिमामयी अभिव्यक्ति से ही सम्भव है। वस्तुतः आत्मिक महानता उदात्त सृजना की पहली शर्त है, इसीलिए उदात्त का प्रभाव (ट्रांसपोर्ट) भी नैतिक रूप से कल्याणकारी ही माना जाएगा। इस प्रकार उदात्त साहित्य का प्रभाव नैतिक तथा कलात्मक दोनों ही दृष्टियों से उत्तम माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से लोंजाइनस और महाकवि मिल्टन एक ही स्तर पर उतरते हैं। मिल्टन के अनुसार महान साहित्यकार बनने के लिए महान और अति सम्माननीय वस्तुओं का अनुकरण करना चाहिए।

मनस्वियों को यह भव्य वाणी सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रतिभाशाली कवि अपने जीवन के संध्या काल में अस्त होते हुए सूर्य की तरह ठण्डा हो जाता है और उसके परवर्ती काव्य में उदात्त की कमी दिखाई देने लगती है। ओदिसी में होमर की इसी अस्ताचल-गामिनी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। लोंजाइनस का कथन है- ''इलियट होमर की तरुणाई की रचना हैं, क्योंकि इसमें गति और संघर्ष का प्राचुर्य हैं। इसके विपरीत, ओडिसी का बहुलांश आख्यानात्मक हैं, जो बुढ़ापे की देन है।'' हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त के 'विष्णु प्रिया' और 'रत्नावली' इसी प्रकार के काव्य हैं, जिनमें इनकी प्रतिभा का अपकर्ष देखा जा सकता है। पन्त और बच्चन का परवर्ती काव्य भी इसका उदाहरण हैं।

प्रेरणा-प्रसूत आवेग या भावावेश की तीव्रता

लोंजाइनस ने कलाकृति में उद्दाम आवेगों की अनिवार्यता पर बल दिया है, क्योंकि कृति के महान होने के लिए यह आवश्यक है कि पाठकों को भावनात्मक उत्तेजना प्रदान करे। भावावेश या भव्य आवेग वे हें जिनसे 'आत्मा' अपने आप ऊपर उठने लगती हैं और फिर हर्षोल्लास से भर जाती हैं। लोंजाइनस ने आवेगों के दो वर्ग बनाए हैं- एक भव्य और दूसरा निम्न। भव्य आवेगों में उच्च भावावेश अर्थात् उत्कृष्ट भावना प्राबल्य, आदर, विस्मय, उल्लास और शौर्य आदि की गणना करते हैं, जबकि निम्न आवेगों का सम्बन्ध करुणा, शोक और भय से है। काव्य में उदात्त भरने के लिए उच्च भावावेशों का ग्रहण तथा निम्न भावावेशों का त्याग होना चाहिए।

समुचित अलंकार योजना

लोंजाइनस का मत है कि अलंकारों का प्रयोग इस कुशलता से होना चाहिए कि इस बात पर किसी का ध्यान न जाए कि वह अलंकार है। कला जब

कौशलपूर्वक प्रयुक्त की जाती है तो वह अपने सौन्दर्य और चमत्कार के विन्यास को खो देती है। वस्तुतः अलंकार को चमत्कृत न करें, अपितु वह आनन्द हेतुक होना चाहिए। लोंजाइनस ने अतिशयमूलक अलंकारों को उदात्त का हेतु माना है। उनके अनुसार विस्तारणा, शपथोक्ति, प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनरावृत्ति, प्रत्यक्षीकरण, संचय, सार, रूप-परिवर्तन, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों में उदात्त विद्यमान रहता हैं। अतः उदात्त के लिए अलंकारों का सहज और औचित्यपूर्ण होना अनिवार्य है।

उदाहरणार्थ

(1) विस्तारणा के अन्तर्गत वक्ता अपनी युक्तियों के विस्तार से प्रस्तुत कर उदात्त पोषण में सहायक होता है।

(2) प्रश्नालंकार में वक्ता स्वयं ही प्रश्नकर उसका उत्तर देता है, जैसा कि प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में किया है।

(3) 'विपयर्य' और 'व्यतिक्रम' में शब्दों और विचारों के क्रम में परिवर्तन अथवा उलट-फेर की जाती हैं।

(4) पुनरावृत्ति के शब्दों अथवा वाक्यों की पुनरावृत्ति की जाती है।

(5) प्रत्यक्षीकरण में साक्षात् वर्णन द्वारा समस्य विषय-वस्तु जीवित-सी प्रतीत होने लगती है।

(6) 'सार' में वर्णित वस्तु की क्रमशः वृद्धि की ओर संकेत होता है।

(7) पर्यायोक्ति में बात को घुमा-फिराकर कहा जाता है।

उत्कृष्ट और अभिजात अभिव्यक्ति

अभिजात अभिव्यक्ति से लोंजाइनस का तात्पर्य काव्य भाषा है। उन्होंने भाषा की उत्कृष्टता पर विशेष बल दिया है, क्योंकि उदात्त की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है। पदावली का विषयानुकूल, उपयुक्त प्रभाव एवं सुगुम्फित होना अनिवार्य है, क्योंकि ऊर्जस्वित भाषा के प्रयोग द्वारा रचनाकार ऐसी कृति का निर्माण कर सकता है, जिसका प्रभाव दुर्निवार हो। उपयुक्त और प्रभावी शब्दावली के द्वारा रचना में भव्यता, गरिमा, ओज, मादेव, शक्ति आदि गुणों का समावेश और जीवन्तता का संचार होता है।

गरिमामय रचना विधान

रचना-विधान का अर्थ है समंजित शब्द-योजना या एक निश्चित क्रम से शब्दों की योजना। लोंजाइनस के अनुसार विभिन्न तत्त्वों का पारस्परिक सामंजस्य कृति को गरिमापूर्ण बनाता है। जैसे शरीर के विभिन्न अवयवों के स्वतंत्र रहने पर कोई महत्त्व नहीं है, सबसे मिलने पर ही सम्पूर्ण शरीर की रचना सम्भव होती है, उसी प्रकार समस्त तत्त्वों के संयोग द्वारा ही गरिमामय कृति की रचना होती है। रचना के सभी तत्त्व मिलकर जब सामंजस्य की शृंखला में बँध जाते हैं, तभी उन में उदात्त आता है अन्यथा वह बिखर जाता है।

कभी-कभी रचना-तत्त्वों का सामंजस्य उस क्षति की आपूर्ति कर देता है, जो रचना के किसी विशेष तत्त्व-दोष से उत्पन्न होती है और इस प्रकार यह सामंजस्य उदात्त-प्रभाव को अक्षुण्ण बनाये रखता है। अतः गरिमामय एवं भव्य रचना-विधान भी उदात्त-सृजन का पोषक है।

उदात्त के विरोधी तत्त्व

लोंजाइनस ने उदात्त के विरोधी तत्त्वों पर भी विचार किया है। उन्होंने बालेयता, असंयत वाग्विस्तार, अस्त-व्यस्त पद-रचना, हीन अर्थ वाले शब्द, भावाडम्बर और शब्दाडम्बर, अवांछित संक्षिप्तता, अनावश्यक साज-सज्जा, संगीत व लय पर अत्यधिक बल आदि को उदात्त का विरोधी तत्त्व माना है। अतः श्रेष्ठ कवि को अपनी रचना में इन्हें स्थान नहीं देना चाहिए।

बालेयता

यह शैली का भारी दोष है। 'बालेय' का शाब्दिक अर्थ है 'बचकाना'। बच्चों में जैसे चपलता, संयमहीनता, हल्कापन और क्षुद्रता पाई जाती है, वैसे ही बालेयता का दोष उस शैली में माना जाएगा जिसमें बिना संयम के वाग्स्फीति की जाए, क्षुद्र अर्थ द्योतक शब्दों का प्रयोग हो और चंचल या अस्थिर पद-विन्यास पाया जाए। इसमें शैली कृत्रिम हो जाती है। लोंजाइनस के अनुसार-

वागाडम्बर

भाव की गरिमा के अभाव में अलंकृत और भारी शब्दों का प्रयोग। जैसे गृद्ध जैसे छोटे पदार्थ के लिए 'जीवित समाधि' शब्द का प्रयोग। वागाडम्बर उदात्त अतिक्रमण के प्रयास से उत्पन्न होता है।

भावाडम्बर

जहाँ लेखक मद्यप की भाँति आचरण कर प्रायः अनपेक्षित, निरर्थक और असंगत आवेग की अभिव्यक्ति करता है अर्थात् जहाँ आवेग के नियंत्रण की आवश्यकता होने पर भी आवेग की अभिव्यक्ति की जाए। आवेग की अभिव्यक्ति भावाडम्बर को जन्म देती है और उदात्त का ह्रास करती है।

शब्दाडम्बर

लोगों को प्रभावित करने के मोह में अतिशयोक्तिपूर्ण कथन ही शब्दाडम्बर है। हिन्दी में बिहारी के ऊहात्मक दोहे इसी दोष से ग्रस्त हैं। उदाहरणार्थ, लोंजाइनस का मत है कि स्त्री के लिए चक्षु-दंश अथवा 'चक्षु-फोडक' और 'पुतली' के लिए 'आँख की कुमारी' आदि शब्दों का प्रयोग मात्र शब्दाडम्बर है, भाषा का अलंकार नहीं है।

उदात्त और परवर्ती समीक्षक

परवर्ती समीक्षकों में हीगेल ने उदात्त के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसकी तुलना सौन्दर्य से की है। उसके मतानुसार सौन्दर्य का अर्थ है सामंजस्य। सौन्दर्य में वस्तु और कला पक्ष का सामंजस्य रहता है। उदात्त की स्थिति सुन्दर से भिन्न है। उदात्त वह है जहाँ उसका भाव उसके रूप की अपेक्षा अधिक प्रशस्त और विलष्ट होता है। हीगेल यह भी मानते हैं कि उदात्त के मूल में विचारों की उत्कृष्टता है और विचारों की महत्ता व्यक्ति के उच्च चरित्र से जन्म पाती है। व्यक्ति का चरित्र महान है तो उसके विचार भी महान होंगे।

एडमंड बर्क ने लोंजाइनस द्वारा विवेचित प्रतिभा-प्रसूत कल्पना तथा विचार भावना आदि की विशालता के आधार पर उदात्त के स्वरूप की स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस वस्तु या रचना में प्रभावित करने की शक्ति है और जो अपने अभिनव प्रभाव से प्रेक्षक को चकित कर सकती है, वहीं उदात्ततव्य समझना चाहिए।

उदात्त-तत्त्व की रचना का उदाहरण हम पिरामिड तथा रामचरित्र-मानस के सुन्दर काण्ड में प्रस्तुत हनुमान के विराट रूप, महाभारत में कृष्ण के विराट रूप आदि को ले सकते हैं। बर्क ने उदात्त-तत्त्व पदार्थों के अतिरिक्त ध्वनि के भीतर भी स्वीकार किया है, जैसे भारी आँधी, विशाल प्रपात, बिजली की गरज,

तोपों की गर्जना में भी उदात्त-तत्त्व रहता है। वस्तुतः सौन्दर्य की अपेक्षा अक्खड़पन उदात्त से अधिक निकट हैं।

उदात्त का प्रभाव

आनन्द

कवि-कर्म के रूप में आनन्द की प्रतिष्ठा लोंजाइनस की ऐसी देन है, जो एक ओर उन्हें होरेस जैसे अलंकार-शास्त्री से और दूसरी ओर अरस्तू जैसे काव्य-शास्त्री से भिन्न करती है। अरस्तू का विरेचन एक प्रकार का उपचार है, जिसकी परिकल्पना विशेषकर त्रासदी के संदर्भ में की गई है, जबकि लोंजाइनस का 'आनन्द' एक उपलब्धि है, जिसका पोषक आधार महाकाव्य त्रासदी, प्रगीत आदि सभी तक विस्तृत हैं। वस्तुतः उदात्त का विवेचन और विश्लेषण लोंजाइनस के 'पेरि इप्सुस' में सर्वाधिक रूप में हुआ है।

उदात्त सिद्धान्त और भारतीय काव्यशास्त्र

लोंजाइनस का उदात्त सिद्धान्त पाश्चात्य समीक्षा की देन है। उनका 'उदात्त' जीवन के अर्जित पक्ष की अभिव्यक्ति हैं, मधुर पक्ष के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। अतः जीवन के आधे पक्ष का विवेचन करने के कारण उनका शास्त्र अधूरा है। भारतीय काव्यशास्त्र की पूर्णता उसमें कहाँ, जिसमें ओज के साथ माधुर्य गुण भी है। एक ओर वीर और अद्‌भुत रस है तो दूसरी ओर शृंगार और हास्य रस हैं। वह सम्पूर्ण मानव की कृति है। लोंजाइनस की धारणा में इस एकांगिता का कारण यह है कि उसने अपने ग्रन्थ की रचना भाषण-शास्त्र के रूप में की थी, काव्यशास्त्र के रूप में नहीं। इसीलिए सफल भाषण के लिए महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का ही निर्वचन इसमें मिलता है।

लोंजाइनस का उदात्त सिद्धान्त

लोंजाइनस ने अपने ग्रंथ 'पेरिइप्सुस' नामक ग्रंथ में उदात्त के लिए अंग्रेजी के 'दि सब्लाइम' शब्द का प्रयोग किया है,जिसका तात्पर्य है-'ऊँचाई पर ले जाना' या 'ऊपर उठाना'। इसे वह काव्य की आत्मा मानता है और कहता है कि इसी के कारण हमें काव्य में आनन्द की प्राप्ति होती है। वह लिखता है कि साहित्य पाठकों या श्रोताओं को आवेगपूर्ण अनुभूति की नवीन ऊँचाई तक जिन

गुणों के कारण ले जाता है,वे ही उसके प्राणतत्त्व हैं। साहित्य का यह उदात्त गुण अन्य सभी गुणों से महान है। यह वह गुण है, जो अन्य क्षुद्र त्रुटियों के बावजूद साहित्य को वास्तविक रूप से प्रभावपूर्ण बनाता है।

लोंजाइनस की औदात्य सम्बन्धी अवधारणा बड़ी व्यापक है। इसमें उसने दर्शन,इतिहास तथा धर्म आदि विषयों को भी सम्मिलित किया है। उसके अनुसार कविता का औदात्य इस बात में है कि पाठक अपने को भूलकर उच्चभावभूमि पर पहुँच जाए। उसकी दृष्टि में उदात्त अभिव्यंजना के वैशिष्ट्य और उत्कर्ष का नाम है। और यहीं एकमात्र ऐसा आधार है जिसका सहारा लेकर महानतम कवियों और लेखकों ने गौरवलाभ किया है और यश:काय से अमर हो गए हैं। उदात्त भाषा का प्रभाव श्रोता के मन पर प्रत्यय के रूप में नहीं पड़ता वरन् भावों के रूप में पड़ता है। गरिमामय वाणी सर्वदा और सब प्रकार से हमें मानों मन्त्रमुग्ध करके उस तत्त्व पर विजयिनी बनाती है जिसका लक्ष्य होता है अनुनय तथा परितोष। अपने प्रत्यय का हम प्राय: नियंत्रण कर सकते हैं। परन्तु उदात्त के सूत्रों का प्रभाव अमित और दुर्निवार होता है। और वे अपने प्रत्येक श्रोता के मन पर एकछत्र साम्राज्य जमा लेते हैं।

लोंजाइनस कहता है कि एक मनीषी की उक्ति –उदात्त की प्रवृत्ति निसर्गगत होती है। शिक्षा से उसका अर्जन नहीं होता। "प्रकृति ही एकमात्र कला है, जो उसे परिधि में बाँध सकती है। उनका विचार है कि कला नियमों के आकुंचन से प्राकृतिक कृतिया निकृष्टतर और प्राय: प्राणहीन हो जाती है, परन्तु मैं सोचता हूँ कि यदि इस बात पर विचार किया जाय कि प्रकृति की प्रक्रिया नियमत: आवेग और औदार्य के विषय में मुक्त और स्वायत्त होते हुए भी सर्वथा अनियमित और व्यवस्थाहीन नहीं है तो वस्तुस्थिति कुछ और भी जान पड़ेगी।"

लोंजाइनस लिखता है कि यदि औदात्य को किसी नियम और सिद्धान्त के बिना अनियमित दशा में छोड़ दिया जाय तो वह अधिक खतरनाक है क्योंकि जैसे औदात्य के लिए उत्तेजन आवश्यक है वैसे ही अवरोध भी लोंजाइनस के अनुसार कला की यहीं विशेषता है। वस्तुत: यहाँ प्रकृति और कला दोनो को ही महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है। जहँ तक अभिव्यंजना का प्रश्न है प्रकृति स्वायत्त रूप से प्रयत्नशील रहती है यद्यपि उसमें कोई क्रम अथवा व्यवस्था है। प्रकृति स्वयं एक व्यवस्था का वर्णन करती है जिसे कला केवल प्रकाश में लाकर छोड़ देती है। हम कह सकते हैं कि साहित्य में कुछ प्रभाव जो केवल प्राकृतिक रूप में उत्पन्न होते हैं उन्हें कला द्वारा ही सीखा जा सकता है।

लोंजाइनस ने यद्यपि उदात्त को सीधे-सीधे परिभाषित नहीं किया है, किन्तु उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का लगातार प्रयास किया है। उसने व्यवहारिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से इसका उपयोग किया है। अत: उसनें जहाँ एक ओर उदात्त के बहिरंग तत्त्वों की चर्चा की वहाँ उसने अन्तरंग तत्त्वों की ओर भी संकेत किया है। वह लिखता है कि उदात्त भाषा के पाँच मुख्य श्रोत होते हैं इन्हें वह अनिवार्य तथा महत्वपूर्ण मानता है।

1. महान धारणाओं की छमता या विषय की गरिमा।
2. भावावेश की तीव्रता।
3. समुचित अलंकार योजना।
4. उत्कृष्ट भाषा।
5. गरिमामय रचना विधान।

इसमें से प्रथम दो जन्मजात हैं और उनका सम्बन्ध काव्य के अन्तरंग पक्ष से है। शेष तीन कलागत है अत: वे बहिरंग पक्ष के अन्तर्गत आते हैं। लोंजाइनस ने उदात्त को स्पष्ट करने के लिए उन तत्त्वों का भी उल्लेख किया है, जो उदात्त के विरोधी हैं अत: उसने उदात्त के स्वरूप को तीन पक्षों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

क-अंतरंग तत्त्व
ख-बहिरंग तत्त
ग-विरोधी तत्त्व।

(क) अंतरंग तत्त्व-

(1) महान धारणाओं की क्षमता या विषय की गरिमा–लोंजाइनस के अनुसार यह उदात्त का पहला गुण है। उसके अनुसार उस कवि की कृति महान नहीं हो सकती जिसमें महान धारणाओं की क्षमता नहीं है। महान उक्ति आत्मा की महत्ता की प्रतिध्वनि होती है। यह अर्जित गुण न होकर प्राय: प्रकृति के चिंतन द्वारा भी उत्पन्न किया जा सकता है। यद्यपि वह इसके लिए जन्मजात संस्कारों, कुछ कारयित्री प्रतिभा को, जिसमें कल्पना शक्ति अंतर्भूत है, श्रेय देता है। वह मानता है कि प्रतिभा और चरित्र के औदात्य से ही महान विचारों का आविर्भाव संभव होता है। महान धारणाओं की क्षमता से तात्पर्य है, तेजस्वी एवं मार्मिक प्रसंगों की पकड़ और उसके मूल में निहित औदात्य उद्घाटन। स्पष्ट है कि वह कभी ऐसा कर सकता है, जिसकी कल्पना शक्ति उर्वर हो, जिसे

मार्मिक स्थलों की पहचान हो और जो मानव हृदय में प्रवेश कर संवेदनाओं को पकड़ने की क्षमता रखता हो। डॉ. नगेंद्र अपनी पुस्तक 'काव्य में उदात्त तत्त्व' में लोंजाइनस के हवाले से लिखते हैं कि यह संभव नहीं है कि जीवन भर क्षुद्र उद्देश्य और विचारों से ग्रस्त व्यक्ति कोई अमर रचना कर सके। महान शब्द उन्हीं के मुख से निःश्रित होते हैं जिनके विचार गंभीर और गहन हों।

(2)भावावेग की तीव्रता–उदात्त का दूसरा स्रोत- भावावेग की तीव्रता है। यहाँ वह कहता है कि वास्तविक भावावेग ही हमें ऊपर उठा सकता है। लोंजाइनस के अनुसार आवेग दो प्रकार के होते हैं- प्रथम- निम्न आवेग, द्वितीय- भव्य आवेग। जब भव्य आवेग मनुष्य की आत्मा में क्रियाशील होते हैं तब उसकी आत्मा को उत्कर्ष प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप उदात्त का जन्म होता है। इसके विपरीत निम्न कोटि के भाववेगों के प्रबल होने पर उसकी आत्मा मलिन होती है और अंतः करण में नीचता जागृत होती है। लोंजाइनस के मत में उत्साह का आवेग उदात्त तत्त्व को प्रेरित करता है। कवि में उसके उत्पन्न होने से वाणी में ओज और कांति का जन्म होता है जबकि घृणा,भय,शोक आदि से आत्मा में संकुचन होता है।

(ख) बहिरंग तत्त्व

(1)अलंकार योजना–लोंजाइनस ने समुचित अलंकार योजना पर अत्यधिक बल दिया है पर अलंकारों के प्रति उसकी दृष्टि अलंकारवादी ना होकर सौंदर्य वादी है। इसीलिए वह चमत्कार प्रदर्शन के लिए अलंकारों के प्रयोग का विरोध करता है। उसका मानना है कि यदि अलंकारों का उचित प्रयोग किया जाए तो वे अवदात्त की प्रतिष्ठा में सहायक होते हैं। अलंकार उदात्त का स्वाभाविक सहयोगी तत्त्व है। अलंकार अपने उत्कृष्ट रूप में तभी उपस्थित होता है, जब उसमें यह तथ्य छिपा रहता है कि वह कृति का अलंकार है। ये स्वतः कवि के मनोभावों में निहित होते हैं। इसी से वे मानव-प्रकृति की सही व्याख्या के साधन बनते हैं और यह तभी संभव है जब कभी अलंकारों का प्रयोग स्थान, देश, काल, अभिप्राय- वातावरण को ध्यान में रखकर करता है। उसके अनुसार- ये अलंकार कवि के वास्तविक मनोभावों में निहित होते हैं, मानव के कलात्मक बोध के प्रतीक हैं,अतएव ये मानव स्वभाव की व्याख्या करने में समर्थ है लेकिन इनका प्रयोग अत्यंत संयम और विवेक पूर्ण करना चाहिए। अलंकार योजना के अंतर्गत लोंजाइनस ने वक्रोक्ति के कतिपय तत्त्वों को लिया है, जैसे- विलक्षण

वाक्य रचना, काल, लिंग, वचन में बदलाव, व्याजोक्ति, समासोक्ति आदि। रूपक, उपमा आदि अलंकारों को शब्दावली के अंतर्गत रखा है। इसके अतिरिक्त विस्तारण,शपथोक्ति,प्रश्नालंकार, विपर्यय,व्यतिक्रम, पुनरावृति,छिन्न-वाक्य, प्रत्यक्षीकरण, रूप परिवर्तन आदि का विवेचन किया है।

(2) उत्कृष्ट भाषा—उत्कृष्ट भाषा के अंतर्गत लोंजाइनस ने शब्द चयन, रुपकादि का प्रयोग और भाषा की सज्जा को लिया। उसने विचार और पद विन्यास को एक दूसरे के आश्रित माना। अत: उदात्त विचार साधारण शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त न होकर गरिमामय भाषा में ही अभिव्यक्त हो सकते हैं। भाषा की गरिमा का मूल आधार है- शब्द सौंदर्य अर्थात उपयुक्त और प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग। इसके द्वारा शैली के गौरव, सौंदर्य, उत्कृष्ट रसास्वादन, महत्त्व, सामर्थ्य-शक्ति और मोहकता में वृद्धि हो जाती है। मानों मृत-प्राणियों में जीवन का संचार हो उठा हो। लोंजाइनस ने बड़े-बड़े शब्दों के अविवेकपूर्ण प्रयोग को अवांछनीय माना है। उसका कहना है कि तुच्छ विषयों को उत्कृष्ट भाषा द्वारा प्रस्तुत करना उपहासास्पद है। अर्थात भाषा विषय वस्तु के अनुकूल होनी चाहिए। दूसरी ओर उसने ऐसे ग्राम्य शब्दों का प्रयोग भी स्वीकार किया है, जो वास्तव में गवारू हैं, लेकिन वे अत्यंत शक्तिशाली होते हैं और लोगों के परिचित होते हैं, इसलिए उनका प्रयोग काव्य का उत्कृष्ट बना सकता है।

(3) गरिमामय रचना विधान—लोंजाइनस का मानना है कि रचनाकार का वैशिष्ट्य इस बात में भी है कि उसने अलंकार भाषादि को लेकर रचना की निर्मिति किस तरह से की है। उसकी दृष्टि में सामंजस्यपूर्ण शब्द-विन्यास केवल सुख एवं आनंद का ही सहज कारण नहीं वरन औदात्य एवं भावावेश का भी साधन है। काव्य रचना को लोंजाइनस ने शब्दों की सामंजस्यपूर्ण घटना कहा है। इस घटना से जुड़े यह शब्द मनुष्य के स्वभाव के अंग होते हैं। ऐसे शब्दों से निर्मित काव्य की रचना विधान विचारों और घटनाओं, सौंदर्य, संगीतमय माधुर्य जो हमारे साथ जन्मे हैं और पोषित हुए हैं- को उद्वेलित करता है और हृदय में वक्ता के मनोभावों को उभारने का कार्य करता है।

उपर्युक्त तीनों तत्त्वों के सहयोग से काव्य भाषा में उदात्त तत्त्वों का जन्म होता है। इस उदात्त तत्त्व की प्रक्रिया काव्य की प्रमुख विशेषता है। लोंजाइनस का मानना है कि काव्य का महत्व उसमें निहित उपदेश, नैतिकता, धर्म, आदर्श के साथ उसका मूल व्यापार इनसे भिन्न तथा ऊंचा है। उसकी दृष्टि में काव्य

का एक अपना महत्व और प्रभाव होता है, जो पाठक के मन को शांति और आनंद दोनों प्रदान करता है।

(ग) विरोधी तत्त्व– लोंजाइनस ने उदात्त तत्त्व के विवेचन में काव्य की उदात्तता के लिए जहाँ इन पाँच सकारात्मक पक्षों की चर्चा की है, वहीं पर एक नकारात्मक पक्ष उदात्त की विरोधी तत्त्व की भी चर्चा की है, जिसकी उपस्थिति में काव्य का उदात्त तत्त्व हेय हो जाता है। इस क्रम में उसने शब्दाडंबर, बचकानापन, भावाडंबर की प्रमुख रूप से चर्चा की है। वागाडंबर में कवि अपनी क्षमता को छिपाने के लिए इसका प्रयोग कर बैठता है जबकि भावाडंबर में आवेग की अधिकता ना होने पर भी यहां जानबूझ करके असामयिक और सामाजिक और खोखले आवेग का सन्निवेश कवि करता है अर्थात जहां संयम की आवश्यकता होने पर भी असंयम का भाव दिखाई देता है। इस तथ्य से रचनाकार को बचना आवश्यक है।

5

कॉलरिज का कल्पना सिद्धांत

सेमुअल टेलर कोलरिज (1772-1834) वर्ड्सवर्थ के साथ स्वच्छंदतावादी आंदोलन के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। कोलरिज कवि के साथ ही दर्शन और मनोविज्ञान के ज्ञाता भी थे। साहित्य समीक्षा को दर्शन और मनोविज्ञान से जोड़कर कोलरिज ने नई समीक्षा प्रणाली विकसित की। उनकी सर्वाधिक चर्चित कृति 'बायोग्राफिक लिटरेरिया' 1817 में प्रकाशित हुई जिनमें काव्य सृजन-प्रक्रिया तथा कवि-प्रतिभा की गहन व्याख्या और कल्पना सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया। उनका कल्पना-सिद्धांत पश्चिमी काव्यशास्त्र में आज भी मील का पत्थर है। 'सेंट्सबरी' ने आलोचक के क्षेत्र में अरस्तू, लोंगिनुस के बाद तीसरा स्थान मानते है। विलियम वर्ड्सवर्थ कोलरिज के मित्र थे।अत: दोनों ने मिलकर 'लिरिकल बैलेड्स' में अपनी कविताओं का प्रकाशन किया। कोलरिज अभिजात वर्ग की भाषा बनाने के पक्षधर थे जबकि वर्ड्सवथ ग्राम जीवन (अशिक्षित जनता) के तथा दोनों में मतभेद हो गया।

कोलरिज कविता की परिभाषा देते है-ष्कविता सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम विधान है। और गध शब्दों का सर्वोत्तम क्रम-विधान है। अत: वे गद्य और कविता में अन्तर मानते है। कविता का मूल प्रयोजन आनंद हैं इसको नहीं मानते वे काव्य-रचना को भावों का सहज उच्छलन के बदले कला को मानते है। और जैव सिद्धांत से जोड़ते हैं उनका कहना है कि संपूर्ण कविता से मिलने वाला

आनंद उसके प्रत्येक खंड या अवयव से भी मिलना चाहिए। सच्ची कविता वही है जिससे विविध भाग परस्पर अनुपात में छन्दोविधान के साथ समंजित हों तथा उसके उद्देश्य एवं ज्ञात प्रभावों का उन्नयन करें। कोलरिज ने सर्प का उदाहरण दिए-जिस प्रकार सर्प हर कदम पर रूककर, आधा पीछे को चलकर उस प्रतिवर्ती गति से पुनः आगे चलने की शक्ति संचय करता है, उसी प्रकार पाठक को हर 'लोक पर रूककर उसका रसास्वादन ग्रहण करना चाहिए, उससे आगे पढ़ने की प्रेरणा पानी चाहिए। जो कविता पाठक को घोड़े की तरह सरपट भगाए, वह उत्तम नहीं कही जा सकती। कोलरिज का कहना है कि व्यंजना की महिमा के कारण ही कोई उत्तम काव्य बार-बार पढ़ने पर भी नीरस नहीं लगता क्योंकि उससे हर बार नयी छटा की, नये सौंदर्य की प्रतीति होती रहती है। कोलरिज अच्छे कवि के गुण के लिए विचार की गंभीरता तथा ऊर्जस्विता होनी चाहिए अर्थात् कोई भी व्यक्ति बिना गंभीर दार्शनिक हुए महान कवि नहीं हो सकता। कोलरिज से पूर्व कल्पना (पउंहपदंजपवद) तथा ललित कल्पना (दिबल) को एक माना जाता था। पर कोलरिज ने उन दोनों को भिन्न माना है।

कल्पना सिद्धांत

कोलरिज की स्थापनाओं में कल्पना का विशेष महत्व है। कोलरिज से पूर्व कल्पना के बिषय में अनेक तरह की असंगत धारणाएँ प्रचलित थीं। इनमें एक प्रमुख धारणा यह कि कल्पना प्रकृति का वरदान या दिव्य रहस्यमयी शक्ति है, इसलिए इसकी व्याख्या तर्क के आधार पर नहीं की जा सकती। लेकिन कोलरिज ने कल्पना पर तर्कसंगत ढंग से विचार किया और कहा यह बेशक दिव्य शक्ति हो सकती है, किंतु रहस्यमय नहीं उनका काव्य-सर्जन का मूलाधार ही कल्पना है। 'फैंसी' शब्द ग्रीक शब्द के 'फांतासिया और 'इमैजिनेशन' शब्द लैटिन के इमाजिनातियो से बना है। फैंसी शब्द हिन्दी में रम्यकल्पना (ललित कल्पना) तथा इमैजिनेशन के लिए कल्पना शब्द आया है। कोलरिज ने कल्पना के दो भेद माने हैं- 1) मुख्य 2) गौण मुख्य कल्पना वह शक्ति है। जिसके द्वारा इन्द्रियगोचर पदार्थों का बोध होता है। हमारी आंखों के सामने न जाने कितनी वस्तुएं लगातार आती रहती हैं- मकान, सड़क, पेड़, नदी, पक्षी आदि। इन सब अव्यवस्थित बिखरे बिम्बों को व्यवस्थित कर ज्ञान कराती है। यह एक जीवित एवं महत्वपूर्ण शक्ति है, जिससे हमें मानवीय पदार्थों का बोध होता है। यदि वह वैसा न करे तो लौकिक कार्यकलाप ठप्प पड़ जाये। यह वास्तव में एक सहज

एवं स्वाभाविक मानवीय गुण है। गौण कल्पना विशिष्ट लोगों में पायी जाती है। यह एक आत्मिक उर्जा है जिसमें मनरूशक्ति, ज्ञान शक्ति, विचार शक्ति, मनोवेग आदि समाहित रहते है। सजीवता एवं क्रियाशीलता में गौण कल्पना मुख्य कल्पना के समान ही होती है, वह भी ऐंद्रिय संवेदना को दूर कर व्यवस्था लाती है, किन्तु दोनों में अन्तर है, जहाँ मुख्य कल्पना का काम सहज भाव से, अनजाने ढ़ग से चलता रहता है, वहां गौण कल्पना का काम ज्ञानपूर्वक, ईच्छापूर्वक होता है। जैसे कौई चित्रकार चित्र तैयार करता है तो उसे कल्पना का सहारा लेना पड़ता है।तब गौण कल्पना बाह्य जगत से प्राप्त ऐंद्रिय संवेदनों को नये रूप में ढालकर उन्हें नयी आकृति प्रदान करती है और रमणीयता का आवरण चढाकर उसे मोहक बना देती है। अत: मुख्य कल्पना और गौण कल्पना कुछ अन्तर इस प्रकार है- 1) मुख्य कल्पना के अस्तित्त्व पर ही गौण कल्पना आश्रित है। कोलरिज ने गौण कल्पना को मुख्य कल्पना का प्रतिध्वनि कहा है। 2) मुख्य कल्पना अचेतन (अनैच्छिक) रूप में जबकि गौण कल्पना चेतन (ऐच्छिक) रूप में होती है। तात्पर्य मुख्य कल्पना हमारे चाहे और बिना जाने काम करती रहती है जबकि गौण कल्पना हमारे चाहने पर ही काम करती है। 3) मुख्य कल्पना केवल निर्माण (संघटन) का काम करती है।जबकि गौण कल्पना विनाश (विघटन) का कार्य करती है।

रम्य कल्पना (ललित कल्पना)

रम्य कल्पना को कोलरिज स्मृति का ही प्रतिरूप मानता है। लेकिन सामान्य स्मृति और रम्यकल्पना में कुछ भेद है, जहाँ स्मृति देश-काल के बंधन में रहती है,वही रम्यकल्पना देश-काल से मुक्त तथा इच्छाशक्ति के द्वारा संचालित एवं रूपांतरित होती है। और उसकी उपयोज्य सामग्री स्थिर तथा सुनिश्चित होती है। जैसे बिहारी का दोहा -

बिहारी ने निर्मल जल में कभी मछलियों को उछलते देखा होगा। जो स्मृति में संचित कविता रचते समय वह दृश्य उनके मानस-पटल पर एकाएक उभर आया होगा प्रस्तुत दोहे में घूघंट पट के भीतर,नायिका की चमचमाती चंचल आंखों की शोभा को मूर्त रूप देने के लिए,जब वह उसे बिंब के रूप में प्रयुक्त करता है तो वह समय वह स्मृति देश-काल के बंधन से मुक्त हो जाती है। अत: कल्पना और रम्यकल्पना में कुछ अन्तर इस प्रकार है- (1) मुख्य कल्पना और गौण कल्पना का अंतर केवल मात्रात्मक होती है जबकि कल्पना और

रम्यकल्पना का अंतर मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों होती है। अत: रम्यकल्पना बिंबों को केवल पास-पास रख देती है, उनमें कोई परिवर्तन नहीं करती, किन्तु कल्पना उन्हें विघटित, विगलित कर बिलकुल नये रूप में ढाल देती है। (2) कल्पना बिंबों में आंतरिक सामंजस्य और एकरूपता लाती है।जबकि रम्यकल्पना केवल निश्चित वस्तुओं में एकत्र का कार्य करती है। (3) कल्पना प्रत्यक्ष रूप में ग्रहण करती है जबकि रम्यकल्पना स्मृति रूप में ग्रहण करती है। अत: कल्पना का सम्बन्ध आत्मा और मन से है। और ललित कल्पना का मस्तिष्क से। (4) कल्पना का कार्यपद्धित जैव हैं, किंतु रम्यकल्पना का यांत्रिक है। (5) कल्पना प्रतिभा की उपज है, रम्यकल्पना प्रज्ञा की।

6

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

क्रोचे का जन्म इटली के प्रसिद्ध नगर नेपुल्स में 1866 ई. में हुआ था। बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों में उनका महत्वपूर्ण स्थान आता है। अभिव्यंजनावाद क्रोचे की प्रसिद्धि का सबसे बड़ा आधार था, जिसका विशद विवेचन 'ईस्थेटिक' नामक ग्रंथ, इतालवी भाषा में 1902 ई. में प्रकाशित हुआ। 'ईस्थेटिक' शब्द को यूरोप में अर्वाचीन तथा हिंदी रूपांतर 'सौंदर्यशास्त्र होता है। ईस्थेटिक शब्द ग्रीक 'आइस्थेसिस' से निष्पन्न है। जिसका अर्थ-इंद्रिय प्रत्यक्ष या इंद्रिय-ग्राह्य ज्ञान। किंतु अब इसका प्रयोग सामान्य ज्ञान के लिए न होकर सौंदर्यात्मक ज्ञान के लिए होता है। सौंदर्य का सम्बन्ध दो शास्त्रों- दर्शन और मनोविज्ञान से है। दर्शन में सौंदर्य तत्त्व की मीमांसा और मनोविज्ञान में सर्जन और आस्वादन होता है। दर्शन की दो धाराएं हैं– आत्मवादी (प्रत्ययवादी) और भौतिकवादी (जड़वादी)। क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक हैं। अतः उनके सौंदर्य का विवेचन आत्मवाद रहा है। उन्होंने आत्मा के चार तत्त्व माने हैं दो सैद्धांतिक (ज्ञान की क्रियाएं) और दो व्यावहारिक (ईच्छा की क्रियाएं)। ज्ञान की क्रियाओं के दो भेद हैं- (1) अंतःप्रज्ञात्मक (2) तर्कात्मक ईच्छा के क्रियाओं के भी दो भेद हैं- 1) आर्थिक 2) नैतिक क्रोचे ने ज्ञान के दो रूपों अंतःप्रज्ञा तथा बौद्धिक में निम्न अन्तर बताते है, (1) अंतःप्रज्ञा में कल्पना का ज्ञान होता है जबकि इसमें बुद्धि के द्वारा। (2) इसमें व्यक्ति का ज्ञान होता है जबकि इसमें सामान्य का ज्ञान। (3) इसमें पृथक-पृथक वस्तुओं का ज्ञान होता है जबकि इसमें वस्तुओं

के संबंधों का ज्ञान। (4) इसमें बिंबों के द्वारा उत्पादक ज्ञान होता है जबकि इसमें concepts के द्वारा ज्ञान।

अंत:प्रज्ञा-अभिव्यंजना

क्रोचे की कलाविषयक धारणा की दो आधारशिला है- अंतप्रज्ञा और अभिव्यंजना। अंग्रेजी के 'इंट्यूशन' शब्द के लिए स्वयंप्रकाश ज्ञान, सहज ज्ञान, सहाजानुभूति, अंत:प्रज्ञा आदि अनेक शब्द प्रयोग हुए हैं। अंत:प्रज्ञा एक प्रकार का आंतरिक ज्ञान या अनुभूति है, जो स्वयंप्रकाश है, उसके लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। अंत:प्रज्ञा के साथ अभिव्यंजना का नित्य संबंध है, अर्थात् जहां भी अंत:प्रज्ञा होगी, वहां अभिव्यंजना जरूर होगी। यह संभव नहीं है कि हम किसी चीज को जानें और उसे कह न सकें या जिसे कहें, उसे जानें नहीं। कोई भी अंत:प्रज्ञा अभिव्यंजना के बिना या अभिव्यंजना अंत:प्रज्ञा के बिना संभव नहीं है। क्रोचे का सारा सौंदर्य-निरूपण इसी पर आश्रित है। किसी वस्तु की सत्ता का ज्ञान तीन प्रमाण से मानते है, प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द। प्रत्यक्ष ज्ञान पांच ज्ञानेंद्रियों शब्द, स्पर्श, गंध आदि के रूप में होता है इसी तरह कहीं उठता धुआं देखकर आग का अनुमान आदि यह सब हमारे पूर्व प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान से होता है। प्रकृति से परे (आत्मा-परमात्मक) अनुभूति के चीजे सोज्हम् (मैं ब्रह्म हू), तत् त्वम् असि (तुम ब्रह्म हो), सर्व खलु इदं ब्रह्म (सब कुछ ब्रह्म है) आदि उपनिषद-वाक्यों अथवा योगी को ईश्वर की साक्षात्कार अंत:प्रज्ञा से होता है। लेकिन वैज्ञानिक प्रत्यक्ष और अनुमान को स्वीकार्य करता है अप्रत्यक्ष ज्ञान को नहीं। दार्शनिक श्री अरविंद वैज्ञानिकता के विरोध में कहते है कि 'अंत:प्रज्ञा या आध्यात्मिक अनुभूति कल्पना का विलास नहीं है, बल्कि विश्वसनीय ज्ञान है जितना नहीं, वह प्रत्यक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक सत्य और सबल है।' ' अंत:प्रज्ञा एकीकरण, अखंड रूप में देखता है। जबकि बुद्धि विभाजन, खंडित रूप में अत: अंत:प्रज्ञा और बुद्धि परस्पर पूरक और सहायक हैं। अत: दोनों के समन्वय से प्राप्त ज्ञान ही वास्तविक, पूर्ण और आदर्श ज्ञान है। अत:प्रज्ञा और अभिव्यंजना का अभेद (संबंध) प्रतिपादित करने के बाद क्रोचे कला के साथ उनका अभेद प्रतिपादित करते है। अंत:प्रज्ञा और अभिव्यंजना में भेद नहीं है, वैसे ही अंत:प्रज्ञा और कला में भेद नहीं हैं। जब अंत:प्रज्ञा स्फुरित होती है तो वह अभिव्यंजना के द्वारा कला में परिणत हो जाती है। यह पुरी प्रक्रिया आंतरिक है, अर्थात् कला की सृष्टि कलाकार के भीतर होती

है, बाहर नहीं। अत: कला वस्तु में नहीं, वस्तु के द्वारा अभिव्यक्त रूप में है। क्रोचे कला को आंतरिक के साथ अखंड बताता है, क्योकि अंत:प्रज्ञा अखंड होती है। जब अंत:प्रज्ञा अखंड होगी तो उसकी अभिव्यंजना भी अखंड होगीय स्वभावत: कला भी अखंड होगी। अभिप्राय यह है कि कोई भी काव्य अखंड होती है,कवि के मन के स्फुरित (अभिव्यंजना) के साथ कलात्मक रूप ग्रहण कर लेती है। जैसे, कोई चित्रकार या मूर्तिकार के मन में वह चित्र पहले से रहता है वह केवल छेनी-हथौड़े से पत्थर को काट-तराशकर एक-एक भाव उत्कीर्ण कर मूर्ति गढ़ता है अत: वह वास्तविक मूर्ति नहीं हैं, वास्तविक मूर्ति तो मूर्तिकार की मन (अंत:प्रज्ञा) में थी। यह उसका प्रतिभास है। फलत: कुरूप का अर्थ केवल असफल अभिव्यंजना है। सुन्दर में एकता होती है और कुरूप में अनेकता। क्रोचे कलात्मक निर्माण के चार चरण मानते है 1. संस्कार 2. अभिव्यंजना 3. आनंद 4. भौतिक द्रव्यों। प्रथम स्थान संस्कार को देते है।

अभिव्यंजना और वक्रोक्तिवाद

संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवित' में वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। वकोक्ति से उनका अभिप्राय कथन की वक्रता से है।आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान माना है।परन्तु उनकी यह धारणा भ्रामक है क्योंकि जिसे हम अभिव्यंजना कहते है। क्रोचे उसे अभिव्यंजना नहीं मानता है। दोनों ने अभिव्यंजना को कला का प्राण-तत्त्व तथा काव्य में कल्पना-तत्त्व की प्रमुखता मानते है। और दोनों अभिव्यंजना को अखंड मानते है। इन समानताओं के होते हुए भी दोनों में भिन्नता हैं, क्योंकि कुन्तक अलंकारवादी होने के नाते काव्य में अलंकारमयी या चमत्कारपूर्ण उक्ति, कवि कौशल, वक्रोक्ति आदि वाह्य अंगों पर बल देते है। जबकि क्रोचे सहजानुभूति (अभिव्यंजना) के आन्तरिक तत्त्व को मानते हैं क्रोचे के अनुसार सौन्दर्य का चरम लक्ष्य अभिव्यंजाना जबकि कुन्तक आनन्द को मानता है।

क्रोंचे का अभिव्यंजनावाद

क्रोंचे ने अपने ग्रंथ 'एस्थेटिक' नामक ग्रंथ में दार्शनिक हेगल से प्रभावित होकर अभिव्यंजनावाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वे काव्य में अभिव्यंजना को ही सर्वस्व स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में अभिव्यंजना सौंदर्य है,और सौंदर्य ही अभिव्यंजना है। सौंदर्य को सन्दर्भ में क्रोंचे की अत्यन्त महत्वपूर्ण

स्थापना यह है कि सभी मनुष्य कवि हैं, कुछ बड़े और कुछ छोटे। जिनकी सहजानुभूति या अभिव्यंजना पूर्ण है,वे बड़े कवि हैं और जिनकी अपूर्ण है वे छोटे कवि। उसके अनुसार अभिव्यंजना,कला या काव्य एक सौंदर्य सृष्टि है। इसकी सृजन प्रक्रिया की चार अवस्थाएँ हैं-

प्रथम- कल्पना से पड़े प्रभाव की।

द्वितीय- मानसिक सौंदर्य संश्लेषण की।

तृतीय- सौंदर्यानुभूति के आनन्द की।

चतुर्थ-उसकी शारीरिक क्रिया के रूप में रूपान्तरण की।

ये चारों अवस्थाएँ जिनकी सहजानुभूति या अभिव्यंजना के साथ निर्बाध रूप से पूर्ण या सफल होती है, वह बड़ा कवि या कलाकार होता है, जबकि अन्य कवियों में ये चारों अवस्थाएँ पूर्णता को प्राप्त नहीं होती।

क्रोंचे ने हेगल की विचार प्रक्रिया का समर्थन किया है, लेकिन वह इस बात से सहमत नहीं है कि कला का स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं है। उसके अनुसार वह दर्शन का अनुवर्ती ना होकर पूर्णत: स्वतंत्र है क्योंकि कलाकार के हाथ में लेखनी, कूची या छेनी आने के पहले ही उसके मन में कला का समावेश हो जाता है तथा वह अपने समस्त भावावेशों एवं संवेदनाओं को दूर हटा कर किसी कलाकृति का सृजन करने में प्रवृत्त होता है। अत: उसने अभिव्यंजनावाद के समर्थन में ही सहज ज्ञान अथवा अंतर्मन की अभिव्यंजना को कला स्वीकार किया है।

क्रोंचे ने कला का संबंध स्वयंप्रकाश ज्ञान से माना है जिसे सहजानुभूति कहा है। उसके अनुसार सहजानुभूति प्रत्यक्ष बोध है अर्थात वस्तु का यथार्थ या वास्तविक ज्ञान। क्रोंचे की सौंदर्य शास्त्र में कला सहजानुभूति का पर्याय है।क्रोंचे की भाषा में कहें तो कला सहजानुभूति की अभिव्यंजना है। उनके इस सौंदर्य शास्त्रीय प्रणाली में कला सहानुभूति और अभिव्यंजना तीनों पर्याय हैं।

कलाकार तथा सामान्य व्यक्ति को सहजानुभूति में अंतर स्पष्ट करते हुए क्रोचे कहते हैं कि कलाकार इसलिए कलाकार है कि वह उन चीजों को देखता है जिन्हें दूसरे लोग केवल महसूस करते हैं या उसकी थोड़ी सी झलक पा जाते हैं।लेकिन उन्हें देखते नहीं। हममें से प्रत्येक के अन्दर कवि, मूर्तिकार,संगीतज्ञ,चित्रकार अथवा गद्यलेखक का थोड़ा सा अंश विद्यमान है। लेकिन इन कलाकारों की तुलना में वह न्यून होता है क्योंकि इन कलाकारों में मानव-प्रकृति की अत्यन्त सार्वभौतिक प्रवृत्तियाँ या शक्तियाँ उत्कृष्ट मात्रा में विद्यमान रहती हैं फिर भी यह

न्यून रूप हमारी सहजानुभूतियों का वास्तविक स्रोत है,अन्य सब तो आवेग मात्र हैं जिन्हें मनुष्य आत्मसात् नहीं कर सकता। अत: सहजानुभूतिजन्य ज्ञान अभिव्यंजनात्मक ज्ञान है। सहजानुभूति का होना अभिव्यंजित होना है-सिर्फ अभिव्यंजित होना,न इसमें कुछ और अधिक और न कम।(एस्थेटिक,पृ0 11)

क्रोंचे के अनुसार प्रतिभा ज्ञान और अभिव्यंजना दोनों एक ही क्षण में एक साथ उत्पन्न होते हैं, दोनों एक हैं- दो नहीं। उनकी दृष्टि में प्रतिम ज्ञान की कला है और कला प्रतिम ज्ञान अर्थात कला प्रतिम ज्ञान है और प्रतिभा ज्ञान अभिव्यंजना है। अत: कला अभिव्यंजना है और अभिव्यंजना कला है। उसके अनुसार वे लोग सही नहीं है, जो काव्य को अभिव्यंजना मानते हैं और अभिव्यंजना को काव्य नहीं मानते।

अभिव्यंजना को स्पष्ट करता हुआ क्रोचे कहता है कि अभिव्यंजनात्मक क्रिया मन की बहक नहीं वरन एक आत्मिक आवश्यकता है। इसीलिए वह किसी कला वस्तु को एक ढंग से प्रस्तुत कर सकती है और वही सही ढंग होता है। अर्थात कवि अपनी आंतरिक प्रेरणा से ही अभिव्यंजना करता है। प्रेरणा अभिव्यंजना मुक्त होती है। अत: आंतरिक प्रेरणा अभिव्यंजना की प्रमुख विशेषता है। यह प्रेरणा कल्पना की समानार्थी है।

मन की सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक दो क्रिया होने के कारण वह अभिव्यंजना के दो भेद आंतरिक अभिव्यंजना और वाह्य अभिव्यंजना स्वीकार करता है। इस क्रम में वह आंतरिक अभिव्यंजना को काव्य मानता है, जबकि बाह्य अभिव्यंजना को काव्य स्वीकार नहीं करता क्योंकि काव्य अंतर्मन की रचना है।

अभिव्यंजना को क्रोचे मुक्त प्रेरणा मानता है अर्थात वह कवि की इच्छा पर निर्भर नहीं है। कवि को इस बात का ज्ञान तो रहता है कि उसके मन में अभिव्यंजना उत्पन्न हो रही है, लेकिन वह विवश होता है ना तो वह उसे रोक सकता है और न उसके लिए शीघ्रता कर सकता है क्योंकि उसकी दृष्टि में यह आत्मा की प्रतिभा क्रिया है। उसमें किसी भी प्रकार के चयन का विकल्प नहीं है। इसलिए वह प्रत्येक अभिव्यंजना को काव्य कला स्वीकार करता है। अत: क्रोचे की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु काव्य का विषय बन सकता है और प्रत्येक वस्तु की अभिव्यंजना काव्य है। यह दृष्टि वस्तुत: क्रोचे के अभिव्यंजनावाद सिद्धांत का प्रमुख आधार है।

वस्तु एवं रूप के संबंध में वह कहता है कि जिनका यह मत कि काव्य केवल वस्तु है और जो काव्य को वस्तु एवं रूप का योग मानते हैं, हमारे विचार से वे सभी गलत हैं। काव्य में अभिव्यंजना वस्तु के साथ जोड़ी नहीं जाती वरन् मन द्वारा सहजानुभूति को अभिव्यंजना में बदल दिया जाता है। अभिव्यंजना में अनुभूतियाँ इस प्रकार पुनः व्यक्त होती है जिस प्रकार फिल्टर से छनकर पानी वही होता हुआ भी, अपने पूर्वरूप से भिन्न रूप में प्रकट होता है। एस्थेटिक, पृष्ठ 37) अर्थात जिस प्रकार फिल्टर से छान लेने पर पानी तो वही रहता है, जो वह पहले था फिर भी उस में कुछ परिवर्तन हो जाता है और इसी प्रकार कवि का मन सहजानुभूतियों को कल्पना के सहारे जब ढालता है तो वह पूर्ववत होती हुई भी सर्वथा नवीन हो जाती है।

क्रोंचे ने अभिव्यंजना को फिल्टर की उपमा प्रदान करके अपनी अभिव्यंजना सिद्धांत को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अभिव्यंजना के कारण सहजानुभूति का स्वरूप यथावत नहीं रह जाता वरन् उसमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। सहजानुभूति का यह परिवर्तित रूप ही प्रमुख स्थिति है और यही परिवर्तित सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है।

अतः जब भी क्रोंचे ने काव्य को सहजानुभूति न कहकर अभिव्यंजना कहा तो उसका तात्पर्य यह है कि काव्य सहजानुभूति नहीं वरन् अभिव्यंजना युक्त सहजानुभूति है। वह अभिव्यंजना को लौकिक नहीं मानता लेकिन उसे अखण्ड और अविभाज्य स्वीकार करता है। उसे किसी भी रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि उसकी दृष्टि में वर्गीकरण कृति या अभिव्यंजना को मृतप्राय बना देती है। उसका नैतिकता से भी कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उसकी दृष्टि में यदि कलाकार धूर्त,ठग और पाखंडी है तो वह इन्हें कला द्वारा प्रदर्शित कर अपनी शुद्धि कर लेता है। यदि कला की सच्चाई का अर्थ है, अभिव्यक्ति की पूर्णता तो स्पष्ट है कि नैतिकता से उसका कोई संबंध नहीं हो सकता।

वस्तुतः अभिव्यंजना का संबंध मन की क्रिया से है- जो व्यक्ति की आध्यात्मिक आवश्यकता है। इसलिए क्रोंचे ने इस सहजानुभूति या सहजज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। क्रोंचे ने कला को मानव की एक सहज मानसिक क्रिया के रूप में मान्यता दे कर उसकी अखंडता और शाश्वत सत्ता को प्रमाणित किया है परंतु पूर्ण काव्य जो शाश्वत अखण्ड वस्तु है, दुर्लभ है। इस प्रकार क्रोंचे अभिव्यंजना सिद्धांत द्वारा काव्य और कला को देखने समझने की एक दृष्टि प्रदान करता है।

निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद के द्वारा कलावाद को परिमार्जित किया है। उसने सौंदर्यशास्त्र का पृथक अस्तित्त्व निर्धारित कर कलावादी सिद्धांत की शुद्धता को भी प्रमाणित किया है। सहानुभूति को अभिव्यंजना प्रतिपादित कर उसने उसे सौंदर्यात्मक अथवा कलात्मक तथ्य से अभिन्न बताया है। इसलिए उसने प्रतिभा को अलौकिक शक्ति मानने से इंकार कर दिया और केवल सफल व्यक्ति को अभिव्यंजना माना है। उसका यह मत कलावादियों के लिए एक विशेष आधार है कि कला अभिव्यंजना है और सभी अभिव्यंजनाएँ कला हैं। यह वैयक्तिक होती है और उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। लेकिन कल्पना की सार्वभौमिकता के कारण समान बिंब विभिन्न व्यक्तियों के मन में उसी सहजानुभूति को उत्पन्न करती है।

परिचय

मूलभूत अवधारणाओं को व्यक्त किया।

अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावाद एक कला सिद्धांत है, जिसका संबंध सौंदर्यशास्त्र से है न कि साहित्यिक आलोचना से। क्रोचे की मान्यता है कि कलाकार अपनी कलाकृति में अपने अंतर की अभिव्यक्ति करता है। यह अभिव्यक्ति बिंबात्मक होती है, जिसका स्वरूप उसके हृदय में विद्यमान होता है, वाह्य जगत से उसक कोई संबंध नहीं।

वाह्य जगत केवल बिंब निर्माण में सहायक हो सकता है। कला में परंपरावादिता का विरोध कर व्यक्तिवाद पर विशेष बल दिया जिसके फलस्वरूप आगे चलकर 'कला कला के लिए' सिद्धांत की स्थापना हुई।

उसने कहा कि कला का कोई उद्देश्य नहीं। कला, कला के लिए ही होती है। कला रचना की दृष्टि से अंत:प्रज्ञात्मक ज्ञान का महत्त्व सर्वोपरि।

तर्कात्मक ज्ञान का कला रचना की दृष्टि से कोई महळव नहीं।

अंत:प्रज्ञा का ज्ञान मन:शक्ति द्वारा उपलब्ध कराया जाता है, जबकि विचारात्मक ज्ञान बुद्धि का विषय है।

सहजानुभूति को किसी का सहारा नहीं चाहिए। ''उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे की आंखें उधार ले, कारण उसकी आंखें स्वयं काफी तेज हैं।''

अंत:प्रज्ञात्मक ज्ञान अभिव्यंजनात्मक ही होता है। उनके मत से प्रभाव नहीं वरन् प्रभाव की रूप रचना कला है।

प्रत्येक अंत:प्रज्ञा (सहजानुभूति) कला है और प्रत्येक कला अंत:प्रज्ञा।

कला किसी महत् उद्देश्य का साधन नहीं है, वह स्वयं साध्य है। उसे लेकर नैतिक अनैतिक का प्रश्न भी नहीं उठाना चाहिए।

क्रोचे ने अपने ग्रंथ सौंदर्यशास्त्र का सिद्धांत में तळव (मैटर या विषयवस्तु) और रूप (फॉर्म) दोनों पर ही विचार किया है। उन्होंने यह स्थापना की है कि सौंदर्यसत्ता के क्षेत्र में रूप ही महत्त्व का है, तत्त्व नहीं।

वस्तु और रूप घुलमिलकर एक हो जाते हैं तब कला का जन्म होता है।

अलंकृत और अनलंकृत का भेद स्वीकार नहीं।

भारतीय दृष्टिकोण से कहें, तो सहजज्ञान सगुण साकार से संबद्ध है और बौद्धिक ज्ञान निराकार से। सहजज्ञान उतना ही होता है जितना प्रकट या अभिव्यंजित है- न उससे कम और न उससे ज्यादा। सहजज्ञान मन पर पड़े प्रभाव के कल्पनाजनित बिंबों के रूप में अभिव्यक्त होता है। यही अभिव्यंजना ही कला है। अत: कला सहजानुभूति है। इस प्रकार अभिव्यंजना सिद्धांत, कलावाद, बिंबवाद, प्रभाववाद आदि का प्रेरक है।

क्रोचे श्रेष्ठ काव्य उसे मानता है, जो मानव के विचार, भाव, कार्य को भावना का रूप् प्रदान कर पाठकों को पूर्ण तन्मय कर देता है। भारतीय रस-सिद्धांत भी यही है। क्रोचे और रसवादी चिंतक इसे विशुद्ध काव्यानुभूति मानते हैं। इस प्रकार क्रोचे कला को मानव जीवन से जोड़ देता है।

क्रोचे का अभिव्यंजना सिद्धांत साहित्य या कला-समीक्षा की कसौटी प्रस्तुत नहीं करता, वरन् यह कला की उत्पत्ति या सृजन-प्रक्रिया का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

कुछ लोगों ने भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित कुन्तक के वक्रोक्तिवाद से इसकी तुलना भी की है, पर दोनों नितान्त भिन्न भूमियों पर अवस्थित हैं। कुन्तक जहाँ रचित कविता के मूल्यांकन की कसौटी प्रस्तुत करते हैं और वक्रोक्ति के विविध रूपों की चर्चा करते हैं, वहाँ क्रोचे कला-सृजन की प्रक्रिया का मौलिक विश्लेषण करते हैं। काव्य या रचना किस कोटि की है, इससे क्रोचे के सिद्धांत को कोई विशेष संबंध नहीं। काव्य या कला रचना कैसे होती है और उसका स्वरूप क्या है? इसका उत्तर ही उसका प्रमुख प्रतिपाद्य है।

आज मेरे ऐसे अयोग्य और अकर्मण्य व्यक्ति को इस आसन पर पहुँचा कर आप महानुभावों ने केवल अपने अमोघ कृपाबल का परिचय दिया है, यह कहना तो कदाचित् बहुत दिनों से चली आती हुई एक रूढ़ि या परंपरा का पालन मात्र समझा जायगा। पर इसका प्रमाण आपको अभी थोड़ी देर में मिल जायगा। ऐसी जगमगाती विद्वन्मंडली के बीच मेरा कर्तव्य केवल अपने दोनों कान खुले रखने का था, न कि मुँह खोलने का। पर आप लोग शायद इधर कार्यभार से थककर कुछ विनोद की सामग्री चाहते थे। मूर्ख हास्यरस के प्राचीन आलंबन हैं। न जाने कब से वे इस संसार की रुखाई के बीच लोगों को खुलकर हँसने का अवसर देते चले आ रहे हैं। यदि मुझसे इतना भी हो सके तो मैं अपना परम सौभाग्य समझूँगा।

सम्मेलन ने जबसे अपने अधिवेशन के साथ वाङ्मय के कुछ विभागों की अलग अलग बैठकों की व्यवस्था की तभी से यह समझा जाने लगा है कि वह प्रचारकार्य के साथ साथ प्रत्येक विभाग की स्थिति की निरंतर समीक्षा का विधान भी करना चाहता है। वाङ्मय के भिन्न भिन्न क्षेत्र किस दशा में हैं इसकी सम्यक् विवृत्ति प्रत्येक क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं द्वारा मिलकर विचार करने से ही हो सकती है। आज जिस विभाग की विचारसभा में सम्मिलित होने का अधिकार आप महानुभावों ने मुझे दिया है, वह है साहित्यविभाग। अत: इस बात का ध्यान मुझे बराबर रखना पड़ेगा कि जो कुछ मैं कहूँ वह उस विभाग के भीतर की बात हो। कहीं उसके बाहर न जा पड़े, इस डर से कुछ हदबंदी मैं कर लेना चाहता हूँ, यह स्थिर कर लेना चाहता हूँ, कि शुद्ध साहित्य के भीतर क्या क्या आता है। चौबीसवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इंदौर की साहित्य परिषद् के सभापति पद से किया हुआ भाषण।

साहित्य के अंतर्गत वह सारा वाङ्मय लिखा जा सकता है जिसमें अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो। भावोन्मेष से मेरा अभिप्राय हृदय की किसी प्रकार की प्रवृत्ति से रति, करुणा, क्रोध इत्यादि से लेकर रुचि अरुचि तक से है और चमत्कार से अभिप्राय उक्तिवैचित्र्य के कुतूहल से है। अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्धा, और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात हम अभी छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से नि:रूसंग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन विज्ञान है, आप्तोपलब्धा का क्षेत्र इतिहास है, कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर

भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं। यह अवश्य है कि अनुमित और आप्तोपलब्धा अर्थ के साथ काव्यभूमि में कल्पित अर्थ का योग थोड़ा रहता है, जैसे दार्शनिक कविताओं में, रामायण, पद्मावत आदि ऐतिहासिक काव्यों में। गंभीर भाव प्रेरित काव्यों में कल्पना प्रत्यक्ष और अनुमान के दिखाए मार्ग पर काम करती है और बहुत प्रधान और बारीक काम करती है। कहने का तात्पर्य यह कि साहित्य के भीतर पहले तो वे सब कृतियाँ आती हैं जिनमें भावव्यंजक या चमत्कार विधायक अंश पर्याप्त होता है, फिर उन कृतियों की रमणीयता और मूल्य हृदयंगम करानेवाली समीक्षाएँ या व्याख्याएँ। अर्थबोध कराना मात्र, किसी बात की जानकारी कराना मात्र, जिस कथन या प्रबंध का उद्देश्य होगा वह साहित्य के भीतर न आएगा और चाहे जहाँ जाय।

इस दृश्य से साहित्यक्षेत्र के भीतर आनेवाली रचनाओं के तीन रूप तो हमारे यहाँ पहले से मिलते हैंश्रव्यकाव्य, दृश्यकाव्य और कथात्मक गद्यकाव्य। इनमें से पहले दो तो अब तक ज्यों के त्यों बने हैं। कथात्मक गद्यकाव्य का स्थान अब उपन्यासों और छोटी कहानियों ने ले लिया है। चौथा रूप है काव्यात्मक गद्यप्रबंध या लेख। पाँचवाँ है वह विचारात्मक निबंध या लेख जिसमें भावव्यंजना और भाषा का वैचित्र्य या चमत्कार भी हो अथवा जिसमें पूर्वोक्त चारों प्रकार की कृतियों की मार्मिक समीक्षा या व्याख्या हो। काव्यसमीक्षा के अतिरिक्त और प्रकार के विचारपरंपरा द्वारा गृहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक का व्यक्तिगत वाग्वैचित्रय तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी पूरी झलकती हैं। इस प्रकार मेरे विचार के विषय ठहरते हैं काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्य काव्य और निबंध, जिनमें साहित्यालोचना भी सम्मिलित है। (इन्हीं के संबंध में मैं अपनी कुछ भली या बुरी धारणाएँ क्रम से आप लोगों के सम्मुख प्रकट करूँगा, इस आशा से कि उनका बहुत कुछ संशोधन और परिष्कार इस विद्वन्मंडली के बीच हो जायगा। पहले मैं प्रत्येक का स्वरूप समझने का प्रयास करूँगा, फिर अपने साहित्य में उसके विकास पर कुछ निवेदन करूँगा' प्रकाश डालना' तो मुझे आता नहीं।)

उपर्युक्त पाँचों प्रकार की रचनाओं में भाव या चमत्कार के परिमाण में ही नहीं, उसकी शासनविधि में भी भेद होता है। कहीं तो वह शासन इतना सर्वग्रासी और कठोर होता है कि भाव या चमत्कार के इशारे पर ही भाषा अनेक प्रकार के रूप रंग बनाकर नाचती दिखाई पड़ती है, अपना खास काम लुक छिपकर

करती है। कहीं इतनी कोमल होती है कि वह अपना पहला काम खुलकर करती हुई भाव का कार्यसाधन करती है और अच्छी तरह करती है। भाषा का असल काम यह है कि प्रयुक्त शब्दों के अर्थयोग द्वारा हीया तात्पर्य वृत्ति द्वारा हीपूर्वोक्त चार प्रकार के अर्थों में से किसी एक का बोध कराए। जहाँ इस रूप में कार्य न करके वह ऐसे अर्थों का बोध कराती है, जो बाधित, असंभव, असंगत या असंबद्धा होते हैं वहाँ वह केवल भाव या चमत्कार की साधना मात्र होती है, उसका वस्तुज्ञापनकार्य एक प्रकार से कुछ नहीं होता। ऐसे अर्थों का मूल्य इस दृष्टि से नहीं आँका जाता कि वे कहाँ तक वास्तविक, संभव या अव्याहत हैं बल्कि इस दृष्टि से आँका जाता है कि वे किसी भावना को कितने तीव्र और बढ़े चढ़े रूप में व्यंजित करते हैं अथवा उक्ति में कितना वैचित्र्य या चमत्कार लाकर अनुरंजन करते हैं। ऐसे अर्थविधान की संभावना काव्य में सबसे अधिक होती है। पर यह समझना चाहिए कि काव्य में अर्थ सदा इसी संक्रमित, अधीन दशा में ही पाया जाता है। बहुत सी अत्यंत मार्मिक और भावपूर्ण कविताएँ ऐसी होती हैं जिनमें भाषा कोई वेशभूषा या रंगरूप नहीं बनातीय अर्थ अपने खुले रूप में ही पूरा रसात्मक प्रभाव डालते हैं।

काव्य की अपेक्षा रूपक या नाटक में भावव्यंजना या चमत्कार के लिए स्थान परिमित होता है। उसमें भाषा अपनी अर्थक्रिया अधिकतर सीधा ढंग से करती है, केवल बीच में ही भाव या चमत्कार उसे दबाकर अपना काम लेते हैं। बात यह है कि नाटक कथोपकथन के सहारे पर चलते हैं। पात्रों की बातचीत यदि बराबर वक्रता लिए अतिरंजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जायगी और सारा नाटकत्व निकल जायगा। यह ठीक है कि पश्चिम में कुछ कवियों ने (नाटककारों ने नहीं) केवल कल्पना की उड़ान दिखानेवाले नाटक लिखे हैं, पर वे शुद्ध नाटक की कोटि में नहीं लिए जाते। यही बात मन की भावनाओं या विकारों को मूर्त रूप में पात्रों के रूप में खड़े करनेवाले नाटकों के संबंध में भी कही जा सकती है।

आख्यायिका या उपन्यास के कथाप्रवाह और कथोपकथन में अर्थ अपने प्राकृत रूप में और भी अधिक विद्यमान रहता है और उसे दबानेवाले भावविधान या उक्तिवैचित्र्य के लिए और थोड़ा स्थान बचता है। उपन्यास में मन बहुत कुछ घटनाचक्र में लगा रहता है। पाठक का मर्मस्पर्श बहुत कुछ घटनाएँ ही करती हैं, पात्रों द्वारा भावों की लंबी चौड़ी व्यंजना की अपेक्षा उतनी नहीं रहती।

काव्यात्मक गद्यप्रबंध या लेख छंद के बंधन से मुक्त काव्य ही है, अतः रचना भेद से उनमें भी अर्थ का उन्हीं रूपों में ग्रहण होता है जिन रूपों में छंदोबद्धा काव्य में होता है अर्थात् कहीं तो वह अपने प्रकृत और सीधा रूप में विद्यमन रहता है और कहीं भाव या चमत्कार द्वारा संक्रमित रहता है।

उपर्युक्त चारों प्रकार की रचनाओं में कल्पनाप्रसूत 'वस्तु' या अर्थ की प्रधानता रहती है, शेष तीन प्रकार के अर्थ सहायक के रूप में रहते हैं। पर निबंध में विचारप्रसूत अर्थ अंगी होता है और आप्तोपलब्धा या कल्पित अर्थ अंग रूप में रहता है। दूसरी बात यह है कि प्रकृत निबंध अर्थप्रधान होता है। व्यक्तिगत वाग्वैचित्रय अर्थोपहित होता है, अर्थ के साथ के साथ मिलाजुला होता है और हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ बीच बीच में अर्थ के साथ झलक मारती हैं।

साहित्य के अंतर्गत आनेवाली पाँचों प्रकार की रचनाओं का आभास देकर अब मैं सबसे पहले काव्य को लेता हूँ जिसकी परंपरा सभ्य, असभ्य सब जातियों में अत्यंत प्राचीन काल से चली आती है। लोक में जैसे और सब विषयों का प्रकाश मनुष्य की वाणी या भाषा द्वारा होता है वैसे ही काव्य का प्रकाश भी। भाषा का पहला काम है शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध कराना। यह काम वह सर्वत्र करती है इतिहास में, दर्शन में, विधान में, नित्य की बातचीत में, लड़ाई झगड़े में और काव्य में भी। भावोन्मेषय चमत्कारपूर्ण अनुरंजन इत्यादि और जो कुछ वह करती है उसमें अर्थ का बोध अवश्य रहता है। अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन में यह 'योग्यता', उपपन्नता या प्रकरण संबद्धता नहीं दिखाई पड़ती वहाँ लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है और 'योग्य' अथवा 'प्रकरणसंबद्ध' अर्थ प्राप्त किया जाता है। यदि इस अनुष्ठान से भी योग्य या संबद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तो वह काव्य या कथन प्रलाप मात्र मन लिया जाता है। यदि किसी लड़की को दिखाकर कोई किसी से कहे कि 'तुमने इस लड़की को काटकर कुएँ में डाल दिया' तो सुननेवालों के मन में इस वाक्य का अर्थ सीधा न धँसेगा, वह एकदम असंभव या अनुपयुक्त जान पड़ेगा। फिर चट लक्षणा के सहारे वे इस अबाधित या समझ में आनेवाले अर्थ तक पहुँच जायँगे कि 'तुमने इस लड़की को बुरे घर में ब्याहकर अत्यंत कष्ट में डाल दिया।' इसी प्रकार गरमी से व्याकुल लोगों में से कोई बोल उठे कि 'एक पत्ती भी नहीं हिल रही है तो शेष लोगों को शायद पहले यह कथन नितांत अप्रासंगिक जान पड़े, पर पीछे वे व्यंजना के सहारे कहनेवाले के इस सुसंगत अर्थ तक पहुँच जायँगे

कि 'हवा बिलकुल नहीं चल रही है।' इससे यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी 'योग्यता' या 'उपयुक्तता' को पहुँचा हुआ, समझ में आने योग्य रूप में आया हुआ, अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।

व्यंजना के संबंध में कुछ विचार करने की आवश्यकता है। व्यंजना दो प्रकार की मानी गई वस्तुव्यंजना और भावव्यंजना। किसी तथ्य या वृत्त की व्यंजना वस्तुव्यंजना कहलाती है और किसी भाव की व्यंजना भावव्यंजना (भाव की व्यंजना ही जब रस के सब अवयवों के सहित होती है तब रसव्यंजना कहलाती है)। यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो दोनों भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ ठहरती हैं। वस्तुव्यंजना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है पर भावव्यंजना जिस रूप में मानी गई है उस रूप में किसी भाग का संचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटि की क्रियाएँ हैं पर साहित्य के ग्रंथों में दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एक में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, दूसरी में यह क्रम होने पर भी लक्षित नहीं होता। पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है, अत: किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्यंग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप में होगा कि 'अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है', स्वयं क्रोध या रति भाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है। रसव्यंजना इस रूप में मानी भी नहीं गई है। अत: भावव्यंजना या रसव्यंजना वस्तुव्यंजना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति है।

रसव्यंजना की इसी भिन्नता या विशिष्टता के बल पर 'व्यक्तिविवेक' कार महिमभट्ट का सामना किया गया था जिनका कहना था कि 'व्यंजना अनुमन से भिन्न कोई वस्तु नहीं।' विचार करने पर वस्तुव्यंजना के संबंध में भट्टजी का पक्ष ठीक ठहरता है। व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमन द्वारा ही पहुँचते हैं पर रसव्यंजना लेकर जहाँ वे चले हैं वहाँ उनके मार्ग में बाधा पड़ी है। अनुमन द्वारा बेधड़क इस प्रकार के ज्ञान तक पहुँचकर कि 'अमुक के मन में प्रेम है या क्रोध है' उन्हें फिर इस ज्ञान को 'आस्वाद पदवी' तक पहुँचाना पड़ा है। इस 'आस्वाद पदवी' तक इत्यादि का ज्ञान इस प्रक्रिया से पहुँचता है,

यह सवाल ज्यों का त्यों रह जाता है। अत: इस विषय को स्पष्ट कर देना चाहिए। या तो हम भाव या रस के संबंध में 'व्यंजना' शब्द का प्रयोग न करें अथवा वस्तु या तथ्य के संबंध में। शब्दशक्ति का विषय बड़े महत्त्व का है। वर्तमान साहित्यसेवियों को इसके संबंध में विचार परंपरा जारी रखनी चाहिए। काव्य की मीमांसा या स्वच्छ समीक्षा के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

आजकल के प्रसिद्ध अंग्रेजी समालोचक रिचर्ड्स जो योरोपीय साहित्य में समीक्षा के नाम पर फैलाए हुए बहुत से अर्थशून्य वाग्जाल को हटाकर शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा का रास्ता निकाल रहे हैं, हमारे यहाँ के शब्दशक्तिनिरूपण के ढर्रे पर अर्थमीमांसा को लेकर चले हैं। उन्होंने व्यावहारिक काव्यसमीक्षा, (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म) नामक अपने बड़े ग्रंथ में चार प्रकार के अर्थ माने हैं(1) प्रस्तुत अर्थ या व्यंग्य वस्तु (2) व्यंग्य भाव (फीलिंग), (3) बोधव्य की विशेषता (टोन) और भीतरी उद्देश्य (इंटेंशन)। जिन्होंने अपने यहाँ के शब्दशक्ति निरूपण का अच्छी तरह मनन किया है, वे देख सकते हैं कि इन चारों में दो ही मुख्य हैं। तीसरे का समावेश हमारे यहाँ आर्थी व्यंजना के कारणों के अंतर्गत हो जाता है–

वक्तृबोद्धाव्यवाक्यानामन्यसन्निधिवाच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च्॥

चौथे का समावेश अभिधामूलक धवन्यार्थ के अंतर्गत हो जाता है जिसका एक उदाहरण यह हैं हें धार्मिक! बेधड़क फिरिए। उस कुत्तो को जो आपको सताता था, गोदावरी तट के उस कुंज में रहनेवाले सिंह ने मार डाला।' इसमें कहनेवाली नायिका का भीतरी उद्देश्य यह है कि भगतजी उस एकांत कुंज के फूल आदि तोड़ने न जाया करें पर वह और ही ढंग से कहती है कि बेधड़क फिरिए' हमारे यहाँ शब्दशक्तियों के भेदनिरूपण का जैसा स्वच्छ मार्ग है वैसा यदि रिचर्ड्स को मिलता तो उन्हें उक्त पिछले दो प्रकार के अलग अर्थ न रखने पड़ते।

उक्त चार प्रकार के अर्थों का उल्लेख करके रिचर्ड्स ने कहा है कि उक्ति में कभी किसी अर्थ की प्रधानता रहती है, कभी किसी अर्थ की। काव्य में अधिकतर व्यंग्य भाव की प्रधानता रहती है। पर वे कहते हैं कि, इसका यह अभिप्राय नहीं कि काव्य में प्रस्तुत अर्थ या तथ्य ध्यान देने की वस्तु नहीं। कभी कभी सीधी सादी प्रस्तुत वस्तु या अर्थ ही से भाव की व्यंजना हो जाती है। कभी वाच्यार्थ से व्यंजित वस्तु निकालनी पड़ती है। क्या यह कहने की

आवश्यकता है कि काव्यमीमांसा की यह वही पद्धति है, जो हमारे यहाँ स्वीकृत है।

आजकल पाश्चात्य वादवृक्षों के बहुत से पत्तो कुछ हरे नोचे हुए, कुछ सूखकर गिरे पाए हुएयहाँ पारिजातपत्रा की तरह प्रदर्शित किए जाने लगे हैं, जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी ऑखें खुली रखने और पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके वे पत्तें हैं पर यह बात हो नहीं रही है। यूरोप के समीक्षाक्षेत्र में नवीनता और अनूठेपन की झोंक में काव्य के संबंध में न जाने कितनी अत्युक्त बातें चला करती हैं, जैसे कला कला ही के लिए,' अभिव्यंजना ही सब कुछ है, अभिव्यंग्य कोई वस्तु नहीं', 'काव्य में अर्थ ध्यान देने की कोई वस्तु नहीं', 'काव्य में बुद्धि घातक होती है' इत्यादि इत्यादि। 'कला कला ही के लिए' का शोर यूरोप में तो बंद हुआ, पर यहाँ उसकी गूँज अब तक सुनाई दिया करती है और सब बात अभी छोड़कर यहाँ हम प्रसंगवश 'बुद्धि' और 'अर्थ' वाली बात लेते हैं।

ऊपर शब्दशक्तियों के संबंध में हम जो कुछ कह आए हैं उससे इस बात का आभास मिलता है कि भारतीय दृष्टि के अनुसार 'अर्थ' काव्य में क्या काम करता है और 'बुद्धि' का काव्य में क्या स्थान है। 'अर्थ' से अभिप्राय योग्य और उपपन्न अर्थ से है, यह दिखाया जा चुका है। वाच्यार्थ के अयोग्य या अनुपन्न होने पर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है? वाच्यार्थ में अथवालक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में? इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपन्न। मेरा यह कथन विरोधभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है। कोई रसात्मक या चमत्कारविधायक उक्ति लीजिए। उस उक्ति में ही अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में, काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं। जैसे, यह लक्षणायुक्त वाक्य लीजिए

जीकर, हाय! पतंग मरे क्या?

इसमें भी यही बात है। जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपन्न या उसके वाच्यार्थ में ही है। इनके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि 'जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगें?' तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार न रहेगा। अब 'साकेत' में उर्मिला की यह रसात्मक उक्ति लीजिए

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ?
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ?

जिसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है, उर्मिला जब आप मिट ही जायगी तब अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लाएगी क्या? पर सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि 'उर्मिला को अत्यंत औत्सुक्य हैं'। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं। हिन्दी के पुराने कवि देव ने शायद यही समझकर काव्य में केवल वाच्यार्थ माना था। एक तो फिर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ का काव्य में प्रयोजन क्या है? वाच्यार्थ बाधित व्याहत या अनुपन्न होने पर लक्षणा और व्यंजना के सहारे योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ प्राप्त करने का प्रयास क्यों किया जाता है? इस प्रयास का अभिप्राय यही है कि काव्य की उक्ति चाहे कितनी ही अतिरंजित, दूरारूढ़ और उड़ानवाली हो उसका वाच्यार्थ चाहे कितना प्रकरणच्युत, व्याहत और असंभव हो उसकी तह में छिपा हुआ कुछ न कुछ योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ होना चाहिए। योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थप्राप्त करने के लिए चाहे कितनी ही मिट्टी मैं तार्किकों की बुद्धि से कह गया, रसज्ञों और सहृदयों की दृष्टि से सोना या रत्न कहना चाहिएखोदकर हटानी पड़े, उसे प्राप्त करना चाहिए। अब पूछिए कि जो योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ खोदकर निकाला जाता है उसका काव्य में प्रयोजन क्या है, वह किस काम आता है।

1. 'अभिधा' उत्तम काव्य है, मध्य लच्छना लीन।
अधाम व्यंजना रस बिरस, उलटी कहत नवीन॥

अयोग्य, अनुपपन्न बुद्धि को अग्राह्य उक्ति। सुनिए वह काव्य नहीं, 'काव्य को धारण करनेवाला सत्य है जिसकी देखरेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है।' व्यंजना करनेवाली उक्ति की साधुता और सच्चाई की परख के लिए उसको सामने रखने की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता अधिकतर समीक्षकों और आलोचकों को पड़ती है। वे उस सत्य के साथ किसी उक्ति का संबंध देखकर यह निर्णयकरते हैं कि उस उक्ति का स्वरूप ठीक ठिकाने का है या ऊटपटाँग। इस प्रकार यहाँ के साहित्यमीमांसकों की दृष्टि में काव्य में योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिएयोग्यता चाहे खुली हो या छिपी हो अत्यंत अयोग्य और असंबद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी कभी काव्य के प्रयोजन भर की योग्यता छिपी

रहती है, जैसेशोकोन्मत्ता या वियोग विक्षिप्त के प्रलाप में शोक की विह्वलता या वियोग की व्याकुलता ही 'योग्यता' है।

काव्य के साथ अर्थ की योग्यता अर्थात् बुद्धि का कितना और किधर से लगाव होता है, इस विषय में हमारे यहाँ का यही विवेचन समझना चाहिए। ऊपर काव्य और कला के संबंध में समय समय पर फैशन की तरह चलनेवाले नाना वादों, प्रवादों और अपवादों की चर्चा की जा चुकी है, जिनके बहुत से वाक्यखंड हमारे वर्तमान साहित्य के क्षेत्र में भी मंत्रों की तरह जपे जाने लगे हैं। इस प्रसंग में एक बात की ओर ध्यान देना सबसे पहले आवश्यक है। यूरोप में कला और काव्य समीक्षा के बड़े बड़े संप्रदाय इटली और फ्रांस से चलते रहे हैं। इटली बहुत दिनों से चित्रकारी, मूर्तिकारी, नक्काशी, बेलबूटों की इमारती सजावट आदि के लिए प्रसिद्ध चला आ रहा है। इन्हीं इलाकों के बीच काव्य की भी गिनती की गई। फल यह हुआ कि काव्य के स्वरूप के संबंध में भी नक्काशी और बेलबूटों की सी भावना जड़ पकड़ती गई। काव्य का प्रभाव भी उसी प्रकार का समझा जाने लगा जिस प्रकार का बेलबूटों की सजावट और नक्काशी का पड़ता है। इससे अधिक गंभीर श्रेणी का प्रभाव ढूँढ़ने की आवश्यकता धीरे धीरे दूर सी होने लगी। बेलबूटों की सजावट और नक्काशी में जिस ढंग से अनुरंजन करनेवाला सौंदर्यविधान होता है उसी ढंग से अनुरंजन करनेवाला सौंदर्यविधान काव्य में समझा जाने लगा। अत: जिस प्रकार बेलबूटे और नक्काशी का संबंध जगत् या जीवन की किसी वास्तविक दशा स्थिति या तथ्य से नहीं होता, उसी प्रकार काव्य का भी नहीं होता। शिल्पकार या कलाकार के मन में सौंदर्य की भावनाएँ जिन रूपरेखाओं या आकारों में प्रस्फुटित होती हैं उन्हीं रूपों और आकारों को वह बेलबूटों और नक्काशियों में अभिव्यंजित कर देता है। वे बेलबूटे कल्पना की स्वतंत्र सृष्टि होते हैंसृष्टि के किसी खंड से ठीक ठीक अनुकरण नहीं। जीवन के किसी वास्तविक तथ्य, भाव (मनोविकार) या विचार के रूप में उनका अर्थ ढँढ़ना व्यर्थ है। अपने अर्थ वे आप ही हैं। यही बात काव्य के संबंध में भी समझी जाने लगी।

मेरे देखने में 'कला कला ही के लिए है', 'कला कल्पना की नूतन सृष्टि में है, प्रकृति के ज्यों के त्यों चित्रण में नहीं', 'काव्य कल्पना का लोक हैये सब उक्त बेलबूटेवाली हलकी धारणा के कच्चे बच्चे हैं।

इस धारणा को बहुत दूर तक घसीटकर इसे (शास्त्री य) रूप देने का सबसे प्रकांड प्रयास इटली के क्रोचे ने अपने 'सौंदर्यशास्त्र' में किया जिसका

प्रभाव केवल काव्य चर्चा में ही नहीं, काव्यरचना में भी बहुत कुछ दिखाई पड़ता है। उसने अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज्म) का प्रवर्तन किया जिसके अनुसार कला में अभिव्यंजना ही सब कुछ है अभिव्यंजना से अलग कोई और अभिव्यंग्य वस्तु या अर्थ नहीं होता। काव्य की गिनती कलाओं में ही की गई है। अतः काव्य में उक्ति से अलग कोई दूसरा अर्थ दूसरी वस्तु, तथ्य या भाव नहीं होता। काव्य की उक्ति किसी दूसरी उक्ति की प्रतिनिधि नहीं। जो अर्थ किसी उक्ति के शब्दों से निकलता है उसका संबंध किसी दूसरे अर्थ से नहीं होता। साहित्य की परिभाषा में इसे यों कह सकते हैं कि काव्य में वाच्यार्थ का कोई व्यंग्यार्थ नहीं होता।

अब यह देखिए कि उक्त 'वाद' के भीतर प्रकृति की नाना वस्तुओं, दृश्यों और व्यापारों तथा हृदय के रति, क्रोध, शोक इत्यादि अनेक भावों का क्या स्थान ठहरता है। वे केवल उपादान मात्र रह जाते हैं। कुछ फूल पत्तियों इत्यादि के रंग और आकार लेकर जिस प्रकार मनमाने बेलबूटे और नक्काशियाँ बनाई जाती हैं, उसी प्रकार काव्य में भी वाह्य प्रकृति से फूल पत्तोंल, नदी नालों, पर्वत, समुद्र, बुलबुल, कोकिल, चातक, भ्रमर, चाँदनी, समीर इत्यादि मनुष्य के व्यापारों से रोना, गाना, हँसना, कूदना इत्यादि शरीर से मुख, कान, नाक, अश्रु, 'वास, उच्छ्वास इत्यादिय मनुष्यों की अंतःप्रकृति से रति, हास, शोक, भय इत्यादि लेकर और उनका मनमाना योग करके एक अनूठी सृष्टि, प्रकृति से सर्वथा स्वतंत्र एक नई रचना, खड़ी की जाती है। इन अनेक पदार्थों का वर्णन या इन अनेक भावों की व्यंजना, काव्य का लक्ष्य नहीं होता। ये तो उपादान मात्र हैं खिलौने बनानेवाले कुम्हार की मिट्टी और रंग हैं। अतः प्रस्तुत अप्रस्तुत का, अलंकार अलंकार्य का कोई सवाल नहीं।

यहाँ से अब स्पष्ट देखा जा सकता है कि उपर्युक्त वाद बेलबूटों और नक्काशियों के संबंध में तो बिलकुल ठीक घटता है पर काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से बहुत दूर रहता है। उसे दृष्टि में रखकर जो चलेगा उसके निकट काव्य का सहृदयता, भावुकता और मार्मिकता से कोई संबंध नहीं। उक्त वाद के प्रभाव से प्रस्तुत की हुई रचनाओं को देखकर कोई पूछ सकता है कि क्या कवि के लिए अनुभूति सचमुच आवश्यक है। यदि काव्य की तह में जीवन का कोई सच्चा मार्मिक तथ्य, सच्ची भावानुभूति नहीं तो उसका मूल्य मनोरंजन करनेवाली सजावट या खेल तमाशे के मूल्य से कुछ भी अधिक नहीं। पर उक्त वाद के प्रतिपादक ने उसका मूल्य दूसरी दुनिया में ढूँढ़ निकालने की चेष्टा की है। उसके

कला की अभिव्यंजना के इस व्यवसाय को वाह्यप्रकृति और अंत:प्रकृति दोनों से परे जो आत्मा है, उसकी अपनी निज की क्रिया कहा है इस जगत् और जीवन से स्वतंत्र। यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि क्रोचे को यह आत्मावादी बात मिली कहाँ से। यह पुराने ईसाई भक्त संतों से मिली है जिन्हें दिव्य आभास हुआ करता था और जिसका उल्लेख आगे होगा। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार ईसा की 19वीं शताब्दी के आरंभ में घोर रहस्यवादी अगरेज कवि ब्लेक ने संतों के आभासवाली बात पकड़कर मनुष्य की कल्पना को इलहाम के दर्जे तक पहुँचाया था। उसने कहा था

'कल्पना का लोक नित्यलोक है। यह शाश्वत और अनंत है। उस नित्य लोक में उन सब वस्तुओं की नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ हैं जिन्हें हम प्रकृति रूपी दर्पण में प्रतिबिंबित देखते हैं।'

परीक्षा के लिए क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का संक्षेप में परिचय दे देना, मैं समझता हूँ, अच्छा होगा। मैं कई जगह दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार यूरोप के समीक्षाक्षेत्र में, इधर बहुत दिनों से काव्य के, कल्पना और भाव इन दोनों अवयवों में से केवल 'कल्पना' 'कल्पना' की ही पुकार सुनाई पड़ती है। कल्पना है काव्य का क्रियात्मक बोधपक्ष जिसका विधान हमारे यहाँ के रसवादियों ने भाव के योग में ही काव्य के अन्तर्भूत माना है। अलंकारवादी या वक्रोक्तिवादी अलबत ज्ञानात्मक अवयव ही से प्रयोजन रखते हैं। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, क्रोचे काव्य में कल्पना की क्रिया और उसके बोध ही को सब कुछ मानता है। अत: कलानुभूति या काव्यानुभूति को वह ज्ञान स्वरूप ही मानकर चला है। उसका सिद्धांत संक्षेप में हम नीचे देते हैं, उसने कलासंबंधी ज्ञान को तर्कसंबंधी ज्ञान से इस प्रकार अलग किया है

(1) कलासंबंधी ज्ञान हैस्वयंप्रकाश ज्ञान (इंटयूशन), कल्पना में अद्‌भुत ज्ञान, व्यक्ति का संकेतग्रह अर्थात् किसी एक विशेष वस्तु का ज्ञान।

(2) तर्क संबंधी ज्ञानप्रमा (कंसेप्ट) निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान, भिन्न भिन्न व्यक्तियों के परस्पर संबंध का ज्ञान अर्थात् जाति का संकेतग्रह।

स्वयंप्रकाश ज्ञान का अभिप्राय है मन में आपसे आपबिना बुद्धि की क्रिया या सोच विचार के उठी हुई मूर्त भावना, जिसकी वास्तविकता अवास्तविकता का कोई सवाल नहीं। वह मूर्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है, जो दृश्य जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को (अर्थात् मन में संचित उनकी

छाया और संस्कारों) द्रव्य या उपादान की तरह लेकर हुआ करती है। दृश्य जगत् के नाना रूप व्यापार है। इसी द्रव्य के सहारे आत्मा की क्रिया मूर्त रूप में अपना प्रकाश करती है। 'द्रव्य' की प्रतीति मात्र तो जड़त्व या निष्क्रियता है ऐसी प्रतीति है, जो विवश होकर चित्रण करनी ही पड़ती है। मनुष्य की आत्मा द्रव्य की प्रतीति मात्र करती है। उसकी सृष्टि नहीं करती। आत्मा की अपनी स्वतंत्र क्रिया है। कल्पना, जो रूप का सूक्ष्म साँचा खड़ा करती है और उस साँचे में स्थूल द्रव्य को डालकर अपनी कृति को गोचर या व्यक्त करती है। वह 'साँचा' आत्मा की कृति या आध्याात्मिक वस्तु होने के कारण, परमार्थत: एकरस और स्थिर होता है। उसकी अभिव्यंजना में जो नानात्व दिखाई पड़ता है, वह स्थूल 'द्रव्य' के कारण जो परिवर्तनशील होता है। कला के क्षेत्र में यही 'साँचा' (फार्म) सब कुछ है, द्रव्य या सामग्री (मैटर) ध्या न देने की वस्तु नहीं है।

स्वयंप्रकाश ज्ञान (इंटयूशन) का 'साँचे' में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन) है, जो भीतर होती है और शब्द, रंग आदि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है। यदि सचमुच स्वयंप्रकाश ज्ञान हुआ है, भीतर अभिव्यंजना हुई है, तो वह बाहर भी प्रकाशित हो सकती है। लोगों का यह कहना कि कवि के हृदय में बहुत सी भावनाएँ उठती हैं, जिन्हें वह अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर सकता क्रोचे नहीं मनता। वह कहता है कि जो भावना या कल्पना बाहर व्यक्त नहीं हो सकती उसे अच्छी तरह उठी हुई ही न समझना चाहिए। प्रत्येक अभिव्यंजना (एक्स्प्रेशन) या उसके बाहरी रूप उक्ति की अपनी अलग विशेष सत्ता होती है। अनेक अभिव्यंजनाओं या उक्तियों के बीच कुछ सामान्य लक्षण ढँढ़कर काव्य के संबंध में कुछ कहना सुनना व्यर्थ है।

अत: साहित्यशास्त्र में रचनाओं के जो अनेक भेद किए गए हैं, कला की दृष्टि में वे निरर्थक हैं, जैसे अनेक प्रकार के अलंकार तथा वास्तविक (रियलिस्टिक) और प्रतीकात्मक (सिंबलिक) वाह्यार्थ निरूपक (आब्जेक्टिव) और अंतर्वृत्ति निरूपक (सब्जेक्टिव), रूढ़िबद्ध और स्वच्छंद, अलंकृत अनलंकृत इत्यादि भेद।

अलंकार के संबंध में क्रोचे कहता है कि अलंकार तो शोभा के लिए ऊपर से जोड़ी या पहनाई हुई वस्तु को कहते हैं। अभिव्यंजना या उक्ति में अलंकार जुड़ कैसे सकता है? यदि कहिए बाहर से, तो उसे उक्ति से सदा अलग रहना चाहिए। यदि कहिए भीतर से, तो वह या तो उक्ति के लिए 'दाल भात में मूसरचंद' होगा अथवा उसका एक अंग ही होगा।

रस, अलंकार आदि के नाना भेद क्रोचे के अनुसार, कला की सिद्धि में कोई योग न देकर तर्क या शास्त्रपक्ष में सहायक होते हैं। इन सबका मूल्य केवल 'वैज्ञानिक समीक्षा' में है, कलानिरूपिणी समीक्षा में नहीं। कला संबंधी भाग उस प्रकार का अनुभव भी नहीं जिस प्रकार का सुख दु:ख का अनुभव होता है। यदि वह आनंदानुभव माना जाय तो गुलाबजामुन खाने और इत्र सूँघने के आनंद के समान ही ठहरता है और एक तरह का भोगविलास ही है। हाँ, यह अवश्य है कि जैसे और प्रकार आध्यात्मिक भासों के साथ आनंदानुभूति लगी रहती है वैसे ही कलासंबंधी भास के साथ भी।

आगे चलकर क्रोचे को कुछ अभिव्यंजनाओं में सजातीय साम्य (फैमिली लाइकनेसेज) स्वीकार करना पड़ा है। सजातीय, विजातीय भेद मान लेना वर्गीकरण की संभावना स्वीकार करना ही है।

पर इस आनुषंगिक वस्तु को मूल वस्तु से अलग समझना चाहिए। आगे चलकर क्रोचे उस रसवाद का भी खंडन करता है, जिसमें रति, क्रोध, शोक आदि भिन्न भिन्न भावों की रस रूप में अनुभूति ही काव्यानुभूति मानी गई है। वह कहता है कि रसवादी रसानुभूति को वास्तविक अनुभूति से इसी बात में विशेष बतलाते हैं कि वह नि:स्वार्थ और निर्लिप्त होती है। पर यह भेद व्यर्थ है। इस भेद के सहारे लोगों ने कलासमीक्षा के क्षेत्र में किसी जमाने में प्रचलित 'सत्यं शिवं सुंदरम्' (दि ट्रयू, दि गुड एंड दी ब्यूटीफुल)इन भिन्न भिन्न क्षेत्रों के शब्दों के बीच सामंजस्य स्थापना का प्रकांड प्रयत्न किया पर इसका जमाना लद गया।

अनुभूति तो क्रोचे के अनुसार शरीर के योगक्षेम से संबंध रखनेवाली भीतरी क्रिया है। अत: उसके सुखदायक दु:खदायक, उपयोगी अनुपयोगी, लाभकारी हानिकारी दो पक्ष अवश्य ही होंगे। यदि कला में सुखात्मक भाव (जैसे, रति, हास) का मूल्य होता है तो इसका मतलब यह है कि दु:खात्मक भाव (जैसे, शोक, जुगुप्सा) का कोई मूल्य नहीं। पर काव्य में दोनों प्रकार के भाव बराबर देखे जाते हैं। कला या काव्य का मूल्य तो 'सुंदर' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसेयोगक्षेम संबंधी (इकानामिक) मूल्य 'उपयोगी' या 'कल्याणकारी' या 'शुभ' (शिवम्) शब्द द्वारा, बुद्धिसंबंधी मूल्य 'सत्य' शब्द द्वारा, धर्मसंबंधी मूल्य 'उचित' शब्द द्वारा। पर कला के क्षेत्र में, 'सुंदर' शब्द को भी क्रोचे एक विशेष अर्थ में स्वीकार करता है। सौंदर्य से उसका तात्पर्य केवल अभिव्यंजना के सौंदर्य से, उक्ति के सौंदर्य से है, किसी प्रस्तुत वस्तु के सौंदर्य से नहीं। किसी

वास्तविक या प्रस्तुत वस्तु में सौंदर्य कहाँ? क्रोचे तो कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कोई सौंदर्य नहीं मानते। जो कुछ सौंदर्य होता है वह केवल अभिव्यंजना में, उक्तिस्वरूप में। यदि सुंदर कही जा सकती है तो उक्ति ही, असुंदर कही जा सकती है तो उक्ति ही। इस मौके पर अपने पुराने कवि केशवदासजी याद आ गए, जो कह गए हैं किश्देखे मुख भावै, अनदेखेई कमलचंद ताते मुख मुखै सखी, कमलौ न चंद री।' केशवदासजी को भी कमल चंद इत्यादि

पर यहाँ अभी तक विवाद चल रहा है। योरपीय समीक्षाक्षेत्र की इस पदावली को हिंदुस्तान में सबसे पहले दाखिल करनेवाले ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे। उनके पीछे महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इसकी खूब उद्धरण की और यह बँगला के साहित्यक्षेत्र में तब से बराबर चलती आ रही है। 'सत्यं शिवं सुंदरम' अंग्रेजी के दि ट्रयू, दि गुड ऐंड दि ब्यूटीफुल का अनुवाद है। यह मैं 'काव्य में रहस्यवाद' नाम के निबंध में दिखा चुका हूँ। आजकल हिन्दी में भी यह पदावली, शायद उपनिषद्वाक्य समझी जाकर बहुत उद्धृत की जाती है, यद्यपि यूरोप से इसका फैशन उठे बहुत दिन हुए।

क्रोचे आरंभ में ही कलासंबंधी उद्भावना को ज्ञानस्वरूप (भावानुभूतिस्वरूप या आस्वादस्वरूप नहीं) मनकर चला है, यद्यपि आगे चलकर उसने माना है कि इस ज्ञान के साथ एक विशेष प्रकार का आनंद भी बराबर लगा रहता है। उसके मन में यह आनंद और प्रकार के आनंदों से सर्वथा भिन्न होता है। काव्य को ही लीजिए। उसमें सुखात्मक (जैसे, रति, हास) और दुःखात्मक (जैसे, शोक, जुगुप्सा) दोनों प्रकार के भावों की अभिव्यंजना होती है। अतः यह प्रश्न उठता है कि शोक या करुणा की अनुभूति आनंदस्वरूप कैसे होगी। इस उलझन से पीछा छुड़ाने के लिए आधुनिक 'सौंदर्यशास्त्र' में अनुभूत्याभास (एपेरेंट फीलिंग) का सिद्धांत निकाला गया है। इस सिद्धांत के प्रवर्तकों का कहना है कि 'कला संबंधी अनुभूति अनुभूत्याभास मात्र होती है, वह बहुत तीव्र और क्षोभकारिणी नहीं होती।' क्रोचे कहता है कि वह बहुत तीव्र या क्षोभकारिणी इसलिए नहीं होती कि उसका संबंध केवल उक्ति के स्वरूप (फार्म) से होता है। जीवन के वास्तविक मनोविकार जो इतने तीव्र और क्षोभकारक होते हैं वह इस कारण कि उनका संबंध वस्तु या तथ्य (मैटर) से होता है। वास्तविक स्थिति या वस्तु की अनुभूति एक बात है, अभिव्यंजना दूसरी बात। दोनों को भिन्न भिन्न क्षेत्रों के विषय समझना चाहिए। कला में तो विचार की बात है अभिव्यंजना।

कला के क्षेत्र में 'सुंदर असुंदर' का प्रयोग अभिव्यंजना या उक्ति के लिए ही हो सकता है, यह कह आए हैं। अभिव्यंजना या उक्ति को न लेकर यदि हम वर्ण वस्तुओं को लेते हैं तो सुंदर असुंदर ही नहीं और भी अनेक प्रकार के भेद ठहरते हैं, जैसे सुंदर, कुरूप, बीभत्स, भयानक, भव्य, अद्‌भुत, दिव्य, इत्यादि। आलंबनों के इन गुणों के अनुसार साहित्य में अनेक भेद किए भी गए है। क्रोचे कहता है कि ये सब भेद कला के काम के नहीं, इनका ठीक स्थान मनोविज्ञान में है। इन अनेक श्रेणियों में विभक्त प्रमेयों या वस्तुओं का कला से केवल इतना लगाव है कि उसकी अभिव्यंजना में ये सब की सब वस्तुएँ जीवनक्षेत्र से संगृहीत उपादान या मसाले का काम देती हैं। अर्थात् काव्य की उक्ति में इनका भी, प्रतिबिंब आ जाया करता है। एक दूसरा आकस्मिक संबंध यह भी है कि वास्तविक जीवन में अनुभूत होनेवाली इन वस्तुओं की प्रतीति के भीतर कभी कभी कला का आभास भी आ जाया करता है। 1

इसमें तो कुछ कहना ही नहीं कि कला सौंदर्य का विधान करती है। पर काव्य आदि कलाओं में असुंदर और कुरूप वस्तुओं का वर्णन भी बराबर आया करता है। अतः अभिव्यंजना या उक्ति को न पकड़कर वर्णवस्तु को पकड़नेवालों के लिए सुंदर के भीतर कुरूप या असुंदर वस्तुओं के लिए स्थान निकालने में बड़ी अड़चन पड़ी। कुछ लोगों ने कहा कि काव्य आदि में असुंदर और बीभत्स आदि विरुद्धा वस्तुएँ सुंदर को और झलकाने के लिए रखी जाती हैं पर क्रोचे के अनुसार यह सब बखेड़ा व्यर्थ है और अभिव्यंजना या उक्ति के स्वरूप को ही पकड़ने से दूर हो जाता है।

अब क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना का असल स्वरूप क्या है, यह भी थोड़ा देख लीजिए। वह कहता है कि साधारणतः लोग कवि के शब्दों, गायक के स्वरों, चित्रकार के खींचे हुए आकारों को ही अभिव्यंजना समझा करते हैं। कभी कभी व्यंजना का अर्थ लज्जा से आँखें नीची करना, भय से काँपना, क्रोध से दाँत पीसना इत्यादि समझा जाता है। पर ये कला की अभिव्यंजनाएँ नहीं हैं, भौतिक अभिव्यंजनाएँ हैं। अनेक प्रकार की उग्र चेष्टाएँ करते हुए क्रोध से तिलमिलाते हुए मनुष्य में और कला पक्ष से क्रोध की अभिव्यंजना करते हुए मनुष्य में बड़ा अंतर है। इस प्रकार की भौतिक अभिव्यंजना कलाशून्य होती है। कला की असल अभिव्यंजना तो है कल्पना, जो एक आध्यौत्मिक क्रिया है। शब्द, रंग, भौतिक रूप, चेष्टा इत्यादि तो कल्पना को, आध्यारत्मिक वस्तु को,

प्रकाशित करनेवाली भौतिक अभिव्यंजना है। कला की अभिव्यंजना की प्रक्रिया का यह क्रम कहा जा सकता है

(1) अंतस्संस्कार (इंप्रेशंस)

(2) अभिव्यंजना अर्थात् कलापरक आध्यासत्मिक योजना या कल्पना (एक्स्प्रेशन आव स्पिरिचुअल एइस्थेटिक सिंथेसिस)

(3) सौंदर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनंद (हेडोनिस्टिक ऐकंपनीमेट आर प्लेजर आव दि ब्यूटीफुल),

(4) कलापरक आध्यारत्मिक वस्तु (कल्पना) का स्थूल भौतिक रूपों में अवतरण (शब्द, स्वर चेष्टा, रंग, रेखा आदि)।

इन सबमें मूल प्रक्रिया है अर्थात् अभिव्यंजना। ये चारों विधान पूरे हो जाने पर अभिव्यंजना का अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है।

जहाँ तक स्पष्ट रूप में हो सका मैंने आप महानुभावों के सम्मुख रखा। 'कल्पना आध्योत्मिक जगत् का आभास है', 'कला कला ही के लिए है', 'कल्पना का लोक ही निराला है', 'काव्य नूतन सृष्टि है', 'प्रकृति के किसी खंड का अनुकरण नहीं', 'प्रकृति को भावना के नए रूप रंग में दिखाना ही काव्य है', 'काव्य सौंदर्य की साधना है', इत्यादि अनेक वादों और प्रवादों का समन्वय इसके भीतर मिलता है। इसी से इसका थोड़ा विवरण देकर मैंने आप लोगों का समय लिया। आजकल हमारे साहित्य के समीक्षाक्षेत्र में भी बड़े यत्न से गृहीत जो अनेक चमत्कारपूर्ण वाक्य, शब्द और उक्तियाँ बिखरी हुई मिला करती हैं, उनके मूल स्थान और तात्पर्य का पता ठिकाना भी इसमें मिलेगा। यूरोप में 'कला' और 'सौंदर्य' की पुकार किस प्रकार काव्यसमीक्षा को भी इस 'वाद की ओर धीरे धीरे घसीटती रही', यह पहले कहा जा चुका है। 'सौंदर्यशास्त्र' में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों का विचार होने लगा उसी प्रकार काव्य का भी। सबसे बेढंगी बात तो यही हुई। अतः इस वाद का प्रतिषेधा करने के पहले मैं यही कह देना चाहता हूँ कि 'सौंदर्यशास्त्र', जिसके भीतर इसका निरूपण हुआ है काव्य संबंधी मीमांसा का ठीक स्थान ही नहीं। पहले तो 'सौंदर्यशास्त्र' अभी कोई ठीक ठिकाने का शास्त्र नहींकभी होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि हो भी तो काव्य से उसका संबंध नहीं।

सच बात तो यह है कि काव्य के स्वरूपलक्षण में 'सुंदर' शब्द उतने काम का नहीं जितना समझा जाने लगा है। इसी से पंडितराज ने अपने काव्यलक्षण में 'सुंदर' शब्द का प्रयोग न करके 'रमणीय' शब्द का प्रयोग किया है। 'रमणीय'

का अभिप्राय है जिसमें मन रमे अर्थात् जिसे मन अपने सामने कुछ देर रखना या बार बार लाना चाहे। कोरी कहानी की अलग अलग घटनाओं में मन रमता नहींय उसके किसी खंड पर कुछ देर जमा नहीं रहना चाहता। कहानी सुननेवाला कहता है, 'तब क्या हुआ?' कविता सुननेवाला, 'जरा फिर तो कहिए।' अर्थ के मैदान में 'सुंदर शब्द की दौड़ उतनी नहीं जितनी 'रमणीय' शब्द की। दूसरी बात यह है कि 'सुंदर' शब्द वाह्यार्थ की ओर संकेत करता जान पड़ता है और 'रमणीय' शब्द हृदय की ओर। इसी से काव्य की समीक्षाओं में 'सुंदर' शब्द का प्रयोग करके, कभी कभी फिर यह कहने की जरूरत पड़ा करती है कि 'सौंदर्य तो मन की भावना है, किसी बाहरी वस्तु में स्थित कोई गुण नहीं।' यह 'सुंदर' शब्द काव्यानुभूति के स्वरूप को संकुचित करता है। प्रत्येक कविता का ग्रहण सौंदर्यानुभूति के रूप में नहीं होता। क्रोचे या अपने यहाँ के चमत्कारवादी और वक्रोक्तिवादी के अनुसार यदि हम अभिव्यंजना या कल्पना की उड़ान को ही सब कुछ मानें तो भी 'सुंदर' शब्द बिना खींचतान के सर्वत्रा काम नहीं देता। बहुत सी उक्तियों से केवल एक प्रकार का चमत्कारपूर्ण प्रसादन होता है।

संसार में मनुष्य जाति के बीच कविता हृदय के भावों को लेकर ही उठी है। प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करुणा आदि की व्यंजना के लिए ही आदिम कवियों ने अपना स्निग्ध कंठ खोला था। तब से आजतक संसार की प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह रहती चली आ रही है। काव्य में भाव के आलंबन (कभी कभी उद्दीपन) के रूप में ही जगत् की किसी वस्तु का ग्रहण हो सकता है, और किसी रूप में नहीं। कविता देवी के अंत:पुर में 'सुंदर' 'प्रिय' होकर ही प्रवेश कर सकता है। जो 'सुंदर' प्रेम का आलंबन होता है, जिसकी ओर हमारी रागात्मिका वृत्ति प्रवृत्त होती है, जिसका स्मरण आने पर हृदय द्रवीभूत हो सकता हैचाहे वह व्यक्ति या वस्तु हो, चाहे प्रकृति का कोई खंडवही काव्य का असली अंग हो सकता है। बेलबूटे या नक्काशी की सौंदर्यभावना भावानुभूति के रूप में नहीं होती। अत: कलावादियों को भावानुभूति से सौंदर्यभावना को अलग करना पड़ा। तबसे तरह तरह के सौंदर्यशास्त्र बनने लगे जिनमें एक दूसरे से भिन्न 'सौंदर्य के पचीसों लक्षण और उसके संबंध में पचीसों मत प्रकाशित होते आ रहे हैं, जो कलाओं पर तो कुछ दूर तक घटते हैं पर काव्य को दूर ही दूर से छूते हैं।'

इन मतों का यूरोप के अनेक कवियों की रचनाओं पर थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ता ही है, पर सच्चे कवियों पर नहीं। अधिकांश की रचनाएँ हृदय की

मार्मिकता से ही संबंध रखती हैं। कुछ को यह 'कलावाद' और 'सौंदर्यवाद' का हल्ला खटकता भी है। हाल में इंगलैंड में रूपर्ट ब्रुक नामक एक कवि हुआ है, जो कवित्व की सच्ची मार्मिक भावना लेकर इस जगत् में आया था, पर थोड़ी अवस्था में ही सन् 1914 में यूरपीय महायुद्ध में मरा। उसने सौंदर्यवादियों के नाना मतों को अपनी भली बुरी रुचि का आलाप मात्र कहा, विशेषत: क्रोचे के वितंडावाद को। वहाँ के और सच्चे कवियों के समन उसे भी उसी प्रकार भाव या हृदय की मार्मिक अनुभूति में ही कविता की आत्मा के दर्शन होते थे जिस प्रकार भारतीय सहृदयों और कवियों को। काव्य में सौंदर्यभावना को एक अलग अनुभूति मननेवालों के इस तर्क को कि 'जब कोई कहता है कि यह वस्तु 'सुंदर' है तब उसका यह मतलब नहीं होता कि वह प्रिय (अर्थात् प्यार करने की वस्तु) है, अत: सिद्ध है कि सौंदर्य की भावना का प्रिय की भावना से अलग अस्तित्त्व है'।

कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति (परसेप्शन) मात्र का 'ज्ञान' कहना उसे ऊँचे दर्जे को पहुँचाना है। यूरोप में पुराने जमाने के ईसाई संतों को, जब वे ईश्वर प्रेम में बेसुध और उन्मत्त होते थे, अनेक प्रकार के आध्यात्मिक आभास हुआ करते थे जिन्हें वे अटपटी बानी में, अध्यवसित विचित्र रूपकों या अन्योक्तियों द्वारा प्रकट किया करते थे। उनके तरह तरह के अर्थ लगाए जाते थे, पर 'लखै कोई बिरलै'। उन 'आभासों' के संबंध में कहा यह जाता था कि वे सूक्ष्म आध्यात्मिक जगत् की बातें हैं, अत: स्थूल जगत् के नाना रूपों के सहारे अभिव्यंजित होकर व्यक्त हो सकती हैं। इसी मजहबी रहस्यवाद का संस्कार क्रोचे के निरूपण में छिपा है जिसके कारण वह कल्पना को ज्ञान कहता है। 'ज्ञान' शब्द में एक विशेष गुरुत्व या महत्त्व है। अत: जो अंतर्दशा जिसे बहुत प्रिय होगी उसे यह महत्त्व देना उसके लिए स्वाभाविक ही है। यदि ऐसी अंतर्दशा लोगों की दृष्टि में बेठौर ठिकाने की हुई तो उसे वह उच्च भूमि का ज्ञान आध्यात्मिक या पारमार्थिक ज्ञान कह देगा। 1

फ्रांस के दार्शनिक बर्गसन पर भी उपर्युक्त संस्करण का प्रभाव पूरा पूरा है। कल्पना रूपी स्वयंप्रकाश ज्ञान (इंटयूशन) को वह भी 'आत्मा की अपनी सृष्टि' और 'पारमार्थिक ज्ञान' कहता है और बुद्धि की विवेचना द्वारा उपलब्ध ज्ञान या प्रमा को व्यावहारिक ज्ञान। कल्पना को आध्यात्मिक आभास घोषित करने का प्रभाव यूरोप के काव्य रचना क्षेत्र में भी बहुतों पर पड़ा है, और बुरा पड़ा है। जबकि कल्पना में आई हुई बात आध्याकत्मिक जगत् की होती है तब

कम से कम उसका रूप रंग तो जगत् से कुछ विलक्षण होना चाहिए। इस धारणा की हद पर पहुँचा हुआ 'दूसरे जगत् के पंछियों' का एक दल अंग्रेजी के काव्यक्षेत्र से गुजर चुका है।

दार्शनिकता का यह मजहबी पुट कि मूर्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है यह तो केवल आवश्यकता पड़ने पर अव्यक्त और अनिर्वचनीय का सहारा लेने के लिए दिया गया है। जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुए रूप कहता है, वे वास्तव में वाह्य जगत् से प्राप्त किए हुए रूप हैं। इंद्रियज ज्ञान के जो संस्कार (छाप) मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी यों ही, भिन्न भिन्न ढंग से अन्वित होकर जगा करते हैं। यही मूर्त भावना या कल्पना है। यह अन्विति या योजना वाह्य जगत् से प्राप्त रूपों के ढंग पर होती है जिसमें एक एक रूप की सत्ता अलग अलग बनी रहती है। इस अन्वित रूपसमूह को आध्यात्मिक 'साँचा' कहना और पृथक् पृथक् रूपों को उस साँचे में भरा जानेवाला 'मसाला' बताना वितंडावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? किसी साँचे में जो वस्तुएँ भरी जायँगी, वे घुल मिलकर गीली मिट्टी या गारा हो जायँगी, उनके पृथक् पृथक् रूप कहाँ रह जायँगे? पर कल्पना में जो रूपसमष्टि खड़ी होती है, उसके अंतर्भूत रूपों की अलग अलग प्रतीति होती है।

कल्पना में आए हुए रूप आध्यात्मिक जगत् के हैं, वाह्य जगत् से प्राप्तनहीं है, पुराने ईसाई संतों और ब्लेक के इसी प्रवाद को ग्रहण करने के कारण 'साँचों' की विलक्षण उद्भावना की गई है। बात यह है कि उक्त प्रवाद को सुनकर एक साधारण समझ का आदमी भी शंका कर सकता है कि यदि कल्पना में आए हुए रूप वाह्य जगत् के रूपों की छाप नहीं है, खास आत्मा से निकले हुए हैं तो उनकी उद्भावना जन्मांधों को भी वैसी ही होनी चाहिए जैसी ऑखवालों को। इसके समाधान का प्रयास यह कहकर किया जाएगा कि आत्मा से केवल सूक्ष्म 'साँचे' निकला करते हैं, जो वाह्य जगत् से प्राप्त मूर्त द्रव्य भराव के बिना व्यक्त ही नहीं हो सकते। जन्मांधों की आत्मा से भी ये सूक्ष्म साँचे निकलते हैं, पर अव्यक्त ही रह जाते हैं। अब इस अव्यक्त का प्रमाण माँगने कौन जायगा?

क्रोचे ने जिसे वाह्य जगत् या जीवन से इकट्ठा किया हुआ 'द्रव्य' या उपादान (मसाला) कहा है उसके अंतर्गत प्रकृति के नाना रूपव्यापार, जीवन की भिन्न भिन्न घटनाएँ या तथ्य सब कुछ हैं। जबकि ये 'द्रव्य' या उपादान मात्र हैं तब कला की अभिव्यंजना में इनकी वास्तविकता अवास्तविकता, औचित्य

अनौचित्य, योग्यता अयोग्यता आदि का विचार अपेक्षित नहीं। योग्यता अयोग्यता का विचार कहाँ तक और किस रूप में अपेक्षित होता है, इसका विचार मैं शब्दशक्ति के प्रसंग में अर्थ की योग्यता के अंतर्गत पहले कर चुका हूँ। अब औचित्य अनौचित्य लीजिए। लोक की रीति नीति, आचार व्यवहार की दृष्टि से अनौचित्य शिल्प अर्थात् बेलबूटे, नक्कासी आदि की सौंदर्यभावना में तो सचमुच कोई बाधा नहीं डालता, पर काव्य का प्रभाव कभी कभी बहुत हलका कर देता है। यही बात हमारे यहाँ 'रसाभास' और भावाभास के अंतर्गत सूचित की गई है। काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालनेवाली वस्तु मनते हैं। कला 'कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते। काव्यानुभूति जीवन क्षेत्र में संचित अनुभूतियों का ही रसात्मक रूप है। अत्यंत अनूठी उक्ति द्वारा कही हुई दुराचार की बात से अनुरंजन हो सकता है, पर उसमें कुछ विरक्ति भी मिली रहेगी। यदि भावव्यंजना में भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति हैं जैसे के प्रति न होना चाहिए, तौ 'साधारणीकरण' न होगा, अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा उस भाव में लीन न होगा।

'कला कला ही के लिए' इस पुराने प्रवाद ने कुछ दिनों से यह सवाल खड़ा कर रखा है कि 'सदाचार' का काव्य में कोई स्थान है या नहीं।' सन् 1891 में इंगलैंड के आस्करवाइल्ड ने बड़े धड़ल्ले के साथ कहा 'समालोचना' में सबसे पहली बात तो यह है कि समालोचक को यह परख हो कि 'कला' और 'आचार' के क्षेत्र सर्वथा पृष्क पृथ्क् हैं।' तब से कई इसी का अनुवाद करते आए, जैसे श्कला स्वतः न सदाचारपरक हो सकती है, न दुराचारपरक', कला के भीतर नैतिक सदसत् का भेद आ नहीं सकता। आप लोग फिर देखें कि ये दोनों कथन भी बेलबूटे और नक्काशी पर ही ठीक घटते हैं। उन्हीं की धारणा यहाँ भी काम कर रही है। यह तो स्पष्ट ही है कि 'काव्य और सदाचार' के संबंध में यह मत कला ही के लिए वाद का एक पुछल्ला है। उस वाद को उड़े बहुत दिन हो गए। जो कुछ उसका अवशेष था उसे इंगलैंड के अत्यंत निर्मल दृष्टि वर्तमान समालोचक रिचर्ड्स ने यूरोपीय समीक्षा क्षेत्र के बहुत से निरर्थक शब्दजाल और कूड़ा करकट के साथ हटा दिया है और साफ कह दिया है कि सदाचार से कला का घनिष्ठ संबंध है।

'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के एक बड़े उत्साही प्रचारक मि. संपिगर्न हैं जिन्होंने 'समालोचना की नई पद्धाति' (दि न्यू क्रिटिसिज्म) नाम की

एक छोटी सी पुस्तिका (जिसे एक पैंफ्लेट कहना चाहिए) में इन वादों की कुछ बातें अधूरे, अनपचे और असंबद्ध रूप में इकट्ठी कर दी हैं। 'काव्य में नैतिक सदसत् का विचार अनपेक्षित है' इस मत का बड़े जोश के साथ उन्होंने उस पुस्तिका में इस प्रकार कथन किया है' शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार दुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही है जैसा रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण।' पर जिस पेड़ की जड़ ही कट गई, उसकी डालियों को कोई कैसे हरी कर सकता है?

अभी सन् 1929 में कैलिफोर्निया (अमेरिका) विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग के आचार्यों के आलोचना संबंधी निबंधों का जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसमें प्रो. टी. के. ह्विप्ल का 'काव्य और सदाचार' (पोएट्री एंड मारल्स) पर एक निबंध है। इस निबंध में इस मत का कि 'काव्य' के भीतर नैतिक सदसत् का भेद आ ही नहीं सकता, कई तरह से निराकरण कर दिया गया है। निबंध के आरंभ में ही उन्होंने संपिगर्न के उपर्युक्त कथन को यह कहकर लिया है कि, और कुछ कहने के पहले मैं इस पुरानी लकीर के समर्थक मि. संपिगर्न के कथन को लेता हूँ।। प्रो. ह्विप्ल ने अपने निबंध में यह दिखा दिया है कि, कला का स्वत: कोई अर्थ नहीं। कविता मनुष्य के हृदय की अनुभूति है, जो मनुष्य के ही हृदय में पहुँचाई जाती है। अत: मनुष्य के साथ उसका संबंध नित्य है। मनव जीवन से असंबद्ध उसका कुछ मूल्य नहीं। प्रो. ह्विप्ल अंत में उस पक्ष पर आ गए हैं जिसके विचार से हमारे यहाँ 'रसाभास' और 'साधारणीकरण' का निरूपण हुआ है।

यह मैंने यहाँ इसलिए उद्धृत कर दिया है जिससे 'कला में सदाचार का विचार अनपेक्षित है' इसेएक आधुनिक सिद्धांत बताकर गंदी और कुरुचिपूर्ण पुस्तकों की तीव्र आलोचना का रास्ता न रोका जाय।

मनुष्य समाज में रहनेवाला प्राणी है। जीवन में सत् असत् की जो भावना वह प्राप्त किए रहेगा, किसी काव्य द्वारा प्राप्त अनुभूति का सामंजस्य उसके साथ वह अवश्य चाहेगा। यदि यह सामंजस्य न होगा तो उस काव्य का पूरा रसात्मक ग्रहण वह न कर सकेगा। कविता वही सार्थक है, जो दूसरे के हृदय में जाकर अपना प्रकाश कर सके, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है–

'मनि, मानिक, मुकता छबि जैसी।
अहि, गिरि, गज सिर सोह न तैसी।।
नृप किरीट तरुनी तन पाई।

लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसई सुकबि कबित बुधा कहहीं।
उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं॥'

हमारे यहाँ रस के आरंभ में ही सच्ची रस की अनुभूति कैसे होती है यहबताते हुए 'सत्तवोद्रेकात' कहकर झगड़ा साफ कर दिया गया है। रसानुभूति के समय प्रकृति सत्वस्थ रहती है, रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव उस समय नहीं रहता।

भाव या हृदय को अनुभूति ऐसी वस्तु से, जिसका सच्ची कविता के साथ नित्य संबंध है, पीछा छुड़ाना क्रोचे के लिए सहज न था। एक स्थान पर उसकी सत्ता उसे स्वीकार करनी पड़ी है। वह कहता है, 'द्रव्य' वह भावात्मकता है, जो कला के रूप में निरूपित न हुई हो। 1 'द्रव्य' से उसका अभिप्राय मन के भीतर वाह्य प्रकृति के रूपसंस्कारों (छापों) से है, यह मैं सूचित कर आया हूँ। मन में संचित वाह्य जगत् के नाना रूपों की भावात्मकता का मतलब क्या हो सकता है? बस यही न कि उनमें भावों के उद्‌बोधान की शक्ति होती है। बस, यही तो मेरा क्या काव्य से वास्तव में प्रभावित होनेवालों मात्र का पक्ष है। काव्य में उन रूपों का विधान इसीलिए होता है कि वे किसी भाव को, हृदय की किसी मार्मिक वृत्ति को जगाएँ। अतः सच्ची काव्यानुभूति भावानुभूति के ही लय में होती है, यह सिद्धहै।

अब अलंकारों को लीजिए। क्रोचे अलंकार अलंकार्य का भेद न मानकर अलंकार को शाब्दिक अभिव्यंजना या उक्ति से भिन्न कोई पदार्थ नहीं मनता। उसकी यही बात इधर उधर से आकर हमारे नए काव्यक्षेत्र में भी इस रूप में सुनाई पड़ा करती है कि 'अलंकार कोई चीज नहीं, उसका जमाना गया। पर नई रंगत की कविताओं को देखिए तो पता चलता है कि उसी का जमाना आजकल आ गया है। बात यह है कि आजकल इस प्रकार के लटके कि 'रस अलंकार तो पुरानी चीजें हैं, उनका जमाना गया इधर उधर से नोचकर ही दुहराए जाते हैं। वे कहाँ से आए हैं, उनका पूरा मतलब क्या है, यह सब जानने या समझने की कोई जरूरत नहीं समझी जाती। इन वाक्यों को बात बात में दुहरानेवालों में से अधिकांश तो इतना ही जानते हैं कि रस, अलंकार आदि हमारे साहित्य के बहुत काल से व्यवहृत शब्द हैं, अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद नहीं। इससे इनका नाम लेना फैशन के खिलाफ है। दिन में सैकड़ों बार 'हृदय की अनुभूति, हृदय की अनुभूति' चिल्लाएँगे, पर 'रस' का नाम सुनकर ऐसा मुँह बनाएँगे मानो उसे न

जाने कितना पीछे छोड़ आए हैं। भलेमानस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' और 'भाव' कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझकर 'हृदयवाद' लेकर सामने न आते। संभव है इसका पता पाने पर कि 'हृदयवाद' तो 'रसवाद' ही है, वे इस शब्द को छोड़ दें। शब्दशक्ति, रस और अलंकार ये विषय विभाग काव्यसमीक्षा के लिए इतने उपयोगी हैं कि इनको अंतर्भूत करके संसार की नई पुरानी सब प्रकार की कविताओ की बहुत सी सूक्ष्म, मार्मिक और स्वच्छ आलोचना हो सकती है। रिचर्ड्स ऐसे वर्तमान अंग्रेजी समालोचक किस प्रकार अब समीक्षा में बहुत कुछ भारतीय पद्धाति का अवलंबन करके कूड़ा करकट हटा रहे हैं, यह मैं शब्दशक्ति के प्रसंग में दिखा चुका हूँ। खैर, अब प्रस्तुत विषय पर आना चाहिए।

अलंकार अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता। शब्दशक्ति के प्रसंग में हम दिखा आए हैं कि उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो उसकी तह में कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। इस अर्थ से या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होगी। इस 'अर्थ' का पता लगाकर इस बात का निर्णय होगा कि व्यंजना ठीक हुई है या नहीं। अलंकारों (अर्थालंकारों) के भीतर भी कोई अर्थ व्यंग्य रहता है, चाहे उसे गौण ही कहिए। उदाहरण के लिए पंतजी की ये पंक्तियाँ लीजिए

'बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित
इसी में था असीम अवसित।'

इसका प्रस्तुत अर्थ इस प्रकार कहा जा सकता हैश्वह बालिका अपने बाल्यजीवन के प्रवाह की सीमा के भीतर उछलती कूदती थी। उसके उस बाल्य जीवन में अत्यंत अधिक और अनिर्वचनीय आनंद प्रकट होता था।

बिना इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे, न तो कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा हो सकती है, न उसकी रमणीयता के स्थल ही सूचित किए जा सकते हैं। अब यह देखिए कि उक्त प्रस्तुत अर्थ को कवि की उक्ति सुंदरता के साथ अच्छी तरह व्यंजित कर सकी हैं या नहीं। पहले 'बाल्य सरिता' यह रूपक लीजिए। कोई अवस्था स्थिर नहीं होती, प्रवाह रूप में बहती चली जाती है, इससे साम्य ठीक है। अब नदी की मूर्त भावना का प्रभाव लीजिए। नदी की धारा देखने से स्वच्छता, द्रुत गति, चपलता, उल्लास आदि की स्वभावतः भावना होती है, अतः प्रभाव भी वैसा ही रम्य है जैसा भोलीभाली, स्वच्छ हृदय

प्रफुल्ल और चंचल बालिका को देखने से पड़ता है। अत: कह सकते हैं कि यह रूपक समीचीन और रम्य है। बाल्यावस्था या कोई अवस्था हो, उसकी दो सीमाएँ होती हैं एक सीमा के पार व्यतीत अवस्था होती है दूसरी सीमा के पार आनेवाली अवस्था। अत: दो 'कूलों' भी बहुत ठीक है। तरंग नदी की सीमा के भीतर ही उछलती है, बालिका भी बाल्यावस्था के बीच स्वच्छंद 'क्रीड़ा' करती है। अत: 'तरंग सी' उपमा भी अच्छी है। असीम अर्थात् ब्रह्म अनंत आनंद स्वरूप है और उस बालिका में भी अपरिमित आनंद का आभास मिलता है। अत: यह कहना ठीक ही है कि मानो उस ससीम बाल्यजीवन के भीतर असीम आनंदस्वरूप ब्रह्म ही आ बैठा है। इसलिए यह प्रतीयमन उत्प्रेक्षा भी अनूठी है क्योंकि इसके भीतर 'अधिक' अलंकार के वैचित्र्य की भी झलक है।

यह सब समीक्षा प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद समझकर प्रस्तुत अर्थ को सामने रखने से ही संभव है। यह लटका कि कला की अभिव्यंजना का अर्थ क्या? चल नहीं सकता। पुराने कलावाद के प्रचारक मि. संपिगर्न भी काव्य की समीक्षा में यह देखना आवश्यक समझते हैं कि 'कवि क्या करने बैठा था और कहाँ तक सफलता के साथ उसे वह कर सका।' अब इस प्रकार प्रस्तुत अर्थ तक पहुँचे बिना 'कवि क्या करने बैठा था' इसका पता कैसे लग सकता है? इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे बिना उस कविता की समालोचना किस रूप में हो सकती है? इसी रूप में न कि 'बाल्यसरितावाह! क्या सफलता की स्रोतस्विनी बहाई गई है जिसकी मधुमयी तरंगमाला में मन स्वर्गलोक का अंचल चूम आता है। असीम अवसित देखिए कल्पना किस प्रकार ससीम की दीवारें फाँदकर असीम से जा भिड़ी और उसे ससीम के भीतर खींच लाई और संपुटित कर दिया।

रस, अलंकार आदि के नाना भेदनिरूपण क्रोचे के अनुसार कला के निरूपण में कोई योग न देकर तर्क या शास्त्रपक्ष में सहायक होते हैं। उन सबका मूल्य केवल वैज्ञानिक समीक्षा में है, कलानिरूपिणी समीक्षा में नहीं। इस संबंध में मेरा वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कलानिरूपिणी समीक्षा है। उसी का नाम समीक्षा है। उसके अतिरिक्त जो कल्पनात्मक या भावात्मक पदावली व्यवहृत होगी वह समीक्षा न होगी। किसी कविता का आधार लेकर खड़ा किया हुआ एक हवाई महल होगा। किसी उक्ति के संबंध में पूछा जायगा कि कैसी है, तो कहा जायगा कि इसे पढ़कर ऐसी भावना होती है कि मानो स्वर्ग के सुनहरे तट पर कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर पीयूषपान करती हुई किसी अप्सरा ने मेरे ऊपर भूल से कुल्ला कर दिया।' श्कलावाद' और

'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव के यूरोप में समीक्षा के क्षेत्र में इधर तरह तरह की अर्थशून्य पदावली प्रचलित होती आ रही थी, जैसे श्कला कला के लिए' के बड़े भारी प्रतिपादक डॉ. ब्रैडले की यह प्रशस्ति 'कविता एक आत्मा है। पता नहीं कहाँ से आती है। न तो हमारे आदेश पर वह बोलेगी, न हमारी भाषा में बोलेगी। वह हमारी दासी नहीं, हमारी स्वामिनी है।' इस प्रकार के वाक्यरचना से काव्य के स्वरूपबोध में क्या सहायता पहुँच सकतीहै? समीक्षा के नाम पर इस प्रकार अर्थशून्य वागाडंबर की चाल निकलती देख अत्यंत सूक्ष्मदर्शी समालोचक रिचर्ड्स बहुत खिन्न हुए और उन्होंने इसका कठोर प्रतिषेधा किया।1

श्कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' का इतना विस्तृत उल्लेख मैंने इस कारण किया कि इनका प्रभाव यूरोप में समीक्षा के स्वरूप पर तो बहुत अधिक और काव्यरचना के स्वरूप पर भी थोड़ा बहुत पड़ा है। यदि इन दोनों वादों से उत्पन्न प्रवृत्तियाँ वहीं की वहीं रह जातीं, बंगभाषा के प्रसाद से हमारे हिन्दी साहित्य क्षेत्र में भी न प्रकट होतीं तो मुझे इनके उल्लेख द्वारा आप लोगों का अमूल्य समय नष्ट करने की कोई आवश्यकता न होती। अब मैं नीचे संक्षेप में इन प्रवृत्तियों का उल्लेख करता हूँ

ईसा की बारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में संत बरनार्ड नाम के जो प्रसिद्ध भक्त हो गए हैं, उन्होंने दूल्हे के 'तीसरे कक्ष' में प्रवेश का इस प्रकार वर्णन किया है यद्यपि वे (ईश्वर) कई बार मेरे भीतर आए पर मैंने न जाना कि कब आए। आ जाने पर कभी कभी मुझे उनकी आहट मिली है, उनके विद्यमान होने का स्मरण भी मुझे है, वे आनेवाले हैं, इसका आभास भी मुझे कभी कभी पहले से मिला है, पर वे कब बाहर गए, इसका पता मुझे कभी न चला।'

अब इसी प्रकार की रचना की झलक आप आज इस बीसवीं शताब्दी में भी 'गीतांजलि', 'साधना' तथा मासिक पत्रों में समय समय पर निकलनेवाले गद्यकाव्यों में स्पष्ट देख सकते हैं। कबीर की 'सुन्नि महलिया' भी सामी रहस्यवाद की ओर से आई है।

भारतवर्ष के वैष्णव धर्म में भी जैसे सेव्य, सेवक आदि कई भावों से उपासना मानी गई थी वैसे ही गोपियों के कृष्णप्रेम को लेकर 'माधुर्यभाव' की उपासना भी मानी गई थी पर उसका स्वरूप केवल भावात्मक था

भारतवर्ष के भीतर माधुर्य भाव का ग्रहण प्राचीन काल में दक्षिण में हुआ। बड़े बड़े मंदिरों में जो देवदासियाँ रहा करती थीं इसका प्रवर्तन पहले उन्हीं के बीच जान पड़ता है। माता पिता लड़कियों को मंदिर में चढ़ा आते थे, जहाँ उनका

विवाह ठाकुरजी के साथ हो जाता था। वे ही देवदासियाँ हो जाती थीं। उनके लिए मंदिर में प्रतिष्ठित भगवान् की उपासना पतिरूप में विधोय थी इन देवदासियों में से कुछ उच्च कोटि की भक्तिनें निकल आती थीं।

दक्षिण में अंदाल इसी प्रकार की भक्तिन थी, जिसका जन्म वि. सं. 773के आसपास हुआ था। यह बहुत छोटी अवस्था में किसी साधु को एक पेड़ के नीचे मिली थी। वह साधु भगवान् का स्वप्न पाकर इसे विवाह के वस्त्र पहनाकर श्रीरंगजी के मंदिर में छोड़ आया था। अंदाल के पद द्रविड़ भाषा में 'तिरुप्पावइ' नामक पुस्तक में अब तक मिलते हैं। अंदाल एक स्थान पर कहती है अब मैं यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।' इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें रहस्य का समावेश अवश्य हो जायगा। भारतीय भक्ति का मूल रूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस 'माधुर्य भाव' का अधिक प्रचार न हुआ। पीछे मुसलमानी जमाने में सूफियों की देखादेखी इस भाव की ओर कुछ कृष्णभक्त रहस्यात्मक ढंग से प्रवृत्त हुए।

भारतवर्ष में धर्म के भीतर भी ज्ञान की प्राकृत पद्धाति और प्रेम की प्रौकृत पद्धाति स्वीकृत थी अतः न ज्ञान के क्षेत्र में और न भगवत्प्रेम के क्षेत्र में रहस्यवाद की आवश्यकता हुई। साधनात्मक और क्रियात्मक रहस्यवाद का अलबत योग, तंत्र और रसायन के रूप में विकास हुआ। यहाँ ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग तीनों अलग अलग रहे हैं। इस स्पष्ट विभाग के कारण भारतीय परंपरा का भक्त न तो पारमार्थिक ज्ञान का दावा करता है, न अलौकिक सिद्धि या रहस्यदर्शन का। ज्ञान के अधिकारी तर्कबुद्धिसंपन्न, चिंतनशील दार्शनिक ही माने जाते हैं। तत्त्व ज्ञान की झलक के लिए शुद्ध बुद्धि के अतिरिक्त और कोई दूसरी खिड़की नहीं मानी जाती। भारतीय भक्त हृदय भी उसी पद्धति से भगवान् से प्रेम करता है, जिस पद्धति से पुत्रा, माता से। इस प्रेम के लिए कोई अप्राकृतिक पद्धति अपेक्षित नहीं। भक्त की अनुभूति एक प्राकृतिक या स्वाभाविक अनुभूति है। पर रहस्यवादी की ईश्वरसमागमवाली दशा या तो योगिकों की तुरीयावस्था अथवा चित्तविक्षेप के रूप में मानी जाती हैजैसी किसी भूत या देवता के सिर आने पर होती है। इस दशा पर आस्था सभ्यता की आदिम अवस्था का संस्कार है, जो किसी न किसी रूप में अब तक चला चलता है। उसी के कारण जैसा भूतप्रेत, कुलदेवता आदि का सिर पर आना वैसा ही यह ईश्वर का सिर पर आना समझा जाता है। हमारे यहाँ के भक्ति मार्ग में यह

बिलकुल नहीं है। आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर न कभी राम कृष्ण आए, न ब्रह्मा ब्रह्मराक्षस अलबत आते हैं। न हनुमानजी भी कभी कभी भक्तमंडली से उछलकर किसी सेवक के सिर पर आ जाया करते हैं।

भारतीय परंपरा के भक्त का प्रेममार्ग सीधा सादा और स्वाभाविक है, जिस पर चलना सब जानते हैं, चाहे चलें न। वह ऐसा नहीं जिसे कोई बिरला ही जानता हो या पा सकता हो। वह तो संसार में सबके लिए ऐसा ही सुलभ है, जैसेअन्न और जल

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माह तुलसी

जिस हृदय से भक्ति की जाती है, वह सबके पास है। सरलता इस मार्ग का नित्यलक्षण है मन की सरलता, बचन की सरलता और कर्म की सरलता

सूधो मन, सूधो बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुबर प्रेम प्रसूतिड्ड

भारतीय परंपरा के सच्चे भक्त में दुराव छिपाव की प्रवृत्ति नहीं होती। उसे यह प्रकट करना नहीं रहता कि जो बातें मैं जानता हूँ उसे कोई बिरला ही समझ सकता है, इससे अपनी वाणी को अटपटी और रहस्यमयी बनाने की आवश्यकता उसे कभी नहीं होती। वह सीधीसादी सामान्य बात को भी रूपकों में लपेटकर पहेली बनाने और असंबद्धता के साथ कहने नहीं जाता। बात यह है कि अपना प्रेम वह किसी अज्ञात के प्रति नहीं बताता। उसका उपास्य ज्ञात होता है। उसके निकट ईश्वर ज्ञात और अज्ञात दोनों है। जितना अज्ञात है उसे तो वह परमार्थान्वेषी दार्शनिकों के चिंतन के लिए छोड़ देता है और जितना ज्ञात है उसी को लेकर वह प्रेम में लीन रहता है। ज्ञात पक्ष में यह सारा जगत् ब्रह्म का व्यक्त प्रसार है जिनके भीतर रक्षण और रंजन की नित्यकला भी समान रहती है। बाहर जगत् के बीच इस कला का दर्शन भक्ति का पक्ष है। 'अपने मन के भीतर ढूँढ़ना' यह योग का पक्ष है। बाहर जगत् में जहाँ रक्षण और रंजन की यह कला भक्त को दिखाई पड़ती है वहाँ वह सिर झुकाता है। श्रीमद्भागवत में इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण हम पाते हैं। ब्रज के गोप इंद्र की पूजा किया करते थे। श्रीकृष्ण ने नंद से कहा कि इससे अच्छा तो यह है कि हम इस गोवर्धान पर्वत की पूजा करें। जो साक्षात् या सीधा पालन पोषण, रंजन करता दिखाई दे वही देवता है

तस्मात्सम्पूजयेत्कर्म स्वभावस्थरू स्वकर्मकृत्
अद्बजसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्डम्(भागवत, 10-24-18)

तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्नारभ्यतां मखः।
य इंद्रयागसमारम्भास्तैरयं साध्यातां मख(भागवत, 10-24-25)

यही 'अंजसपूजा' सीधा उसकी पूजा जो प्रत्यक्ष रक्षक और प्रत्यक्ष रंजक हैभारतीय भक्तिभावना का प्रधान स्वरूप है। इसी से प्रत्यक्ष वाह्य जगत् के बीच राम कृष्ण के रूप में अपनी रक्षण रंजन कला का प्रकाश करनेवाले भगवान् के व्यक्त रूप को लेकर भारतीय भक्तिमार्ग सच्ची भावुकता के साथ चला। यदि किसी पर्वत से, किसी वृक्ष से, किसी पशु से प्रकृति के छोटे बड़े किसी रूप से लोक का उपकार है तो उसमें स्थित हमारी पूज्य बुद्धि भगवान् ही के प्रति समझनी चाहिए। इस प्रकार व्यक्त और प्रत्यक्ष रूपों के प्रति पूज्य बुद्धि हमारे भक्तिमार्ग का वह प्रधान अवयव है, जो उसे उन मार्गों से अलग करता है, जो ऐसे प्रत्यक्ष रूपों के प्रति पूज्य भाव रखना पाप कहते हैं।

सारांश यह है कि हमारे यहाँ का (सगुण) भक्तिकाव्य भी ब्रह्म के अज्ञात और अव्यक्त स्वरूप को आध्यात्मिक आभास द्वारा बताने का दावा करता हुआ नहीं चला है। वह इसी व्यक्त जगत् और जीवन के बीच भगवान् की कला का दर्शन कराकर भावमग्न करना चाहता है। भक्तिमार्ग के संबंध में यहाँ इतना निवेदन करने का मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की रचनाएँ भी रहस्यात्मक स्वप्न, आभास आदि की दृष्टि से न देखी जाय, और उनसे तरह तरह के आध्यात्मिक अर्थ निकालने की बेजा हरकत न की जाय। भक्तिकाव्य भी काव्य ही है, और काव्य की तह में, जैसा कि मैं कहता आ रहा हूँ, इसी जगत् और जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ छिपी रहती हैं।

कविता के संबंध में मेरी धारणा बराबर से यही रही है कि वह एक ऐसी साधना है कि जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के शुद्ध रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह, तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को अपने व्यक्तिगत योगक्षेम, हानि, लाभ, सुख दुःख आदि से संबद्धा करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बधा रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको, बिलकुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है वही कविता

है। कविता के साथ 'आनंद' शब्द जुड़ा रहने से उसे विलास की सामग्री न समझना चाहिए। जो केवल अपने विलास या सुखभोग की सामग्री को ढूँढ़ा करते हैं उनमें उस रागात्मक 'सत्त्व' की कमी है जिसके द्वारा व्यक्त सत्ता मात्र के साथ मनुष्य अपने हृदय के सब भावों का केवल प्रेम, हर्ष, आश्चर्य आदि का ही नहीं, करुणा, क्रोध, जुगुप्सा आदि का भी ठीक और उपयुक्त संबंध घटित कर लेता है। इसी से हमारे यहाँ 'सत्वोद्रेक' के बिना सच्ची रसानुभूति नहीं मानी गई।

चिर प्रतिष्ठित काव्य के प्राकृत स्वरूप के संबंध में इतना कहकर अब मैं क्रोचेके अभिव्यंजनावाद' की उन छह बातों को लेता हूँ जो इस स्वरूप के विरुद्धा पड़ती हैं और जिनका प्रभाव इधर उधर हमारे वर्तमन साहित्यक्षेत्र में भी दिखाई पड़ने लगा है।

(1) प्रस्तुत के मार्मिक रूपविधान का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूपविधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग।

उक्त वाद के अनुसार तो काव्य में प्रस्तुत पक्ष कुछ होता ही नहीं। प्रस्तुत पक्ष तो तब होगा जब काव्य की अभिव्यंजना का जगत् या जीवन की बातों से कोई संबंध होगा। जबकि किसी प्रकार का संबंध ही नहीं, जबकि अभिव्यंजना अध्यात्म जगत् से उठी हुई वस्तु है, तब कैसा प्रस्तुत? क्रोचे के अनुसार काव्य में जीवन की कुछ वस्तुएँ या बातें जो ले ली जाया करती हैं, वे केवल मसाले के रूप में अब, ये ही वस्तुएँ या बातें साहित्य में 'प्रस्तुत' कहलाती हैं। अत: जब इन वस्तुओं या बातों के प्रति किसी प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करना काव्य का उद्देश्य ही नहीं तब इनको ऐसे मार्मिक रूप में रखने की आवश्यकता ही क्या जिससे उनके प्रति कोई भाव जगे। प्रस्तुत कहलानेवाली जीवन की वस्तुओं या बातों का तो सहारा मात्र कल्पना की एक नूतन सृष्टि खड़ी करने में लिया जाता है। अत: कवि की प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग प्रस्तुत के मार्मिक प्रत्यक्षीकरण में नहीं उससे अलग विचित्र या रमणीय रूपविधान में है। प्रस्तुत से अलग रूपविधान ही अप्रस्तुत या उपमन कहलाता है। उपर्युक्त धारणा अंग्रेजी के समीक्षाक्षेत्र में इतना जोर पकड़ गई है कि 'रूप विधान' (इमैजरी) शब्द का प्रयोग अप्रस्तुत रूपविधान के लिए ही होता है। श्रीयुत रवींद्रनाथ ठाकुर का काव्य के अलंकारों पर एक लेख मैंने कहीं देखा था जिसमें रूपविधान के संबंध में यही धारणा स्पष्ट लक्षित होती थी। उनके रूप और 'अरूप' नामक प्रबंध के अंतर्गत इस कथन में भी इसी का आभास पाया जाता है

'मनुष्य की साहित्य शिल्प कला में हृदय का भाव रूप में जरूर होता है, पर रूप में बद्ध नहीं होता। इसलिए वह केवल नए नए रूप के प्रवाह की सृष्टि करता है, इसीलिए प्रतिभा को नवनवोन्मेषिणी बुद्धि कहते हैं।' इसके आगे उन्होंने यह दृष्टांत दिया है मन लिया जाय कि पूर्णिमा की शुभ्ररात्रि का सौंदर्य देखकर किसी कवि ने वर्णन किया कि मानो सुरलोक से नीलकांत मणिमय प्रांगण में सुरांगनाएँ नंदन की नवमल्लिका की फूलशय्या।'

यह उद्धरण मैंने केवल यह दिखाने के लिए दिया है कि ठाकुर महोदय भी प्रतिभा का प्रयोग अप्रस्तुत विधान में ही समझते हैं। उनके उपर्युक्त वचन क्रोचे की इस बात का समर्थन नहीं करते हैं कि काव्य में न कोई प्रस्तुत पक्ष होता है, न उसके प्रति हृदय की कोई अनुभूति। यहाँ उन्होंने स्पष्ट रीति से प्रस्तुत वस्तु 'रात्रि' में सौंदर्य माना है, और उसके प्रति हृदय में प्रिय भाव का उदय कहा है। अत: जो लोग विलायती समीक्षाओं में से इधर उधर के ऐसे वाक्य लेकर कि 'काव्य का विषय क्या?' 'काव्य का अर्थ क्या?' अपनी जानकारी प्रकट किया करते हैं उन्हें ठाकुर महोदय के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए।

यहाँ मेरा अभिप्राय केवल इस धारणा को असंगत सिद्ध करने का है कि काव्य में प्रतिभा या कल्पना का काम केवल ढूँढ़ ढूँढ़कर, या अपनी अंतरात्मा में से निकाल निकालकर, तरह तरह के अप्रस्तुत रूपों का विधान करना ही है। यह तो हमारे यहाँ का वही पुराना 'अलंकारवाद' ही हुआ जो थोड़ा रूप बदलकर और अलंकार शब्द को हटाकर प्रकट हुआ है। क्या रूप बदला है, यह मैं अलंकार के प्रसंग में सूचित करूँगा। जो अप्रस्तुत रूपविधान या उपमानों की योजना में ही प्रतिभा का प्रयोग और काव्यत्व मानेंगे उनके निकट वाल्मीकि का हेमंतवर्णन, कालिदास का मेघदूत, वर्ड्सवर्थ के सीधा सीधा रूप में चित्रित बिना तड़क भड़कवाले सामान्य ग्रामीण दृश्य काव्य ही न ठहरेंगे। मेघदूत न कल्पना की कोरी उड़ान है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय का अपनी प्यारी भूमि की रूपमाधुरी पर सीधीसादी प्रेमदृष्टि। क्या 'त्वथ्यायत्तां कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञै:, त्वामारूढं पवनपदवीम्, 'विश्रांतस्सन् ब्रज वननदीतीर जातानि सिंचन' इत्यादि प्रस्तुत रूपविधान काव्य नहीं? जिन्हें इनमें काव्य न दिखाई पड़े उनके संबंध में समझना चाहिए कि वे बरातों में निकलनेवाली कागज की फुलवारी को काव्य समझ बैठे हैं। वे केवल तमाशबीन हैं।

प्रस्तुत पक्ष का रूपविधान भी कवि की प्रतिभा द्वारा ही होता है। भाव की प्रेरणा से नाना रूपसंस्कार जग पड़ते हैं जिनका अपनी प्रतिभा या कल्पना द्वारा

समन्वय करके कवि प्रस्तुत वस्तुओं या तथ्यों का एक मार्मिक दृश्य खड़ा करता है। काव्य में प्रतिभा या कल्पना का मैं यह पहला काम समझता हूँ। जो नाना प्रकार के अप्रस्तुत उपमन जोड़ने में ही काव्य समझेंगे उनके हृदय पर प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारों का कोई मार्मिक प्रभाव न रह जायगा। वे मार्मिक से मार्मिक प्रत्यक्ष दृश्य के सामने वार्निश किए हुए काठ के कुंदे या गढ़ी हुई पत्थर की मूर्ति के सामने खड़े रह जायँगे। ऐसे लोगों के द्वारा काव्य का विभाव पक्ष ही धवस्त हो जायगा।

अप्रस्तुत योजना पर ही अधिक ध्या न देने की प्रवृत्ति आजकल की नई रंगत की कविताओं में भी दिखाई पड़ रही है। पं. सुमित्रानंदन पंत ऐसे कवियों पर भी, जो जगत् और जीवन की मार्मिक अनुभूतियों से संपन्न हैं, 'अभिव्यंजनावाद' से निकली हुई इस प्रवृत्ति का प्रभाव कहीं कहीं अधिक मात्रा में दिखाई पड़ जाता है, जैसे उनकी 'छाया' नाम की कविता में।

(2) जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर सच्ची भावानुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़, अभिव्यंजनावाद या उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास।

क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' सच पूछिए तो एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' है। संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में भी कुंतक नाम के एक आचार्य 'वक्रोक्तिरूकाव्य जीवितम' कह उठे थे। उनकी दृष्टि में भी 'उक्ति की वक्रता' ही काव्य है। वक्रता काव्य में अपेक्षित अवश्य होती है, पर वहीं तक जहाँ तक उससे हृदय की किसी अनुभूति का संबंध होता है। यों ही बोध मात्र कराने के लिए जिस रूप में बात कही जाती है उसी रूप में रखने से भावानुभूति नहीं जगती। बात को ऐसे रूप में रखना पड़ता है, जो भाव जगाने में समर्थ हो। इसी से कहा गया है कि 'इतिवृत्तमात्र निर्वाहेणनात्मपदलाभः।' इस रूप में बात बिना अलंकार के, बिना किसी प्रकार की अप्रस्तुत योजना के भी कही जा सकती है। इसी से 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में अलंकार काव्य का कोई नित्य अंग नहीं माना गया है। प्रस्तुत बातें ज्यों की त्यों सादे रूप में भी आकर भाव की बहुत अच्छी और स्वाभाविक व्यंजना कर देती हैं, जैसे ठाकुर कवि का सवैया लीजिए

वा निरमोहिनी रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वैहै,
बारहिं बार बिलोकि घरी घरी सूरति तो पहिचानति ह्वैहै।
ठाकुर या मन की परतीति है जौ पै सनेह न मनति ह्वैहै,
आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो विसेष कै जानति ह्वैहैड्ड

इसमें अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर किसी नए प्रेमी के चित्त के 'वितर्क' की कैसी सीधीसादी व्यंजना है। इसमें आई हुई बातें प्रस्तुत होने पर भी 'इतिवृत्त मात्र' की दृष्टि से फालतू हैं। 'इतिवृत्त' का मतलब है 'इतनी ही तो बातहै'। 'इतनी ही तो बात है' कहनेवाला व्यर्थ वे सब बातें न कहने जायगा जो सवैये में हैं।

भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्ति और स्वच्छंद गति के लिए काव्य में वक्रता या वैचित्र्य अत्यंत प्रयोजनीय वस्तु है, इसमें संदेह नहीं। 'खड़ी बोली' की कविता जिस रूखी चेष्टा के साथ खड़ी हुई थी, उसमें काव्य की झलक बहुत कम थी। खड़ी बोली की कविताओं में उपमा, रूपक आदि के ढाँचे तो रहते थे पर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और भाषा की विमुक्त स्वच्छंद गति दिखाई नहीं देती थी। 'अभिव्यंजनावाद' के कारण यूरोप के काव्यक्षेत्र में उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति जो हिन्दी के वर्तमान काव्यक्षेत्र में आई उससे खड़ी बोली की कविता की व्यंजनाप्रणाली में बहुत कुछ सजीवता और स्वच्छंदता आई। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्यभाषा की व्यंजकता अवश्य बढ़ रही है। दूसरी अच्छी बात यह हुई कि अप्रस्तुतों या उपमानों के रखने में केवल सादृश्य, साधम्य पर दृष्टि न रहकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर अधिक रहने लगी।

पर यह सब शुभ लक्षण देखकर जितना संतोष होता है उससे शायद ही कुछ कम खेद यह देखकर होता है कि अधिकतर लोग केवल वक्रता या अभिव्यंजना की विचित्रता को ही सब कुछ मानने लगे हैं। जीवन की अनेक मार्मिक दशाओं, जगत् की अनेक मार्मिक परिस्थितियों के वर्णन द्वारा भावों में मग्न करने में कवियों की वाणी तत्पर नहीं दिखाई दे रही है। अतः वर्तमन रचनाओं का बहुत सा भाग जीवन से विच्छिन्न सा दिखाई पड़ता है।

(3) जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करनेवाले प्रबंधकाव्यों की ओर से उदासीनता और मुक्तकों विशेषतः प्रेमोद्गारपूर्ण प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स)की ओर अत्यंत अधिक प्रवृत्ति।

यह यूरोप के वर्तमान काव्यक्षेत्र की बहुत व्यापक क्या सामान्य प्रवृत्ति है जिसके कारण वहाँ बहुत दिनों से सफल महाकाव्य के दर्शन दुर्लभ हो गए हैं। मिल्टन, दाँते और गेटे की रचनाएँ ही अंतिम के समन दिखाई पड़ रही हैं, शेली के समय से लेकर अब तक महाकाव्य के लिए प्रयत्न तो होते रहे, पर सफल नहीं हुए। बात यह है कि प्रवृत्ति अंतर्वृत्तिनिरूपक (सब्जेक्टिव) प्रगीत मुक्तकों

की ओर ही अधिक हो जाने के कारण वाह्यर्थनिरूपिणी (आब्जेक्टिव) प्रतिभा का दास हो गया और छोटी छोटी फुटकल रचनाओं के अभ्यास के कारण किसी सुव्यवस्थित, भव्य और विशाल आयोजन की क्षमता जाती रही। इस संबंध में डॉ. डब्ल्यू. पी. केर की बात ध्यान देने योग्य है। यूरोप में महाकाव्य के ह्रास के कारणों का विचार करते हुए वे एक बड़ा भारी कारण उपन्यासों का चलन बताते हैं। उपन्यासों का बहुत कुछ आकर्षण संवादों में बातचीत के रंग ढंग से होता है। इस बात में पद्यबद्ध कथाकाव्य उसका सामना नहीं कर सकते। पर आधुनिक प्रबंधकाव्यों के प्रयासी प्रायः संवादों को ही, आकर्षण की वस्तु समझ, प्रधानता दिया करते हैं। कथाप्रवाह को मार्मिक बनाने का प्रयत्न वे नहीं करते।1

इधर पंद्रह वर्ष के भीतर हिन्दी साहित्य क्षेत्र को लें तो डॉ. केर की बात बहुत कुछ ठीक घटती पाई जायगी। बात यह है कि यदि एक जगह की प्रवृत्ति दूसरी जगह पहुँचाई जायगी तो उसके साथ लगी हुई भलाई या बुराई भी। मैथिलीशरणजी गुप्त के 'साकेत' को लीजिए जिसे काव्य की दृष्टि में मैं खड़ी बोली की अत्यंत प्रौढ़ रचना मानता हूँ, उसमें पुराने ढाँचे का शब्दकौशलपूर्ण चमत्कार और नए ढंग की अभिव्यंजना का वैचित्र्य दोनों प्रचुर परिमाण में पाए जाते हैं। दोनों का सुंदर मेल उस काव्य की विशेषता है। पर खेद है कि एक बड़ा प्रबंधकाव्य या महाकाव्य लिखने की इच्छा उन्हें उस समय हुई जब उनकी प्रवृत्ति देखादेखी अंग्रेजी ढंग के फुटकल प्रगीतकाव्यों (लिरिक्स) की ओर हो चुकी थी। इससे प्रबंधकाव्य के अवयवों के जीवन की विविध दशाएँ सामने लानेवाले घटनाचक्र, वस्तुवर्णन, संवाद और भावव्यंजना के ठीक ठीक परिमाण की व्यवस्था वे न रख सके। संवाद और भावव्यंजना, इन्हीं दो अवयवों की प्रधानता हो गई। दो सर्ग तो उर्मिला के वियोग की नाना दशाओं की व्यंजना में ही लग गए। कथाप्रवाह या संबंधनिर्वाह बहुत कम पाया जाता है। कथाप्रवाह या संबंधनिर्वाह प्रबंधकाव्य की पहली वस्तु है, जैसा कि माघ कवि ने कहा है

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धा दुरुदाहर ॥

पर डॉ. केर ने महाकाव्य रचने की असफलता का कारण जो उपन्यासों का प्रचार बताया है, वह ठीक तो है, पर अकेला नहीं। इस असफलता का मुख्य कारण है कलावाद 'अभिव्यंजनावाद' आदि के प्रभाव से प्रगीत मुक्तकों की ओर ही कवियों का टूट पड़ना। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी प्रबंधकाव्यों की रचना भक्तिकाल के भीतर ही विशद रूप से मिलती है। रीतिकाल प्रकीर्णकों

या मुक्तकों का काल था। तब से बराबर हिन्दी में भी फुटकल रचनाओं के अभ्यासी कवि चले आए, इससे अच्छे प्रबंधकाव्य न बन सके।

पहले रीतिकाल की फुटकल रचनाओं के अभ्यास से प्रबंधकाव्य का मार्ग रुका रहा अब आजकल प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स) की योरपीय प्रवृत्ति के अनुसरण से उसके मार्ग में बाधा पड़ रही है। उपन्यासों के प्रचार को मैं वैसा बाधक नहीं समझता।

(4) असीम, अनंत ऐसे शब्दों द्वारा रचनाओं पर आध्योत्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।

जो रचनाएँ वस्तुत: रहस्यवाद को लेकर चलें उनमें तो आध्यात्मिक पुट आवश्यक ही है। उनको एक सांप्रदायिक परंपरा के अंतर्गत मानकर अलग ही छोड़ देना चाहिए। पर नए ढंग की जितनी कविताएँ बनें सबके भीतर कहीं न कहीं असीम, अनंत को संपुटित करने की मैं कोई जरूरत नहीं समझता। मैं कई बार कह चुका हूँ कि आजकल जितनी कविताएँ 'छायावाद' की कही जाती हैं उनमें से अधिकांश का 'रहस्यवाद' से कोई संबंध ही नहीं। 'छायावाद' शब्द किस प्रकार रहस्यवाद सूचक है, यह मैं दिखा आया हूँ। अत: नई रंगत की कविता के लिए मैं यह शब्द ठीक नहीं समझता। श्रीयुत पं. सुमित्रानंदन पंत की प्राय: सब कविताएँ जगत् और जीवन के किसी मार्मिक पक्ष से संबंध रखती हैं। श्री जयशंकर प्रसादजी की वाणी भी या तो वेदना की विवृत्ति में अथवा सुख सौंदर्य और रमणीयता की अनुभूति उत्पन्न करने में लीन देखी जाती है। इधर उधर स्वप्न, छाया, मद, मदिर आदि रहस्यवाद के कुछ रूढ़ शब्दों और कहीं कहीं अनंत असीम की ओर संकेतों के रहने से ही कविता रहस्यवाद की नहीं हो जाती। नई पद्धति की कविताओं की सामान्य आकर्षक विशेषता व्यंजना की प्रणाली में है। वह प्रणाली हमारे कुछ नवीन कुशल कवियों के हाथ में स्वतंत्र विकास कर रही है। अत: अब उस पर से 'छायावाद' के नाम की विलायती बंगला मुहर हट जानी चाहिए।

रवींद्र बाबू यदि अनंत की ओर ताका करें तो यह आवश्यक नहीं कि सबकी टकटकी उसी ओर लगे। उनको तो मैं एक बड़ा भारी आलंकारिक मानता हूँ। किसी बात को जितने अधिक विलक्षण और व्यंजक शब्दों में वे लपेट सकते हैं, दूसरा नहीं। उनके लाए हुए अप्रस्तुत रूप अद्‌भुत दीप्ति के साथ अर्थ और भाव का प्रकाश करते हैं। इतना होने पर भी उनकी जिन रचनाओं में 'आध्यात्मिक' अदा विशेष रहती है उनकी तह में अनुभूति की कोई नवीन भूमि

नहीं मिलती। वही रूप की क्षणभंगुरता, ससीम का असीम के साथ मिलन आदि दिखाई पड़ता है। पर जो कविताएँ जगत् या जीवन की किसी मार्मिक वस्तु या तथ्य को लेकर अथवा लोकवाद के साथ समन्वित होकर चली हैं वे अत्यंत हृदयग्राहिणी हैं। उदाहरण के लिए 'ताजमहल' को लक्ष्य करके लिखी हुई कविता लीजिए, जिसमें कवि शाहजहाँ को इस प्रकार संबोधित करके

हे सम्राट् कवि, एइ तव हृदयेर छबि,
एइ तव नव मेघदूत, अपूर्व अद्भुत।

कहता है हीरा, मोती और माणिक की घटा, शून्य दिगंत के इंद्रजाल इंद्रधनुष की छटा की भाँति यदि लुप्त हो जाती है तो हो जाय, केवल एक बूँद ऑखों का ऑसू यह शुभ्र, समुज्ज्वल ताजमहल काल के कपोलप्रांत पर बचा रहे।

कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान काव्य और समीक्षा दोनों के क्षेत्र में 'आध्यात्मिक' शब्द भी बहुत से निरर्थक वाग्जाल का कारण हो रहा है। इसके कारण अनुभूति की सच्चाई (सिंसिऐरिटी) की भी कम परवाह की जा रही है।

(5) 'कला' शब्द के कारण काव्य के स्वरूप के संबंध में शिल्पवाली, बेलबूटे और नक्काशीवाली हल्की धारणा।

इसके संबध में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। यह देखकर खेद होता है कि इस हलकी धारणा का प्रचार बढ़ता जाता है। कारण यह है कि बड़े लोगों की ओर से भी बीच बीच में इसे सहारा मिलता जाता है। श्री रवींद्रनाथ ठाकुर पर भी इस धारणा का पूरा प्रभाव जान पड़ता है। वे भी कभी तो शिल्प के अंतर्गत काव्य को भी ले लेते हैं और कभी शिल्प साहित्य एक साँस में कह जाते हैं। मैं फिर भी जोर के साथ कहता हूँ कि यदि काव्य के प्राकृत स्वरूप की रक्षा इष्ट है, तो उसका 'पीछा' इस 'कला' शब्द से जहाँ तक शीघ्र छुड़ाया जाय अच्छा।

आजकल की नई रचनाओं में कुछ दूर तक चलनेवाली संश्लिष्ट रूप योजना तथा भावनाओं की अन्विति (यूनिटी) का जो अभाव पाया जाता है उसकी जवाबदेही भी मैं कलावाद, ही के सिर मढ़ना चाहता हूँ।

(6) समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास।

इसके संबंध में भी पीछे बहुत कुछ कहा जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना है कि विचारशीलता के ह्रास से पुष्ट और समर्थ साहित्य का विकास रुक जायगा। भारतवर्ष का संपर्क संसार के और भागों में बढ़ रहा है। यदि हममें विवेक बल रहेगा तो हम चारों ओर से उपयोगी और पोषक सामग्री लेकर और पचाकर

अपने साहित्य को पुष्ट और दृढ़ करेंगे। यदि यह विवेकबल न रहेगा तो जैसे अनेक प्रकार के विदेशी लोगों ने आकर यहाँ अड्डा जमा लिया है, वैसे ही अनेक प्रकारकी व्याधियाँ आकर हमारे साहित्य को ग्रस लेंगी और उसका स्वतंत्र विकास रुक जायगा।

यहाँ तक तो 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के भले बुरे प्रभाव का वर्णन हुआ। अब मैं अपने यहाँ की साहित्य मीमांसा पद्धति के संबंध में दो चार बातें निवेदन कर देना चाहता हूँ। शब्दशक्ति के प्रसंग में कह आया हूँ कि इस पद्धति पर चलकर हम सारे संसार के नए पुराने काव्य की बहुत सी स्पष्ट और स्वच्छ समीक्षा कर सकते हैं। मैं अब अधिक समय न लेकर रस, रीति और अलंकार के संबंध में कुछ अपने विचार प्रकट करूँगा।

पहले 'रस' लीजिए। इसका निरूपण बहुत ही व्यवस्थित रूप में हुआ है। स्थायी संचारी का भेद बहुत ही मार्मिक और सूक्ष्म दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर हुआ है, क्योंकि कुछ भाव स्थायी कहे गए और कुछ संचारी। अच्छी तरह विचार करने पर भेद का आधार मिल जाता है। स्थायी वे ही भाव माने गए हैं, जो संक्रामक हैं, जिनकी, व्यंजना श्रोता या पाठक में उन्हीं भावों का संचार कर सकती है।

मनोविज्ञान में भावों की प्रधानता और स्थायित्व का जो विचार किया गया है वह दूसरी दृष्टि से। भावों के वर्गीकरण आदि की हमारे यहाँ बहुत अच्छी व्यवस्था हुई। पर इसका मतलब यह नहीं कि उत्तारोत्तर बढ़ती हुई विचारपरंपरा द्वारा उसकी और उन्नति, परिष्कृति और संशोधन न हो। स्थायित्व की ही बात लीजिए। अच्छी तरह ध्यान देने पर यह पता लगेगा कि भाव की तीन दशाएँ होती हैं क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील दशा। किसी भाव की क्षणिक दशा अनेक अवसर पर एक आलंबन के प्रति होती है, स्थायी दशा अनेक अवसरों पर एक ही आलंबन के प्रति होती है और शीलदशा अनेक आलंबनों के प्रति होती है। क्षणिक दशा मुक्तक रचनाओं में देखी जाती है, स्थायी दशा महाकाव्य, खंडकाव्य आदि प्रबंधों में और शीलदशा पत्रों के चरित्रचित्रण में। इतना मैंने केवल उदाहरण के लिए कहा है। साहित्यक्षेत्र की इन सब बातों का विचार मैंने एक अलग ग्रंथ में किया है, जो समय पर प्रकाशित होगा।

इसके अंतर्गत हमारे यहाँ बड़े महत्त्व का सिद्धांत 'साधाणीकरण' का है। 'साधाणीकरण' का सीधा शब्दों में अर्थ हैश्रोता का भी उसी भाव में मग्न होना जिस भाव की कोई काव्यगत पात्र (या कवि) व्यंजना कर रहा है। यह दशा

तो रस की 'उत्तम दशा' है। पर रस की एक 'मध्यम दशा' भी होती है जिसमें पात्र द्वारा व्यंजित भाव में श्रोता का हृदय योग न देकर उस पात्र के प्रति किसी विपरीत भाव का अनुभव करने लगता है। जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध, दीन और अनाथ पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या पाठक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जग सकता है। यह भी एक प्रकार की रसात्मक अनुभूति ही है, पर मध्यम कोटि की। अतः प्रकृति के वैचित्र्यप्रदर्शन की दृष्टि से लिखे हुए पाश्चात्य नाटकों से इसी प्रकार की अनुभूति होगी। पर हमारे यहाँ के पुराने नाटकों में रस की प्रधानता रहने से 'साधाणीकरण' अधिक अपेक्षित होताहै।

'चमत्कारवादियों' के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अंतर्गत ले लेने पर रसानुभूति की क्रमशः उत्तम, मध्यकम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती हैं।

अब अलंकार लीजिए। अलंकारों में अधिकतर साम्यमूलक अलंकार ही अधिक चलते हैं। अतः इस साम्य के संबंध में थोड़ा विवेचन कर लेना चाहिए। हमारे यहाँ साम्य मुख्यतः तीन प्रकार के माने गए हैं सादृश्य (रूप की समानता), साधर्म्य (धर्म अर्थात् गुण, क्रिया आदि की समनता) तथा शब्दसाम्य (केवल शब्द या नाम के आधार पर समानता)। इनमें से तीसरे को लेकर तमाशे खड़े करना तो केशव ऐसे चमत्कारवादी कवियों का काम है। प्रथम दो के संबंध में ही कुछ निवेदन करने की आवश्यकता है। सादृश्य के संबंध में पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि काव्य में उसकी योजना बोध या जानकारी कराने के लिए नहीं की जाती है, बल्कि सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता इत्यादि की भावना जगाने के लिए की जाती है, जैसे किसी क्रुद्ध व्यक्ति की आँखों के संबंध में यही कहा जायगा कि 'वे अंगारे सी लाल हैं' यह नहीं कहा जायगा कि 'कमल के समान लाल हैं'।

इस बात का स्पष्ट शब्दों में निर्देश न होने से बहुत से कवियों ने केवल सादृश्य को रूपरंग की समानता को पकड़कर सुंदर वस्तुओं के कुछ भद्दे उपमन खड़े कर दिए हैं, जैसे केवल पतलापन लेकर कटि की उपमा भेड़ की कमर या सिंहनी की कमर से दे दी यह न सोचा कि भेड़ की कमर का चित्र कल्पना में आने से किसी प्रकार की सौंदर्यभावना पहले से जगी भी होगी तो वह भी भाग खड़ी होगी। तात्पर्य यह कि काव्य में जो अप्रस्तुत वस्तुएँ (उपमन) लाई जाती हैं वे यह देखकर कि उनके द्वारा प्रस्तुत के संबंध में सौंदर्य, माधुर्य आदि की भावना में कुछ वृद्धि होगी। अतः प्रभावसाम्य पहले देख लेना चाहिए।

बड़े हर्ष की बात है कि हिन्दी की वर्तमन नए ढंग की कविताओं में विशेषत: प्रभावसाम्य पर ही दृष्टि रखी जाती है। सादृश्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी केवल प्रभावसाम्य का हलका सा संकेत लेकर ही अप्रस्तुत की बेधड़क योजना कर दी जाती है।

प्रभाव और रमणीयता पर दृष्टि रखकर कुछ हमारे पुराने कवियों ने भी अत्यंत मार्मिक और सुंदर अप्रस्तुत योजना की है, जैसे सूरदासजी ने इस पद में

ज्यों चकई प्रतिबिंब देखि के आनंदी पिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि

थोड़े से हेर फेर के साथ यही भावना पंतजी की इन पंक्तियों में है

मिले थे दो मनस अज्ञात,
स्नेह शशि बिंबित था भरपूर।
अनिल सा कर अकरुण आघात,
प्रेम प्रतिमा कर दी वह चूर

काव्य के वर्तमान समीक्षकों की दृष्टि में दबी हुई या प्रच्छन्न अप्रस्तुत योजना जिसे हमारे यहाँ व्यंग्य रूपक कहेंगे, बहुत उत्कृष्ट मानी जाती है, जैसा कि जायसी की इस उक्ति में है

हीरा लेइ सो विद्रुम धारा। विहँसत जगत भएउ उजियारा।

यह पद्मिनी के ओठों और दाँतों का वर्णन है, जिसमें अप्रस्तुत प्रभात का रूप बिलकुल छिपा हुआ है। पद्मिनी के हँसने पर दाँतों की उज्ज्वल आभा अधरों की अरुण आभा लेकर जब फैलती है तब सारा संसार प्रकाशित या प्रफुल्ल हो जाता है, उसी प्रकार जैसे प्रभात काल की 'श्वेत अरुण आभा फैलने से भूमंडल प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार वर्षा का व्यंग्य रूपक पंतजी के इस पद्य में है

जब निरस्त्रा त्रिभुवन का यौवन
गिरकर प्रबल तृषा के भार,
रोमावलि की शरशय्या में
तड़प तड़प करता चीत्कार,
हरते हो तब तुम जग का दु:ख
बहा प्रेम सुरसरि की धार।

अप्रस्तुत विधान के नए ढंग का अच्छा निरूपण आजकल के दो प्रतिनिधि कवियों की इन पंक्तियों से हो जाता है

(क) सुरीले ढीले अधरों बीच
अधूरा उनका लचका गान
बिकच बचपन को, मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान। पंत

(इसमें कहा गया है कि उस बालिका का गान ही बाल्यावस्था और उसके भोले मन का उपमान बन जाता था अर्थात् वह गान स्वत: शैशव और उसकी उमंग ही था। उसमें उपमान उपमेय के बीच व्यंग्य व्यंजक भाव का ही संबंध है, रूप साम्य कुछ भी नहीं।)

(ख) कामना कला की बिकसी
कमनीय मूर्ति ही तेरी
खिंचती अब हृदय पटल पर
अभिलाषा बनकर मेरी। प्रसाद

(कला सौंदर्य का विधान करती है। स्वयं कला के मन में जो सौंदर्य की भावना है वही मानो तेरे रूप से मूर्त होकर व्यक्त हुई है, और इधर मेरे मन में उस रूपदर्शन का अभिलाष रूप रमणीय भाव बनी है। इस प्रकार 'आश्रय' और 'आलंबन दोनों का विधान हो गया। इसमें भी वही व्यंग्य व्यंजक भाव का संबंधहै।)

ये दोनों उक्तियाँ इस बात का पूरा संकेत करती हैं कि किस प्रकार अप्रस्तुत विधान में व्यंजकता पर ही मुख्य दृष्टि रखी जाती है।

नए ढंग की कविता की सबसे बड़ी विशेषता है लाक्षणिकता। कुछ वस्तुओं का प्रतीकवत् (सिंबल्स) ग्रहण भी इसी के अंतर्गत आ जाता है। लक्षणा का पेट बहुत गहरा है। नए ढंग की कविताओं के भीतर यहाँ से वहाँ तक लक्षणाएँ भरी मिलेंगी उपादान लक्षणा भी, लक्षण लक्षणा भी जैसे

(1) मर्म पीड़ा के हास।

(हास=पूर्ण विकसित या प्रबुद्ध रूप। पीड़ा और हास के विरोध के कारण 'विरोधभास' का भी चमत्कार है।)

(2) चाँदनी का स्वभाव में भास।
विचारों में बच्चों की साँस।
(चाँदनी=स्वच्छता, शीतलता और मृदुलता। बच्चों की साँस=भोलापन)।

(3) स्नेह का वासंती संसार,
पुन: उच्छ्वासों का आकाश।

(वासंती संसार = संयोग की सुख दशा। आकाश = शून्य जीवन। वसंत के पीछे ताप और बगोले भरे ग्रीष्म का अप्रस्तुत रूप भी छिपा हुआ है।)

व्यंजना की इन पद्धातियों में ही कहीं अंग्रेजी भाषा की शैली ज्यों की त्यों मिलती है, जैसे बच्चों के तुतले भय सी' तुतले=तुतली बोली में व्यंजित)।

इस प्रकार का अनुकरण मैं अच्छा नहीं समझता। कहीं कहीं इससे उक्ति बिलकुल अजनबी हो जाती है, जैसे विचारों में बच्चों की साँस'। जो अंग्रेजी के 'इनोसेंट ब्रेथ' से परिचित नहीं, वे इसे लेकर व्यर्थ हैरान होंगे। रचना करते समय इस बात का ध्यान पहले रहना चाहिए कि जो कुछ मैं लिख रहा हूँ, हिन्दी पढ़े लोगों के लिए लिख रहा हूँ, अंग्रेजी पढ़े लोगों के लिए नहीं। एक दिन मैंने देखा कि मेरे एक मित्र हिन्दी की एक मासिक पत्रिका लिए बैठे हैं। निकट आया, तब देखा कि उनके सामने एक कविता खुली है। उन्होंने मुझे देखते ही उसकी पहली ही पंक्ति पर उँगली रखकर कहा कि 'देखिए तो यह क्या है'। वह पंक्ति इस प्रकार थी

मेरे जीवन के अंतिम पाहन।

मैंने कहा यह कुछ नहीं, अंग्रेजी का लास्ट माइलस्टोन है।

अब 'रीति' की बात लीजिए। 'रीति' का विधान शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इसी दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों और रौद्र भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परुष और कर्कश वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया गया है। पर इसका मतलब यह नहीं कि 'मंजु मंजुल, प्रांजल' तथा उद्दंड, प्रचंड, मार्तंड' लिखकर ही काव्य की सिद्धि समझ ली जाए। इसका मतलब इतना ही है कि पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करने के लिए काव्य बहुत कुछ संगीत तत्त्व का भी सहारा लेता है। बहुत सी रचनाएँ तो केवल पदलालित्य और छंद की मधुरता के कारण ही लोकप्रिय हो जाती हैं। संस्कृत साहित्य में रीति पर सबसे ज्यादा जोर देनेवाले वामन हुए हैं।

पर 'रीति' को बिलकुल एक पुरानी बात समझकर टालना न चाहिए। अभी एक प्रकार का फ्रांसीसी रीतिवाद (फ्रेंच इंप्रेशनिज्म) बड़े जोर शोर से चला है, जिसमें शब्दों के अर्थों पर उतना जोर न देकर उनकी नाद शक्ति पर ही अधिक ध्यान देने का आग्रह किया गया है। इसका थोड़ा सा परिचय मैं आगे दूँगा।

शब्दशक्ति, रस, रीति और अलंकार अपने यहाँ की ये बातें काव्य की स्पष्ट और स्वच्छ मीमांसा में कितने काम की हैं, मैं समझता हूँ, इसके संबंध में अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। देशी विदेशी, नई पुरानी सब प्रकार की

कविताओं की समीक्षा का मार्ग, इनका सहारा लेने से सुगम होगा। आवश्यकता इस बात की है कि उत्तारोत्तार नवीन विचारपरंपरा द्वारा इन पद्धतियों की परिष्कृति, उन्नति और समृद्धि होती रहे। पर यह हो कैसे? वर्तमान हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो लक्षणों की पुरानी लकीर से जरा भी इधर उधर होने की कल्पना ही नहीं कर सकते। बेचारे नवीनतावादी अभी कलाबाजी कर रहे हैं, उन्हें विलायती समीक्षा क्षेत्र के उड़ते हुए लटकों की उद्धारणी और यूरोप के ग्रंथकारों की नाममाला जपने से फुरसत नहीं। अब रहे उच्च आधुनिक शिक्षा प्राप्त 'संस्कृत स्कालर' नामक प्राणी। वे तो भारतीय वाङ्मय में जो कुछ हो चुका है उसी को संसार के सामनेसंसार का अर्थ आजकल यूरोप और अमेरिका लिया जाता है रखने में लगे हैं। यही उनका परम पुरुषार्थ है। उन्हें अपने साहित्य को और आगे बढ़ाकर उन्नत करने से क्या प्रयोजन?

यहाँ तक तो मैंने अपने यहाँ की काव्यमीमांसा की पद्धाति का, पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्र के नाना वादों प्रवादों से चली प्रवृत्तियों का तथा हिन्दी के आधुनिक साहित्य क्षेत्र पर उन प्रवृत्तियों के भले बुरे प्रभाव का वर्णन किया। पर वे प्रवृत्तियाँ पुरानी हैं कुछ तो पचासों वर्ष, कुछ तो सैकड़ों वर्ष पुरानी। पर, जैसा कि मैं कई जगह कह चुका हूँ, यूरोप में साहित्य की प्रवृत्तियाँ तो इधर कपड़े के फैशन की तरह जल्दी जल्दी बदला करती हैं। वहाँ की पुरानी प्रवृत्तियों से गला छूटेगा तो नई आकर दबाएँगी चाहे कुछ दिनों पीछे, वहाँ पुरानी हो जाने पर। इससे पहले से सावधान रहना मैं अच्छा समझताहूँ।

यूरोप के वर्तमन साहित्य क्षेत्र की सबसे नई घटना है 'बुद्धि के साथ युद्ध'। इस युद्ध के नायक हैं फ्रांस के अनातोले फ्रांस जिन्होंने कहा है 'बुद्धि के द्वारा सत्य को छोड़कर और सब कुछ सिद्ध हो सकता है। मनुष्य बुद्धि या तर्क के आदर्श पर कोई कर्म नहीं करता, अपने प्रेम, घृणा, वैर, भय आदि मनोविकारों के आदेश पर ही सब कुछ करता है। बुद्धि पर उसे विश्वास नहीं होता। बुद्धि या तर्क का सहारा तो लोग अपनी भली बुरी प्रवृत्तियों को ठीक प्रमाणित करने के लिए लेते हैं।' ईसा की 19वीं शताब्दी में जो अधिक भौतिकवाद इतने जोर शोर से यूरोप में उठा था उसी से क्षुब्ध होकर प्रतिकार स्वरूप वहाँ कई प्रकार के आंदोलन चले। 'आध्यात्मिकता' जगी, मशीनों का विरोध शुरू हुआ, मनुष्य के साथ भ्रातृभाव उमड़ा और अक्ल पर चढ़ाई बोल दी गई। और क्षेत्रों में क्या हुआ, इससे तो यहाँ प्रयोजन नहीं। साहित्य के क्षेत्र में जो हुआ या हो रहा है उसी की ओर थोड़ा ध्यान देने की जरूरत है।

कुछ लोगों को एकबारगी यह भासित होने लगा कि अब जो अच्छे अच्छे काव्य नहीं बनते हैं, उसका एक मात्र कारण है बुद्धि। बुद्धि इतनी अधिक बढ़ गई है कि उसने प्रतिभा और भावना के वे सब रास्ते ही रोक दिए हैं जिनसे कविता का स्त्रोत बहा करता था। यह दशा देख कुछ लोग तो हाथ पर हाथ रखकर, निराश होकर बैठे रहे और यह समझ लिया कि अब कविता देवी का भोलापन सब दिन के लिए गया। अब इस युग में मनुष्य जाति की अंतर्वृत्ति बुद्धि से इतनी जकड़ उठी है कि कविता का पुनरुद्धार असंभव है। इन्हीं नैराश्यवादियों में अनातोले फ्रांस हैं। वर्तमान अंग्रेजी साहित्य क्षेत्र में उनके नैराश्य में योग देनेवाले हैं मि. हाजमन और टी. एस. एलियट। ये लोग केवल समय समय पर अपनी कुढ़न और बौखलाहट भर प्रकट कर देते हैं।

पर कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो एकबारगी निराश नहीं हैं। वे बुद्धि के पीछे डंडा लेकर खड़े हो गए हैं। वे भावना के खोए भोलेपन को लौटा लाने की कुछ आशा रखते हैं। वे समझते हैं कि बुद्धि द्वारा फैलाए हुए जाल को छिन्न भिन्न करके वे भावना के स्वतंत्र विचरण के लिए फिर मैदान निकाल लेंगे। इनमें से कुछ लोग तो बड़ी मेहनत से तरह तरह के प्राचीन चित्र और जंगली जातियों की चित्रकारियाँ इकट्ठी कर रहे हैं कि शायद कला का रहस्य कुछ मिल जाय। इन चित्रों के रंग और रेखाएँ भद्दी भी होती हैं तो विचित्र सिद्धांतों की उद्‌भावना करके समझाया जाता है कि वे इस सिद्धांत पर हैं, उस सिद्धांत पर हैं। बुद्धिग्रस्त होने के कारण हम उनके सौंदर्य की अनुभूति तक नहीं पहुँच पाते हैं। इंगलैंड के प्रसिद्ध लेखक और नाटककार बरनार्ड शॉ भी सुधार की आशा रखनेवाले बुद्धि विरोधियों में हैं। उनका कहना है कि बुद्धि उत्पादिका या क्रियात्मिका नहीं, केवल निश्चयात्मिका है। उससे हमारा उद्धार नहीं हो सकता। हमें क्रियात्मिका वृत्ति का सहारा लेना चाहिए, नहीं तो हम गए, सब दिन के लिए।

काव्य के क्षेत्र से बुद्धि को एकबारगी निकाल बाहर करने पर सबसे मुस्तैद दिखाई पड़ते हैं ई. ई. कमिंग्ज साहब जो अमेरिका के एक कवि हैं। इन्होंने बुद्धि का पूरा विरोध प्रदर्शित करने के लिए अपनी एक पुस्तक का नाम रखा है। 'पाँच होता है' अर्थात् दो और दो चार नहीं, पाँच होता है। इस संबंध में एक बड़ा मनोरंजक निबंध' कविता का खोया हुआ भोलापन' (दि लास्ट इनोसेंस आव पोएट्री) कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग के अध्यापकों के लिखे निबंधों के सन् 1929 के संग्रह में है। 1

आजकल कहीं कहीं समीक्षाओं के भीतर जो यह लिखा देखने को मिलता है कि 'यह तो बुद्धिवाद है, यह तो बुद्धित्व है वह किस दिशा से उड़कर आया हुआ वाक्य है, इसका कुछ पता उपर्युक्त विवरण से लग सकता है। पश्चिम में काव्य की भावना में बुद्धि क्यों इतनी बाधक दिखाई दे रही है, उसका कारण प्रत्यक्ष है। उसका कारण है काव्य के संबंध में यह संकुचित और बालोचित धारणा कि उसकी अनुभूति 'विस्मय' और 'कुतूहल' के रूप में होती है। 'विस्मय' और 'कुतूहल' बालकों और जंगली जातियों का लक्षण अवश्य है। पर बहुत निम्नकोटि की काव्यानुभूति 'कुतूहल' और 'विस्मय' के रूप में होती है, यह मैं अच्छी तरह दिखा चुका हूँ।

इधर हाल में इंगलैंड के काव्यक्षेत्र में गत महायुद्ध के दो चार वर्ष पहले से 'प्रकृति की ओर फिर लौटने' के लक्षण कवियों ने दिखाए। रूपर्ट ब्रुक जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है, इसी पक्ष के अनुयायी थे। वे बड़ी ही सच्ची भावना के कवि थे। प्रकृति के चिरपरिचित सादे और सामान्य माधुर्य ने उनके मन में घर कर लिया था। रूपों की चमक, तड़क, भड़क, भव्यता, विशालता की ओर जिस प्रकार उनका मन नहीं लगता था उसी प्रकार वचनवक्रता, भाषा की उछलकूद, कल्पना की उड़ान की ओर भी उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। हेरल्ड मुनरी आदि कई एक इस पक्ष के अनुयायी कवि अभी वर्तमान हैं। जीवन की सामान्य और घरेलू वस्तुओं को ये लोग बड़े प्यार की दृष्टि से देखते हैं।

एक दूसरे सिद्धांत के प्रवर्तक एफ. एस. फंलिग है जिनकी 'तारकजाल में' नाम की पुस्तक सन् 1909 में प्रकाशित हुई थी। उनका सिद्धांत है कि कविता में जो बात कही जाय वह सब इस रूप में हो कि उनकी मूर्त भावना हो सके। इसलिए इस सिद्धांत को लोग 'मूर्तविधानवाद' (इमैजिज्म) कहने लगे। इसके अनुयायी काव्य में भाववाचक शब्द रखने के विरोधी हैं। विचारात्मक तथा लंबी कविताएँ भी ये लोग अच्छी नहीं समझते।

1. ऐसेज इन क्रिटिसिज्म (बाइ मेंबर्स आव दि डिपार्टमेंट आव इंगिलश, यूनिवर्सिटी आव कैलिफोर्निया1929)।

पहले एक प्रकार के 'रीतिवाद' का उल्लेख हो चुका है, जो फ्रांस से 'संवेदनावाद' (इंप्रेशनिज्म) के नाम से चला है। उसके अनुयायी कविता को संगीत के और निकट लाना चाहते हैं। ये लोग शब्दों के प्रयोग में उनके अर्थों पर ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं समझते जितना उनकी नादशक्ति पर, जैसेयदि मधुमक्खियों के धावे का वर्णन होगा तो 'भिन भिन' शमिन मिन' ऐसी

ध्वनिवालेय हवा के बहने और पत्तोंन के बीच घुसने का वर्णन होगा तो 'सर सर' श्मर मर' ऐसी ध्वनिवाले शब्द इकट्ठे किए जायँगे। तुलसीदासजी की चौपाई का यह चरण इसका उदाहरण होगा

कंकन, किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।

इसमें 'झनकार' की संवदेना का अनुभव सुनने मात्र से हो जाता है। वीररसकी कविताओं में पाए जानेवाले 'चटाक पटाक' श्कड़क धड़क' आदि शब्दों तथा अमृतध्वनि छंद से तो हिन्दी पाठक भी पूरे परिचित होंगे। सूदन कवि की ये पंक्तियाँ ही देखिए

धाड़धाद्धारं धाड़धाद्धारं भड़भब्भरं भड़भब्भरं।
तड़तत्तारं तड़तत्तारं कड़कक्करं कड़कक्करं॥

'संवेदनावाद' और 'मूर्तविधानवाद' दोनों को मिलाकर सबसे विलक्षण तमाशा ई. ई. कमिंग्ज साहब ने खड़ा किया है। उन्होंने पदभंग, पदलोप, वाक्यलोप तथा अक्षरविन्यास, चरणविन्यास इत्यादि के न जाने कितने नए नए करतब दिखाए हैं।

साहित्य का एक बड़ा आवश्यक अंग 'दृश्य काव्य' है जिसके अनेक भेद हमारे यहाँ किए गए हैं। रचना की प्रक्रिया का भी बड़ा प्रकांड, कौशलपूर्ण और जटिल निरूपण है। हमारे साहित्य में रूपक या नाटक भी काव्य ही हैं, अत: रस ही पर दृष्टि उनमें भी रखी गई है। पाश्चात्य नाटकों में अंत:प्रकृति के वैचित्र्य प्रदर्शन पर विशेष दृष्टि रखी जाती है। हिन्दी में नाटकों का जिस रूप में विकास हुआ उनमें दोनों दृष्टियों का मेल है। यह बात बहुत अच्छी हुई है। भारतेंदु काल में जिन नाटकों की रचना हुई उनमें अंत:प्रकृति के वैचित्र्य का विधान नहीं के बराबर है। पर इधर जो नाटक लिखे जा रहे हैं उनमें यह विधान भी आ रहा है।

1. अंग्रेजी में यह कविता इस रूप में लिखी गई है–

1. सनसेट
2. स्टिगिंग
3. गोल्ड स्वार्म्स
4. अपान दि स्पायर्स
5. सिलवर
6. चौंट्स दि लिटैंनीज दि
7. ग्रेट बेल्स आर रिंगिंग विद रोज
8. दि ल्यूड फैट बेल्स

9. ऐंड ए टाल
10. विंड
11. इज ड्रैगिंग
12. दि सी
13. विद ड्रीम्स

पाश्चात्य नाटकों की प्रवृत्ति इधर एकदम 'वास्तविकता' की ओर ही रही है। नाटक से काव्यत्व और भावात्मकता दूर करने का प्रयास हो रहा है। पुराने साम्यवादी होने के कारण बर्नार्ड शॉ ने मनुष्य समाज के व्यवस्था संबंधी प्रश्नों को लेकर वर्तमान परिस्थितियों का बहुत सटीक प्रत्यक्षीकरण किया है। एक अंकवाले नाटकों का चलन भी वहाँ हो रहा है। हमारी हिन्दी में भी इस प्रकार के नाटकों के ऊपरी ढाँचे लेकर दो एक सज्जन 'नवीनता के आंदोलन' में अपना योग प्रदर्शित कर रहे हैं।

मेरा नम्र निवेदन यह है कि पश्चिम में चाहे जो हो रहा हो, हमें अपने दृश्य साहित्य को एकदम मँगनी की वस्तु बनाने की आवश्यकता नहीं। जिस देश में दृश्य काव्य का आविर्भाव अत्यंत प्राचीन काल में हुआ हो उसके भीतर उसका स्वतंत्र रूप में नूतन विकास न हो सके, यह खेद की बात होगी। यह देखकर मुझे अत्यंत आनंद होता है कि 'प्रसाद' जी के नाटकों में इस प्रकार के विकास के पूरे लक्षण मिलते हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में सबसे बड़ी विशेषता है प्राचीन काल के रीति व्यवहार, शिष्टाचार, शासन व्यवस्था आदि का ठीक इतिहास सम्मत चित्रण। वस्तु विन्यास और शील निरूपण का कौशल भी उत्कृष्ट कोटि का है। उनके रचेश्अजात शत्रु', 'स्कंदगुप्त' आदि नाटकों को लेकर आज हिन्दी पूरा गर्व कर सकती है। मेरे देखने में अच्छे सामाजिक नाटकों का अभाव अभी बना है। इसके लिए 'प्रसाद' जी से न कहूँगा। जिस ऐतिहासिक क्षेत्र को उन्होंने लिया है उसी के भीतर उन्हें अपनी प्रतिभा का उत्तारोत्तर विकास करना चाहिए। 'वरमाला' के लेखक श्री गोविंदवल्लभ पंत भी अच्छे नाटककार हैं। स्वर्गीय पं. बदरीनाथ भट्ट की 'दुर्गावती' में अभिनय की विनोदपूर्ण सामग्री है।

इधर हाल में पं. सुमित्रनंदन पंत ने 'ज्योत्स्ना' लिखकर 'कल्पना जगत' को प्रत्यक्ष रूप में लाने का अच्छा आयोजन किया है। पर ऐसे नाटक शुद्ध नाटक की कोटि में न आकर, काव्य की कोटि में ही अपना स्थान रखते हैं। शेली ने भी पृथिवी, पवन इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों को लेकर इस ढंग के दो एक नाटक लिखे थे, जिनके अभिनय का ख्याल किसी ने कभी नहीं किया।

हर्ष की बात यह है कि पारसी ढंग की थिएटर कंपनियों ने भी अब हिन्दी में लिखे नाटकों का अभिनय आरंभ कर दिया है। इसके लिए सबसे पहले साधुवाद के पात्र हैं पं. नारायण प्रसाद बेताब। उनके अतिरिक्त आगा हशर साहब, मोहम्मद इसहाक साहब (शबाब), बाबू आनंद प्रसाद कपूर, बाबू शिवप्रसाद गुप्त तथा व्याकुल जी ने भी थिएटरों में खेले जाने के लिए कई नाटक लिखे हैं।

उपन्यास

हमारे यहाँ के 'कादंबरी', 'दशकुमारचरित' आदि पुराने कथात्मक गद्य प्रबंध गद्यकाव्य के रूप में ही मिलते हैं। उनकी रचना अत्यंत अलंकृत और रसात्मक है। हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'उपन्यास' का नाम भी बँगला से आया और उपन्यास का अंग्रेजी ढाँचा भी। कथात्मक गद्य प्रबंध के लिए वास्तव में यह ढाँचा बहुत ही उत्कृष्ट है। उपन्यास के दो तरह के ढाँचे मिलते हैं – पुराने और नए। पुराने ढाँचे में काव्यत्व की मात्रा यथेष्ट रहती थी। परिच्छेदों के आरंभ में अच्छे अलंकृत दृश्य वर्णन होते थे और पात्रों की बातचीत भी कहीं कहीं रसात्मक होती थी। बँगला में जिस समय उपन्यास आए उस समय यूरोप में पुराना ढाँचा ही प्रचलित था, जिसे बहुत ही सुंदर ढंग से बंकिमचंद्र, रमेशचंद्र दत्ता आदि ने भारतीय साहित्य में लिया–ऐसे सुंदर ढंग से कि यह जान ही न पड़ा कि वह कहीं बाहर से आया है। भारतेंदु काल से लेकर प्रेमचंदजी के पहले तक हिन्दी में भी उपन्यास इसी ढाँचे पर लिखे जाते रहे।

पीछे यूरोप में 'नाटक' और 'उपन्यास' दोनों से काव्यत्व का अवयव बहुत कुछ निकालने की प्रवृत्ति हुई और दृश्य वर्णन, भावव्यंजना, आलंकारिक चमत्कार आदि हटाए जाने लगे। इस नए ढाँचे के उपन्यास, जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, प्रेमचंदजी के समय से हिन्दी में आने लगे। वर्तमन सामाजिक जीवन के विविध पक्षों और अंतर्वृत्तियों की बड़ी पैनी परख प्रेमचंदजी को मिली है। उन्होंने हिन्दी के उपन्यास क्षेत्र को जगमगा दिया। वे हमारे गर्व और गौरव के कारण हैं। सामाजिक उपन्यास हिन्दी में अच्छे लिखे जा रहे हैं। पर एक मेरा निवेदन है। इधर बहुत से उपन्यासों में देश की सामान्य जीवनपद्धति को छोड़ बिलकुल यूरोपीय सभ्यता के साँचे में ढले हुए छोटे से समुदाय के जीवन का चित्रण बहुत अधिक पाया जाता है। मिस्टर, मिसेज, मिस, ड्राइंग रूम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा इत्यादि ही उपन्यासों में अधिक दिखाई पड़ने लगे हैं। मैं जानता हूँ कि आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष

है, पर सामान्य पक्ष नहीं। देश के असली, सामाजिक और गृहस्थी जीवन के जैसे चित्र पुराने उपन्यासों में रहते थे वैसे अब कम होते जा रहे हैं। यह मैं अच्छा नहीं समझता।

उपन्यास के पुराने ढाँचे के संबंध में मैं एक बात कहना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमें हमारे भारतीय कथात्मक गद्य प्रबंध के स्वरूप का भी आभास रहता था।

मनुष्य के दोषों और पापों को उदार दृष्टि से देखना, सत्पथ से भटके हुए लोगों के प्रति घृणा का भाव न उत्पन्न करके दया का भाव उत्पन्न करना और जीवन की कठोर वास्तविक परिस्थितियों के बीच भी उदात्त और कोमल भावों का स्फुरण दिखाना आधुनिक उपन्यासों का आदर्श माना जाता है।

उपन्यासकारों में इधर प्रेमचंदजी के अतिरिक्त पं. विश्वंभरनाथ कौशिक, श्री सुदर्शन, बाबू वृंदावनलाल वर्मा, बाबू प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्रीयुत जैनेंद्रकुमार आदि महानुभाव बहुत अच्छा कार्य कर रहे हैं।

मेरे देखने में उत्कृष्ट कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव ज्यों का त्यों बना है। यदि जयशंकर 'प्रसाद' जी इस ओर भी ध्यान दें तो इस अभाव की पूर्ति बहुत अच्छी तरह हो सकती है। मैं तो अपनी ओर से यही कहूँगा कि सामाजिक उपन्यास का क्षेत्र तो वे प्रेमचंदजी ऐसे लोगों के लिए छोड़ दें जो ऐतिहासिक नाटकों की रचना को 'गड़े हुए मुर्दे उखाड़ना' कहते हैं और स्वयं इतिहास के प्राचीन क्षेत्र में स्वच्छंद क्रीड़ा करनेवाली अपनी प्रतिभा को ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर प्रवृत्त करें।

इधर यूरोप में छोटी कहानियों का बहुत अधिक प्रचार हुआ। ये होती भी हैं अत्यंत मार्मिक। यह कम हर्ष की बात नहीं है कि हमारी हिन्दी में भी इनका अच्छा विकास हुआ। मेरे देखने में कहानियों के तीन रूप हिन्दी में दिखाई पड़ रहे हैं-(1) यूरोपीय आदर्श पर सादे ढंग से केवल कुछ घटनाएँ और बातचीत सामने रखनेवाला-जिसका नमूना है स्वर्गीय गुलेरीजी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था'। (2) कुछ अलंकृत दृश्य चित्रयुक्त-यह रूप 'हृदयेश' जी की कहानियों में मिलता है। (3) कल्पनात्मक और भावात्मक-यह रूप 'प्रसाद' जी और राय कृष्णदासजी की कहानियों में मिलेगा।

प्रेमचंदजी ने भी बड़ी सुंदर छोटी कहानियाँ लिखी हैं। कहानियों के क्षेत्र में श्री पं. ज्वालादत्ता शर्मा, श्री पं. जनार्दन प्रसाद झा द्विज', श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह, श्री चतुरसेन शास्त्री, श्रीयुत गोविंदवल्लभ पंत, बाबू, शिवपूजन सहाय, पं.

भगवती प्रसाद वाजपेयी, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीयुत जैनेंद्र कुमार विशेष उल्लेख योग्य हैं।

हास्यरस की कहानियाँ लिखनेवाले पहले तो श्रीयुत जी. पी. श्रीवास्तव ही थे, अब बाबू अन्नपूर्णानंदजी शिष्ट हास का बहुत अच्छा नमूना सामने ला रहे हैं।

हास्यरस के संबंध में पश्चिम में इस बात का भी निरूपण हुआ है कि हास्य के आलंबन से विनोद तो होता ही है, पर उसके प्रति कोई और भाव भी, जैसे-घृणा, विरक्ति, उपेक्षा, दया-रहता है। अब तक यही विवेचित हुआ था कि उत्कृष्ट हास्यरस में आलंबन के प्रति प्रेमभाव होता है, अर्थात् वह प्रिय लगता है। पर अब यह कहा जाने लगा है कि उसके प्रति दया का भाव होना चाहिए, और वह दया ऐसी हो जिसके पात्र, हम अपने को भी समझें-अर्थात् जिस स्थिति में आलंबन को देख हम हँसें उसमें हम भी हों।

गद्य काव्य

जब से श्रीयुत रवींद्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' की बहुत ख्याति हुई तब से हिन्दी में नए ढंग के गद्यकाव्य बहुत दिखाई पड़ने लगे। श्रीयुत राय कृष्णदासजी की 'साधना', वियोगी हरि का 'अंतर्नाद' आदि कई प्रसिद्ध पुस्तकों के अतिरिक्त आजकल मासिक पत्रिकाओं में भी समय समय पर अनेक रूप रंग के भावात्मक गद्यप्रबंध निकला करते हैं। साहित्य में इस प्रकार के गद्यप्रबंधों का भी एक विशिष्ट स्थान है। पर इनकी भरमार मैं अच्छी नहीं समझता। यदि इसी प्रकार के गद्य की ओर ही लोगों का ध्यान रहेगा, तो प्राकृत गद्य का विकास रुक जायगा और भाषा की शक्ति की वृद्धि मेंबहुत बाधा पड़ेगी। वर्तमान उर्दू साहित्य के क्षेत्र में भी इस प्रकार के भावात्मक गद्य की प्रवृत्ति देख उर्दू साहित्य के इतिहास लेखक श्रीयुत राम बाबू सक्सेना बहुत घबराए हैं।

निबंध

ऐसे प्रकृत निबंध जिनमें विचार प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में अभी कम देखने में आ रहेहैं।आशा है इस अंग की पूर्ति की ओर भी हमारे सहयोगी साहित्य सेवियों का ध्यान जाएगा।

भाषा

साहित्य के नाना अंगों का विशद रूप में निर्माण देख जितना आनंद होता है उतना ही भाषा की ओर असावधानी देख खेद होता है। मासिक पत्रिकाओं में बहुत से लेखों को उठाकर देखिए तो उनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भरी मिलेंगी। हमारे सुयोग्य संपादकगण यदि इस ओर ध्यान दें तो मुझे विश्वास है कि यह बुराई दूर हो सकती है। खैर यह बुराई तो दूर हो जाएगी, पर हमारी भाषा का स्वरूप ही विकृत करनेवाली एक प्रवृत्ति बहुत भयंकर रूप में बढ़ रही है–वह है अंग्रेजी के चलते वाक्यों और मुहावरों को शब्द प्रतिशब्द अनुवाद करके रखना। 'दृष्टिकोण' 'प्रकाश डालना' आदि तक तो खैरियत थी, पर जब उपन्यासों में इस तरह के वाक्य भरे जाने लगे, जैसे–

(1) उसके हृदय में अवश्य ही एक ललितकोना होगा जहाँ रतन ने स्थान पा लिया होगा।

(2) वह उन लोगों में से न था जो घास को थोड़ी देर भी अपने पैरों तले उगने देते हों।

तब हमारी भाषा अपना नया ठिकाना ढूँढ़ेगी?

आजकल कभी कभी हिन्दी हिंदुस्तानी का झगड़ा भी उठा करता है। हमारे साहित्य की भाषा का स्वरूप क्या होना चाहिए, यह पचासों वर्ष पहले स्थिर हो चुका। उसमें फेरफार करने की कोई आवश्यकता नहीं। अपने साहित्य की भाषा का स्वरूप हम वही रख सकते हैं, जो बराबर से चला आ रहा है तथा जो उत्तरी भारत के और भूखंडों के साहित्य की भाषा के स्वरूप के मेल में होगा। हिन्दी हिंदुस्तानी के संबंध में प्रो. धीरेंद्र वर्मा ने एकेडमी की 'तिमाही पत्रिका' में जो कुछ लिखा था, मैं उसे खासा स्पष्टवाद समझता हूँ।

7

रिचर्ड्स का संप्रेषण सिद्धांत

आधुनिक युग के पाश्चात्य समीक्षकों में आई. ए. रिचर्ड्स (1893 –1979 ई.) का महत्वपूर्ण स्थान है। वह मनोविज्ञान के क्षेत्र से साहित्य में आए, अतः उन्होंने मनोविज्ञान की सहायता से कविता की साथकता तथा महत्ता के सम्बन्ध में नवीन तर्क प्रस्तुत किए हैं।उन्होंने कहा कि आज जब प्राचीन परम्पराएँ और मूल्यों का विघटन हो रहा है, ऐसे में सभ्य समाज कविता के सहारे ही अपनी मानसिक व्यवस्था बनाए रख सकता है। रिचडर्स ने मोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि अपनाते हुए भाषा पर सर्वाधिक गहनता के साथ विचार किया, साथ ही संवेदनों के संतुलन पर बल देते हुए एक नई समीक्षा पद्धति विकसित की। 'दि फांउडेशंस ऑफ ईस्थेटिक्स' नामक ग्रंथ (1922) में कहा गया,सौंदर्य की स्थिति किसी वस्तु में नहीं, बल्कि दर्शक के मन पर पड़ने वाले उसके प्रभाव में होती है। अर्थात् वे काव्य का सौंदर्य काव्य में देखने के बदले उससे उत्पन्न होने वाले भाव में देखने का प्रस्ताव करते हैं। 'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग नामक दूसरी कृति (1923) में प्रकाशित हुई, इसमें अर्थ-संबंधी प्राचीन मतों का खंडन था।किंतु आलोचक के रूप में उनकी ख्याति दो ही ग्रंथों 'दि प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' तथा 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' के रूप में प्रतिष्टित हुआ। सांस्कृतिक, वैचारिक तथा शैक्षिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' की रचना हुई। रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान से सम्बन्धित दो सिद्धान्त दिए है-(1) मूल्य सिद्धांत (2) संप्रेषण का सिद्धांत।

मूल्य सिद्धांत

मूल्य किसी वस्तु का वह धर्म (गुण) है, जिसमें उसका रूचि निहित होती है। किसी वस्तु की इच्छा हुई, फिर उसे प्राप्त करने की प्रवृति हुई, प्राप्त होने पर जो रूचिकर अनुभूति हुई वह हमारे लिए मूल्यवान बन गयी।सौन्दर्य को रिचडर्स ने एक मूल्य माना है। मूल्य सिद्धान्त को समझने के लिए उनके द्वारा परिकल्पित मानसिक प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। उनके अनुसार 'आवेग मन की एक प्रकार की प्रतिक्रिया है, जो किसी उद्दीपन से उत्पन्न होकर किसी कार्य में परिणत हो जाती है। रिचर्ड्स का काव्य सिद्धान्त मनोविज्ञान से सम्बन्ध हैं। रिचर्ड्स के अनुसार कविता का मूल्य उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर है। जो कविता पाठक या श्रोता के मन को जितनी अधिक प्रभावित कर पाएगी, जिसमें संप्रेषणीयता जितनी अधिक होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट कहलाएगी। रिचर्ड्स के अनुसार मनोवेगों की दो कोटियाँ है, एषणा (इच्छा) तथा विमुखता (द्वेष)। प्रथम में हम कुछ पाने के लिए उधत हो उठते हैं, तो दूसरे में कुछ वस्तुओं के प्रति हमारे मन में विमुखता पैदा हो जाती है। प्रथम प्रकार के आवेग प्रवृतिमूलक होते हैं तो दूसरे निवृत्तिमूलक। रिचचडर्स उन एषणाओं को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं, जो कम से कम अन्य एषणाओं को अवरूद्ध किए बिना अपना अस्तित्त्व कायम रखती हैं। अनुभूति, मूल्य और संप्रेषण इन तीनों का संबंध मनोविज्ञान से है। किंतु मनोविज्ञान में कारण-कार्य की व्याप्ति सदा एक नहीं रहती इसलिए वह आनुभाविक विज्ञान कहलाता है। जैसे गुलाब का फूल देखने पर हर आदमी के मन में एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया हो, यह आवश्यक नहीं। कोई उस पर मुग्ध हो सकता है, कोई हल्की-सी प्रसन्नता व्यक्त कर सकता है, कोई तटस्थ रह सकता है। इसलिए वह सीमित अर्थ में ही विज्ञान है। अत: काव्य के प्रभाव और प्रयोजन के संबंध में रिचडर्स ने मूल्य बिषयक तीन सिद्धांत निरूपित किए हैं- (1) कला अन्य मानव-व्यापारों से सम्बन्ध है, उनसे पृथक् अथवा भिन्न नहीं है। (2) मानव की क्रियाओं में कला सर्वाधिक मूल्यवान है। 3) किसी भी मानव-क्रिया का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि वह कहाँ तक मनोवेगों में सन्तुलन और सुव्यवस्था उत्पन्न करने में सक्षम है।

संप्रेषण का सिद्धांत

रिचर्ड्स की आलोचना पद्धति का दूसरा आधार स्तंभ 'संप्रेक्षण सिद्धांत' है। जो कविता पाठक या श्रोता के मन को जितनी अधिक प्रभावित कर

पाएगी, जिसमें संप्रेषणीयता जितनी अधिक होगी, वह उतनी ही श्रेष्ठ मानी जाएगी। क्रोचे सम्प्रेषण को अनिवार्य नहीं मानता, वह उसे एक व्यावहारिक तथ्य मानता है और कहता है कि किसी अनुभव को सुरक्षित रखने अथवा उसका प्रचार-प्रसार करने की इच्छा से ही कलाकार अपने अनुभव का प्रेषण करता है।' रिचडर्स प्रेषक (श्रोता) को कला से बाह्य न मानकर उसे कला का तात्विक धर्म मानता है। कलाएं वह माध्यम हैं जिनके द्वारा कलाकार अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक पहुंचाने का प्रयास करता है। अनुभूतियां मानव मात्र की होती हैं और किसी न किसी रूप में उन्हें दूसरों को संप्रेषित करते भी सभी हैं, क्योंकि लोक व्यवहार का वह अनिवार्य अंग हैं। राग-द्वेष, प्रेम-सहानुभूति पारस्परिक संप्रेषण के ही फल हैं, किंतु संप्रेषण की क्षमता सब में एक जैसी नहीं होती। कलाकर और जनसाधारण की अनुभूति में तात्विक अंतर नहीं होता। अंतर होता है- अनुभूति की अभिव्यक्ति में। बहुतों की अनुभूति गूंगे का गूड है, जिस तरह गूंगा गुड के स्वाद का अनुभव तो करता है, पर उसे कह नहीं पाता जिसे वाणी का वरदान प्राप्त है। वह उसे कहता भी है और इस तरह से कहता कि श्रोता या दर्शक उससे प्रभावित हो उठे, प्रभावी अभिव्यजंना को ही संप्रेषण कहते हैं।

रिचर्ड्स के अनुसार, 'संप्रेषण का अर्थ न तो अनुभूति का यथावत् (हूबहू) अंतरण है और न दो व्यक्तियों के बीच अनुभूतियों का तादात्म्य बल्कि कुछ अवस्थाओं में विभिन्न मनों की अनुभूतियों की अत्यंत समानता ही संप्रेषण है।' इस प्रकार रिचडर्स के अनुसार संप्रेषणता के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं- (1) किसी वस्तु के पूर्ण अवबोध के लिए कवि या कलाकार में जागरूकता की शक्ति होनी चाहिए। (2) कलाकार की कलाकृति (कविता) या अनुक्रियाए एकरस (समरूप) होनी चाहिए। (3) वे पर्याप्त रूप से विभिन्न प्रकार की हों, (4) वे अपने उत्तेजक कारणों द्वारा उत्पन्न किये जाने योग्य हों। (5) कलाकार में साधारणता का गुण होना चाहिए। रिचडर्स कवि या कलाकार में साधारणता के गुण को आवश्यक मानते हैं। यदि वह साधारण नहीं होगा तो उसकी मूल्यवान से मूल्यवान कृति भी सम्प्रेषित नहीं हो सकेगी। सम्प्रेषण में भाषा का विशेष महत्व है। रिचर्ड्स कहते हैं, 'कविता के सम्प्रेषण का माध्यम भाषा है।' भाषा के दो भेद होते हैं- तथ्यात्मक और रागात्मक। उनका विचार है कि कवि वैज्ञानिक के समान तथ्यों का अन्वेषण नहीं करता, बल्कि रागात्मक अवस्थाओं का सर्जन करता

है। भाषा कुछ ऐसे प्रतीकों का समूह है, जो श्रोता और पाठक के मन में, कवि के मन के अनुरूप मन:स्थिति को उत्पन्न कर दे। ...शब्द अपने आप में पूर्ण नहीं होते, न स्वतंत्र होते हैं। उनके साथ नाद, शब्द-पहचान, भाव-विचार, प्रसंग आदि भी जुड़े रहते हैं। भाषा के प्रभाव-स्तर इनसे ही निर्धारित होते हैं।

8

संरचनावाद

फ्रांस में 60 के दशक में फर्दिनांद द सस्यूर की भाषिकी अवधारणा को आधार बनाकर संरचनावाद उभरा। यह कोई साहित्यिक आंदोलन नहीं अपितु एक 'प्रविधिश्' है। फ्रांसीसी नृतत्त्वशास्त्री या मानवविज्ञानी लेवी ने सर्वप्रथम रक्तसंबंध के माध्यम से संरचना को समझने का प्रयास किया। वे संरचना को 'संबंधों का समुच्चयश् मानते हैं। सस्यूर की संकेत प्रणाली येपहद ेलेजमउद्ध इसका आधार थी। सस्यूर की मान्यता थी कि संकेतक संकेतित तथा वास्तव में एक यादृच्छिक संबंध होता है, जो रुढ़ि पर आधारित है। संरचनावाद का संघर्ष 'वाक्श् यसंदहनमद्ध व 'वाच्यक तथा 'ऐतिहासिक' व 'एककालिक को लेकर भी बना रहता है। इस प्रविधि में ऐतिहासिक व्याख्या की बजाय एककालिक विश्लेषण पर जोर दिया गया। वाक् या लैंग एक अमूर्त नियम है, वाच्य या पैरोल उससे नियंत्रित अवश्य होता है, किंतु लैंग की संकल्पना पैरोल में ही मूर्त होती है। अत: पैरोल का विश्लेषण महत्वपूर्ण माना गया।

ध्यातव्य है कि संरचनावाद विश्लेषण की ऐसी प्रविधि या पद्धति है जिसको जीवविज्ञान अर्थशास्त्र मानवशास्त्र आदि किसी भी अनुशासन पर लागू किया जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र में संरचनावाद को रोलाँ बार्थ ने प्रचलित किया। साहित्यिक समीक्षा में मिशेल फूको तथा ज्याक लकाँ का भी उल्लेखनीय योगदान है। संरचनावाद का मूल भाषिकी मॉडेल है। ज्याँ पेजे ने संरचना की तीन अन्योन्याश्रित विशेषताएँ बताई हैं, जो साहित्यिक कृति पर भी लागू होती हैं। वे

हैं . पूर्णता सजीवता तथा स्वनिष्ठता इस रूप में देखें तो संरचना अपने आप में पूर्ण होती है, स्वतंत्र घटकों का संग्रह मात्र नहीं। वह जीवंत और गतिशील रहती है। उसके अपने अनुशासन होते हैं, अर्थात आप तंत्र में तत्त्वों को जोड़ तो सकते हैं, किंतु उसकी आधारभूत संरचना में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते है।

संरचनावाद कृतियों के एककालिक अध्ययन पर बल देता है तथा उसी आधार पर उनका ऐतिहासिक पुनर्निर्माण भी करता है। जॉक लकाँ मनोवैज्ञानिक चिंतन को संरचना में ढालने की उल्लेखनीय कोशिश करता है। उनके अनुसार भाषा चूंकि चेतना में निहित होती है, तथा चेतन अवचेतन तथा अचेतन में भी एक यादृच्छिक संबंध होता है। इसी को ध्यान में रखकर भाषा के विवन्यासक्रमीश् अविन्यासक्रमी संबंधों को समझा जा सकता है। सारे तत्त्वों का महत्व वस्तुतः इसी में है कि ये संरचना में कार्य कैसे करते हैं।

एक महत्वपूर्ण सवाल अक्सर उठा करता है कि क्या बिना भाषा के विचार संभव हैं सस्यूर का मानना है कि विचार बिना भाषा के कोई अस्तित्त्व नहीं रखते। यह भाषा ही है, जो विचारों को आकार प्रदान करती है तथा उन्हें अभिव्यक्ति योग्य बनाती है। एक अन्य महत्वपूर्ण बात संकेतकों के बारे में यह कि तंत्र में उनके बीच सबसे महत्वपूर्ण संबंध जो उनका मूल्य निर्धारित करता है, वह है अंतर का बोध। जैसे . बिल्ली। बिल्ली है क्योंकि वह दूसरा कुछ कुत्ता बकरी भेंड़ आदि नहीं है। सस्यूर इसे 'नकारात्मक मूल्य' कहते हैं, जिसमें किसी वस्तु का मूल्य अथवा अर्थ इसी कारण से है क्योंकि वह अन्य कुछ नहीं है। संरचनावाद संकेतक और संकेतित को समान महत्व देने की बात करता है। मार्क्स भी कथ्य और शिल्प के द्वंद्वात्मक संबंध की बात करता है। जैसा कथ्य है उसी के अनुरूप उसके शिल्प की निर्मिति भी आवश्यक है।

संरचनावाद एक पाठ केंद्रित प्रविधि है। रचना पूर्ण होने पर लेखक की भूमिका समाप्त हो जाती है तथा पाठक उसमें अर्थ की खोज स्वयं करता है। बार्थ ने तो कह दिया कि 'लेखक की मृत्यु हो चुकी है, क्योंकि उसी में पाठक का जन्म निहित है। इसी कारण संरचनावाद का पूरा ध्यान पाठ पर है। पाठ के साथ पाठक का भी महत्व बढ़ा। संरचनावाद किसी भी लेखन को अपने अध्ययन का विषय बनाता है। संरचनावाद में सिद्धांततः साहित्यिकता जैसा कोई आग्रह नहीं है। वह हर तरह के लेखन को अपने विश्लेषण का आधार बनाता है। महान साहित्य और बाजारू साहित्य जैसा मानक संरचनावाद निर्मित नहीं करता। इसी कारण संरचनावाद मूल्य निर्णय नहीं देता।

संरचनावद मानव विज्ञान की एक ऐसी पद्धति है, जो संकेत विज्ञान (यानी संकेतों की एक प्रणाली) और सहजता से परस्पर संबद्ध भागों की एक पद्धति के अनुसार तथ्यों का विश्लेषण करने का प्रयास करती है। स्वीडन के प्रसिद्ध भाषाविद फर्दिनान्द द सस्यूर इसके प्रवर्तक माने जाते हैं, जिन्हें हिन्दी में सस्यूर नाम से जाना जाता है। तर्क के संरचनावादी तरीके को विभिन्न क्षेत्रों जैसे, नृविज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, साहित्यिक आलोचना और यहां तक कि वास्तुकला में भी लागू किया गया है। इसने एक विधि के रूप में नहीं बल्कि एक बौद्धिक आंदोलन के रूप में संरचनावाद की भीड़ में प्रवेश किया, जो 1960 के दशक में फ्रांस में अस्तित्त्ववाद की जगह लेने आया था।

1970 के दशक में, यह आलोचकों के आन्तरिक गुस्से का शिकार हुआ, जिन्होंने इस पर बहुत ही 'अनमनीय' तथा 'अनैतिहासिक' होने का आरोप लगाया। हालांकि, संरचनावाद के कई समर्थकों, जैसे कि जैक्स लेकन ने महाद्वीपीय मान्यताओं और इसके आलोचकों की मूल धारणाओं पर जोर देकर प्रभाव डालना शुरू किया कि उत्तर-संरचनावाद, संरचनावाद की निरंतरता है।

एलीजन एसिस्टर के अनुसार, संरचनावाद से संबंधित चार आम विचार एक 'बौद्धिक प्रवृत्ति' की रचना करते हैं।

सबसे पहले, संरचना वह है, जो पूर्णता के प्रत्येक तत्त्व की स्थिति को निर्धारित करता है।

दूसरा, संरचनावादियों का मानना है कि हर प्रणाली की एक संरचना होती है।

तीसरा, संरचनावादी 'संरचनात्मक' नियमों में ज्यादा रूचि लेते हैं, जो बदलाव की जगह सह-अस्तित्त्व से संबंधित होते हैं।

और आखिर में संरचना वे 'असली वस्तुएं' है, जो अर्थ के धरातल या सतह के नीचे विद्यमान रहती हैं।

संरचनावाद शब्द को अक्सर एक विशिष्ट प्रकार के मानववादी संरचनावादी विश्लेषण के सन्दर्भ में इस्तेमाल किया जाता है जहां तथ्यों को संकेतों के विज्ञान (यानी संकेतों की एक प्रणाली) से उल्लेखित किया जाता है। महाद्वीपीय दर्शन में इस शब्द का आम तौर पर इसी तरह प्रयोग किया जाता है। हालांकि, इस शब्द का प्रयोग संरचनात्मक दृष्टिकोण के विविध सन्दर्भ जैसे कि सामाजिक नेटवर्क विश्लेषण और वर्ग विश्लेषण में भी किया जाता है। इस अर्थ में संरचनावाद संरचनात्मक विश्लेषण या संरचनात्मक समाजशास्त्र का पर्याय बन गया है, जिनमें

से बाद वाले को इस प्रकार परिभाषित किया गया है 'एक ऐसी पहल जिसमें सामाजिक संरचना, अवरोध और अवसरों को अधिक स्पष्ट तौर पर देखा जाये यह सांस्कृतिक मानदंडों या अन्य व्यक्तिपरक चीजों की तुलना में मानव व्यवहार पर अधिक प्रभाव डालता है।'

इतिहास

20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में संरचनावाद को शिक्षा में शामिल किया गया और भाषा, संस्कृति तथा समाज के विश्लेषण से संबंधित शिक्षा के क्षेत्रों में यह सबसे अधिक लोकप्रिय तरीकों में से एक बन गया। फर्डिनेन्ड डी सौसर के भाषा शास्त्र से संबंधित कार्य को साधारण तौर पर संरचनावाद का प्रारंभिक बिंदु माना जाता है। फ्रांसीसी मानवविज्ञानी क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस के कार्यों में खुद 'संरचनावाद' शब्द प्रकट हुआ और फ्रांस में 'संरचनावादी आंदोलन' को बढ़ावा दिया, जिसने लुई अल्थूजर, मनोविश्लेषक जैक्स लेकन जैसे विचारकों को ही नहीं संरचनावादी मार्क्सवादी निकोस पोलन्टजास के कार्यों को भी प्रेरित किया। इस आंदोलन के अधिकांश सदस्यों ने अपने को ऐसे किसी भी आंदोलन का एक हिस्सा होने के रूप में वर्णित नहीं किया है। संरचनावाद सांकेतिकता से बहुत गहराई से जुड़ा हुआ है। उत्तर-संरचनावाद ने खुद को संरचनात्मक विधि के सरल प्रयोग से अलग करने का प्रयास किया। डिकन्शट्रक्शन संरचनात्मक विचारों से खुद को अलग करने की कोशिश थी। उदाहरण के लिए, जूलिया क्रिस्टेवा जैसे कुछ बुद्धिजीवियों ने बाद में उत्तर-संरचनावादी बनने के लिए संरचनावाद (और रूसी रीतिवाद) को एक प्रारंभिक बिंदु के रूप में लिया। सामाजिक विज्ञान में संरचनावाद के प्रभाव की कई स्थितियां हैं– जो समाजशास्त्र के क्षेत्र में काफी मायने रखता है।

भाषा विज्ञान में संरचनावाद

संरचनावाद बताता है कि मानव संस्कृति को संकेतों की एक प्रणाली समझा जाना चाहिए। रॉबर्ट स्कोल्स ने संरचनावाद को आधुनिकतावादी अलगाव और निराशा की प्रतिक्रिया के रूप में परिभाषित किया है। संरचनावादियों ने एक सांकेतिक विज्ञान (संकेतों की प्रणाली) विकसित करने का प्रयास किया। फर्डिनेंड डी सौसर 20 वीं सदी के संरचनावाद के प्रवर्तक माने जाते हैं और इसके सबूत हमें उनकी मृत्यु के बाद उनके छात्रों के नोटों पर आधारित उनके

सहयोगियों द्वारा लिखे गये कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक में मिल सकते हैं, जिसमें उन्होंने भाषा (शब्द या भाषण) के इस्तेमाल पर नहीं बल्कि भाषा (लैंगुए) की अंतर्निहित प्रणाली पर ध्यान केंद्रित किया है और अपने सिद्धान्त को संकेत विज्ञान कहा है। हालांकि, भाषण (पेरोल) की जांच करने के माध्यम से ही अंतर्निहित प्रणाली की खोज की जा सकती है। जैसे कि संरचनात्मक भाषाविज्ञान असल में कोष भाषा विज्ञान (कारपस लिंग्विस्टिक्स) (प्रमात्रीकरण) का पूर्व स्वरूप है। इस दृष्टिकोण ने यह परीक्षण करने पर ध्यान केंद्रित किया कि वर्तमान में भाषा संबंधित तत्त्व आपस में किस तरह से जुड़े हुए हैं, वह ये कि, कालक्रमिक तौर पर न कि 'समकालीन' तरीके से. अंत में, उन्होंने तर्क दिया कि भाषाई संकेत दो भागों में बने हैं, शब्द रूप (सिग्निफायर) (शब्द की ध्वनि के लक्षण, या तो मानसिक प्रक्षेपण में, जैसा कि हम कविता की पंक्तियां चुपचाप अपने लिए पढ़ते हैं- या फिर वास्तविक रूप में, वाचक के रूप में भौतिक तौर पर बोलते हुए) और एक अवधारणा (शब्द की अवधारणा या अर्थ का प्रारूप) के रूप में. यह पिछले दृष्टिकोणों से काफी अलग था जिसने दुनिया में शब्दों और उनसे सम्बंधित वस्तुओं के बीच के रिश्ते पर ध्यान केंद्रित किया (रॉय हैरिस और टैलबोट टेलर, लैंडमार्क्स इन लिंग्विस्टिक थॉट, प्रथम अंक ख1989,, पृ.) 178-179).

संरचनात्मक भाषाविज्ञान में प्रतिमान, वाक्य विन्यास और मूल्य कुंजी या मुख्य विचार हैं, हालांकि सौसर के विचार में अभी तक इन विचारों को पूरी तरह से विकसित नहीं किया गया था। एक संरचनात्मक प्रतिमान असल में भाषाई इकाइयों (शब्दिम, रूपीम, यहां तक कि निर्माण भी) का एक वर्ग है, जो किसी निर्धारित स्थिति में दिए गए भाषाई पर्यावरण में (जैसे कि दिए गए वाक्य में) हो, जो सिन्टैम है। प्रतिमान के इन प्रत्येक सदस्यों के विभिन्न कार्यों की भूमिका को वैल्यू (फ्रेंच में वैल्यूर) कहा जाता है। संरचनावादी आलोचना संरचना के एक बड़े व्यापक साहित्यिक पाठ से संबंधित है, जो रूपांकन हो सकता है एक विशेष शैली, अंतर-वाचनिक संबंधों की श्रेणी, एक सार्वभौमिक वाचिक संरचना का नमूना या आवर्ती नमूनों या रूपांकन की एक व्यवस्था की कथा की एक धारणा भी हो सकती है।

सौसर के पाठ्यक्रम (कोर्स) ने प्रथम विश्वयुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच कई भाषाविदों को प्रभावित किया था, उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य

अमेरिका में लिओनार्ड ब्लूमफिल्ड ने, डेनमार्क में लुई जेमस्लेभ ने और नॉर्वे में ऑल्फ सामरफेल्ट ने अपना निजी संरचनात्मक भाषा विज्ञान विकसित किया। फ्रांस में एनटोनी मिलेट और एमिली बेनवेनिस्ट सौसर का कार्यक्रम जारी रखेंगे. हालांकि, सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि भाषा विज्ञान के प्राग स्कूल के सदस्य, जैसे रोमन जेकॉबसन और निकोलाइ ट्रूबेजकोय ने शोध किया, जो काफी प्रभावशाली होगा।

प्राग स्कूल के संरचनावाद का सबसे स्पष्ट उदाहरण स्वनिम के दृष्ट (फोनेमिक्स) में निहित है। प्राग स्कूल में भाषा की विभिन्न आवाजों का संकलन कर सिर्फ उनकी सूची ही नहीं बनायी जाती थी बल्कि यह जांच भी की जाती थी कि वे आपस में किस तरह से जुड़े थे। उन्होंने साबित कर दिया कि भाषा में ध्वनियों का संकलन कर उनके व्यतिरेक की शृंखला बनाकर उन्हें विश्लेषित किया जा सकता था। इस प्रकार लगता है कि अंग्रेजी में 'पी' और ध्बीध् अलग ध्वनिग्राम का प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि ऐसे मामले हैं (कम से कम जोड़ों) जहां दोनों के बीच केवल दो विपरीत शब्दों (जैसे 'पैटश् और 'बैट') जितना अंतर है। विरोधी वैशिष्ट्यों की दृष्टि से ध्वनियों का विश्लेषण तुलनात्मक क्षेत्र प्रस्तुत करता है, उदाहरण के लिए, यह स्पष्ट करता है कि जापानी वक्ताओं को अंग्रेजी की 'आर' और 'एल' ध्वनियों में अंतर करने में जो कठिनाई होती है, वह इसलिए है क्योंकि जापानी में ये ध्वनियां परस्पर विरोधी नहीं हैं। हालांकि यह दृष्टिकोण अब भाषाविज्ञान में मानक है, पर उस समय यह क्रांतिकारी था। ध्वनि विज्ञान विभिन्न क्षेत्रों में संरचनावाद के लिए निर्देशनात्मक आधार बन जाएगा.

नृविज्ञान और समाजशास्त्र में संरचनावाद

नृविज्ञान और सामाजिक नृविज्ञान में संरचनात्मक सिद्धांत के अनुसार अर्थ एक संस्कृति के अन्दर विभिन्न तरीकों, घटनाओं और गतिविधियों के माध्यम से उत्पादित और पुनरुत्पादित होता है, जिसका महत्वपूर्ण प्रणालियों के रूप में प्रयोग किया जाता हैं। एक संरचनावादी भोजन बनाने और परोसने की तैयारी, धार्मिक संस्कारों, खेल, साहित्यिक और गैर साहित्यिक ग्रंथों के रूप में विविध गतिविधियों तथा मनोरंजन के अन्य रूपों का अध्ययन कर एक संस्कृति के भीतर उन गंभीर संरचनाओं का पता लगाता है जिनके द्वारा अर्थ को उत्पादित और पुनरुत्पादित किया जाता है। उदाहरण के लिए,

संरचनावाद के एक प्रारम्भिक एवं प्रमुख वृत्तिक, नृवंशविज्ञानशास्त्री और मानव विज्ञानी क्लॉड लेवी स्ट्रास ने 1950 में पौराणिक कथाओं, संबंधों (गठबंधन सिद्धांत और कौटुम्बिक व्यभिचार निषेधों) तथा भोजन की तैयारी सहित सांस्कृतिक घटनाओं का विश्लेषण किया। इन अध्ययनों के अलावा उन्होंने अधिक भाषायी-केंद्रित लेखन किया जहां उन्होंने मानव मस्तिष्क की मौलिक संरचनाओं की खोज के लिए भाषा और पैरोल के बीच सौसर के पार्थक्य का व्यवहार किया, उनका तर्क है कि समाज के 'गंभीर व्याकरण' की रचना करने वाली संरचनाएं हमारे दिमाग में उत्पन्न होती हैं और हमारे अन्दर अनजाने में कार्य करती रहती हैं। लेवी स्ट्रास जानकारी सिद्धांततथ्य वांछित, और गणिततथ्य वांछित, द्वारा प्रेरित थे।

एक अन्य अवधारणा प्राग स्कूल से उधार ली गयी, जिसमें रोमन जैकब्सन और अन्य लोगों ने कतिपय विशेषताओं की उपस्थिति या अनुपस्थिति के आधार पर (जैसे मौन बनाम व्यक्त) ध्वनियों का विश्लेषण किया। लेवी स्ट्रास ने इसे अपने मस्तिष्क की सार्वभौमिक संरचनाओं की अवधारणा में शामिल किया, जिसका उसने गर्म-ठंडा, पुरुष-महिला, संस्कृति-प्रकृति, पक्के-कच्चे या विवाह बनाम निषिद्ध औरतों के विपरीत युग्मक जोड़ों पर आधारित प्रवर्तन में उपयोग किया। एक तीसरा प्रभाव मार्सेल मौस से आया जिसने उपहार विनिमय प्रणाली पर लिखा है। उदाहरण के लिए, मौस के आधार पर लेवी स्ट्रास ने तर्क दिया कि सम्बन्ध प्रणालियां समूहों के बीच महिलाओं के आदान-प्रदान (गठबंधन सिद्धांत के रूप में ज्ञात एक स्थिति) पर आधारित है जैसा कि एडवर्ड इवांस प्रिचर्ड और मेयर फोर्टेस द्वारा वर्णित 'वंश' के सिद्धांत के विरोध में किया गया है।

हालांकि, कुछ नृविज्ञानी सिद्धान्तवादी जो लेवी स्ट्रास के संरचनावाद के संस्करण में उल्लेखनीय गलतियां खोज चुके थे, मानव संस्कृति के लिए एक बुनियादी संरचनात्मक आधार से पीछे नहीं हट सके. जीवात्जीवोत्पत्ति संबंधी संरचनावाद समूह ने तर्क दिया कि संस्कृति के लिए किसी तरह का संरचनात्मक आधार होना चाहिए क्योंकि हर इंसान के मस्तिष्क के ढांचे की प्रणाली एक ही तरह की होती है। उन्होंने एक प्रकार के न्यूरोएनथ्रोपोलॉजी को प्रस्तावित किया जो सांस्कृतिक एकरूपता का आधार बनता और सांस्कृतिक एंथ्रोपोलॉजी तथा न्यूरोसाइंस के बीच एकीकरण में विभिन्नता कायम करता-एक ऐसा कार्यक्रम जिसे विक्टर टर्नर जैसे सिद्धांतकार ने अपनाया था।

साहित्यिक सिद्धांत और साहित्यिक आलोचना में संरचनावाद

साहित्यिक सिद्धांत में संरचनावाद अंतर्निहित अपरिवर्तनीय संरचना की जांच द्वारा वाचन सामग्री के विश्लेषण करने की व्यवस्था है, जो फर्डिनेन्ड डी सस्युर की भाषाई संकेत प्रणाली पर आधारित है। संरचनावादियों का मानना है कि हर पाठ में संरचना होनी चाहिए, जो इसकी व्याख्या करता हैं कि अनुभवी पाठकों के लिए किसी पाठ को समझना किसी गैर अनुभवी पाठक के मुकाबले किस तरह से ज्यादा आसान है। इसलिए, वे कहते हैं कि जो कुछ भी लिखा है वह 'साहित्य के व्याकरण' के विशिष्ट नियमों द्वारा नियंत्रित प्रतीत होता है, जिसे लोग शैक्षिक संस्थान में सीखते हैं और इसे अनावृत किया जाना चाहिए। संरचनावादियों के स्पष्टीकरण की एक संभावित समस्या यह है कि वह बेहद संक्षिप्त हो सकता है जैसा कि विद्वान कैथरीन बेल्सी ने कहा है, 'सभी मतभेदों को ढहा सकने वाला संरचनावादी खतराष् ऐसे पठन का उदाहरण तब हो सकता है जब कोई छात्र वेस्ट साइड स्टोरी पढ़ने के बाद लिखता है कि लेखक ने 'वास्तव' में कुछ नया नहीं लिखा है, क्योंकि उनके लेखन में शेक्सपियर की रोमियो जूलियट जैसी संरचना है। दोनों ही अवतरणों में एक लड़की और एक लड़के में प्यार दर्शाया गया है (उन दोनों के बीच में प्रतीकात्मक ऑपरेटर 'सूत्र' होगा 'लड़का लड़की ') जबकि वे दोनों ऐसे समूहों से जुड़े हुए थे जो आपस में नफरत करते थे (लड़के का समूह-लड़की का समूह या विपक्षी गुट ') और यह संघर्ष उनकी मौत के बाद ही खत्म हुआ। संरचनावादी पाठन में इस बात पर अधिक ध्यान दिया जाता है कि एकल पाठ किस प्रकार से कथा की संरचनाओं में अंतर्निहित तनाव को मिटाता है। अगर एक संरचनावादी पाठन कई पाठों पर केंद्रित होता है, तब उनमें ऐसी कोई सुसंगत प्रणाली अवश्य होनी चाहिए जिससे वे पाठ एक दूसरे से जुड़े रहे।

संरचनावाद में ऐसी बहुमुखी प्रतिभा है कि एक ही कहानी को साहित्यिक आलोचना से अलग रूप दिया जा सकता है, जैसे कि दो मित्रवत परिवार (लड़के का परिवार लड़की का परिवार ') अपने बच्चों की शादी तय कर देते हैं, यह जानते हुए कि दोनों बच्चे ('लड़का - लड़की ') एक-दूसरे से नफरत करते हैं और आखिर में इस शादी से दूर रहने के लिए वे दोनों आत्महत्या कर लेते हैं, इसका निष्कर्ष यह है कि दूसरी कहानी की संरचना पहली कहानी की संरचना के एकदम विपरीत है– दो प्यार करने वालों और दोनों जोड़ों की परिवार के रिश्ते में एकदम उल्टा संबंध दिखाया गया है।

संरचनावाद की साहित्यिक आलोचना का तर्क है कि 'साहित्यिक पाठ का नवीन मूल्यष् नई संरचना की बजाय चरित्र विकास और आवाज की बारीकियों में विद्यमान हो सकता है, जिससे संरचना व्यक्त की जाती है। साहित्यिक संरचनावाद की एक शाखा, जैसे कि फ्रायडवाद, मार्क्सवाद और परिवर्तनकारी व्याकरण, एक गहरी और एक सतही संरचना, दोनों को मानते हैं। फ्रायडवाद और मार्क्सवाद में गहरी संरचना एक कहानी है, फ्रायड के मामले में लड़ाई अंततः जिंदगी और मौत की सहज प्रवृति के बीच है और मार्क्स में संघर्ष वर्गों के बीच है जिसकी जड़ें आर्थिक आधार में निहितष् हैं।

साहित्यिक संरचनावाद कथाओं, मिथकों और हाल ही में लघुकथाओं में आधारभूत गहरे तत्त्वों की तलाश के लिए अक्सर व्लादिमीर प्राप, अलग्रिडस जूलियन ग्रेमस और क्लॉड लेवी स्ट्रास के दृष्टान्तों का अनुसरण करते हैं, जो विभिन्न प्रकार से उर-कहानी या उर-मिथकों (नत-उलजी) के अनेक संस्करणों के उत्पादन से संयुक्त हैं। फ्रायड और मार्क्स की तरह लेकिन परिवर्तनकारी व्याकरण के विपरीत ये बुनियादी तत्त्व अर्थ-वाहक हैं।

संरचनात्मक साहित्यिक सिद्धांत और नार्थरोप फ्राई की आद्यप्ररूपीय आलोचना के बीच काफी समानता है, जो मिथकों के मानवशास्त्रीय अध्ययन का भी ऋणी है। कुछ आलोचकों ने व्यक्तिगत कार्यों के सिद्धांत को भी लागू करने की कोशिश की लेकिन व्यक्तिगत काम में अनूठी संरचनाओं को खोजने का प्रयास संरचनात्मक कार्यक्रम के प्रतिकूल चलता है और इसका नई आलोचना से सादृश्य है।

साहित्यिक संरचनावाद की अन्य शाखा सांकेतिकता है और यह फर्डिनेन्ड डी सौसर के काम पर आधारित है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संरचनावाद

1940 और 1950 के दशकों में जीन पॉल सारट्रे द्वारा प्रतिपादित अस्तित्त्ववाद प्रमुख भाव था। फ्रांस में प्रथम विश्वयुद्ध डब्ल्यूडब्ल्यूआईआई के बाद और विशेष रूप से 1960 के दशक में संरचनावाद सुर्खियों में आया। फ्रांस में संरचनावाद की आरंभिक लोकप्रियता ने इसे दुनिया भर में प्रसारित कर दिया. सामाजिक विज्ञान इससे बहुत अधिक प्रभावित थे।

संरचनावाद ने मानव स्वतंत्रता और पसंद की अवधारणा को खारिज कर दिया और इस बात पर जोर दिया कि मानव व्यवहार विभिन्न संरचनाओं से

निर्धारित होता है। इस बारे में सबसे महत्वपूर्ण प्रारंभिक काम क्लॉड लेवी स्ट्रास का 1949 का संस्करण एलिमेंटरी स्ट्रक्चर्स ऑफ किनशिप था। लेवी स्ट्रास प्रथम विश्वयुद्ध डब्ल्यूडब्ल्यूआईआई के दौरान न्यूयार्क में जैकब्सन के संपर्क में आए थे और वे जैकब्सन के संरचनावाद और अमेरिकी मानव विज्ञान परंपरा दोनों से प्रभावित थे। एलीमेंट्री स्ट्रक्चर्स में उन्होंने संरचनात्मक दृष्टिकोण से संबंध (कीनशिप) प्रणाली की जांच की और बताया कि वास्तव में विभिन्न सामाजिक संगठन कितने स्पष्ट रूप से कुछ आधारभूत संबंध संरचनाओं का परिवर्तित रूप हैं। 1950 के दशक के उत्तरार्द्ध में उन्होंने स्ट्रक्चरल एंथ्रोपोलाजी (संरचनावादी मानवविज्ञान) प्रकाशित किया जो संरचनावाद के लिये उनके कार्यक्रम की रूपरेखा पर लिखे निबंधों का एक संग्रह है।

1960 के दशक के पूर्वार्द्ध तक संरचनावाद स्वयं एक आंदोलन के रूप में सामने आने लगा और कुछ लोगों का मानना था कि यह मानव जीवन के लिए एक ऐसा एकीकृत तरीका प्रस्तुत करता है, जो सभी दृष्टिकोणों को गले लगाएगा. रोलाण्ड बर्थेस और जैक्स डेरिडा ने इस बात पर ध्यान केंद्रित किया कि संरचनावाद को किस तरह से साहित्य में प्रयोग किया जा सकता है।

फ्रायड और डी सौसर का सम्मिश्रण कर फ्रांसीसी (उत्तर) संरचनावादी जैक्स लेकन ने संरचनावाद को मनोविश्लेषण में प्रयुक्त किया और जीन पिगेट ने अलग तरीके से संरचनावाद को मनोविज्ञान के अध्ययन में प्रचलित किया। लेकिन जीन पिगेट जो खुद को बेहतर रचनावादी के रूप में परिभाषित करते हैं, संरचनावाद को ष्सिद्धांत नहीं एक विधिष् मानते हैं क्योंकि उनके लिए 'संरचना के बगैर कोई निर्माण नहीं होता, चाहे वह अमूर्त हो या आनुवंशिक'

मिशेल फोकाल्ट की पुस्तक द ऑर्डर ऑफ थिंग्स ने यह पता लगाने के लिए विज्ञान के इतिहास की जांच की कि ज्ञानमिमांसा या ज्ञान की संरचनाओं ने किस तरह ऐसा मार्ग बनाया जिससे लोगों ने ज्ञान और जानकारी की कल्पना की (हालांकि फोकाल्ट ने बाद में स्पष्ट रूप से इसके साथ संबद्धता से इनकार कर दिया).

ठीक इसी तरह से, विज्ञान के अमेरिकी इतिहासकार थॉमस कून ने अपने मौलिक विज्ञान की संरचनाओं में भी द स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रिवोल्यूशन्स – जैसा कि शीर्षक से ही जाहिर है, अपने कठोर संरचनावादी होने का ही अहसास कराया. हालांकि 'ज्ञान' से कम सम्बन्ध रखने के बावजूद भी कून ने टिप्पणी की कि वैज्ञानिकों की गोष्ठी ने एक मानक 'प्रतिमान' से हटकर केवल परस्पर-विरोधी

विसंगतियों की अवस्था में 'सामान्य विज्ञानश् को किस प्रकार लागू और संचालित किया, जो उनके कार्य के महत्वपूर्ण ढांचे पर प्रश्न उठाता है।

मार्क्स और संरचनावाद का सम्मिश्रण कर एक अन्य फ्रांसीसी विचारक लुई एल्थुजर ने संरचनात्मक सामाजिक विश्लेषण के अपने निजी ब्रांड को परिचित कराया और संरचनात्मक मार्क्सवाद को विस्तार दिया. तब से फ्रांस और विदेशों में अन्य लेखकों ने संरचनात्मक विश्लेषण को हर व्यवस्था में व्यावहारिक रूप से विस्तारित किया।

अपनी लोकप्रियता के परिणाम स्वरुप 'संरचनावाद' की परिभाषा भी स्थानांतरित हो गयी। एक आंदोलन के रूप में अपनी लोकप्रियता के विस्तृत होने और फीके पड़ जाने के बाद कुछ लेखकों ने केवल बाद में इस लेबल का त्याग करने के लिए अपने को 'संरचनावादीश् माना.

फ्रेंच और अंग्रेजी में इस शब्द का अर्थ कुछ अलग है। उदाहरण के लिए अमेरिका में डेरिडा को उत्तर संरचनावाद का प्रतिमान माना गया है जबकि फ्रांस में उसे संरचनावादी चिह्नित किया गया है।

संरचनावाद पर प्रतिक्रियाएं

आज संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद और डिकन्शट्रक्शन जैसे दृष्टिकोणों की तुलना में कम लोकप्रिय है। इसके कई कारण हैं। अक्सर, संरचनावाद की आलोचना अनैतिहासिक होने तथा व्यक्तिगत क्षमता से कार्य करने की अपेक्षा नियतात्मक संरचनात्मक बलों का पक्ष लेने के लिए की गई है। 1960 और 1970 के दशक की राजनीतिक हलचल (और विशेष रूप से मई 1968 के छात्र विक्षोभ) शिक्षा को प्रभावित करने लगी, शक्ति और राजनीतिक संघर्ष के मुद्दों को लोगों के ध्यान के केन्द्र में ले जाया गया। एथनोलाजिस्ट रॉबर्ट जुलिन ने एक अलग एथनोलाजिकल विधि को परिभाषित किया जिसने स्पष्ट रूप से संरचनावाद के खिलाफ अपने को दागदार बनाया।

1980 के दशक में डिकन्शट्रक्शन और भाषा की बुनियादी अस्पष्टता पर इसका प्रभाव- अपनी पारदर्शी तार्किक संरचना की अपेक्षा- अधिक लोकप्रिय बन गया। सदी के अंत तक संरचनावाद को विचारों के एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सम्प्रदाय के रूप में देखा जाने लगा लेकिन यह खुद संरचनावाद की जगह, इसके द्वारा आरम्भ किये जानेवाले आंदोलन थे, जिन्होंने ध्यान आकर्षित किया था।

9

आधुनिकता

आधुनिकता को सही अर्थों में परिभाषित कर पाना एक जटिल प्रक्रिया है क्योंकि आधुनिकता की अवधारणा किसी एक तत्त्व पर आश्रित नहीं है। आधुनिकता जीवन की प्रगतिशील अवधारणा है, एक दृष्टिकोण है, एक बोध प्रक्रिया है, एक संस्कार प्रवाह है। आधुनिकता को रूढ़ि से अनवरत विद्रोह करना पड़ता है, क्योंकि लवह परम्परा का विकास है।

अंग्रेजी में 'आधुनिकता' का पर्यायवाची शब्द मॉडर्न है, जो नवयुगीन, वर्तमान से संबद्ध रीति-रिवाज और व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वस्तुतः 'आधुनिकता' केवल 'नवीनता' के अर्थ को व्यक्त नहीं करती, अपितु इसमें देशकाल की जीवंतता के साथ विवेकयुक्त वैज्ञानिक दृष्टि भी जुड़ी हुई है।

आधुनिकता एक सतत प्रक्रिया है जिसमें निरन्तरता का गुण विद्यामान है। वैज्ञानिक सोच से जुड़े इस सोच ने पुरातन मुल्यों को तर्क की कसौटी पर कसना सिखाया है। कुछ विद्वानों ने आधुनिकता को संस्कृति विकास की प्रेरक माना है। भारत में आधुनिकता की शुरुआत समकालीन घुटन, टूटन, अकेलापन, निराशा, अस्तित्त्व चेतना आदि रूपो में दिखता है।

आधुनिकता के मूल तत्त्व

नवीन भावों से ओत प्रोत आधुनिकता के मूल तत्त्व निम्न है–

वैज्ञानिक चेतना

आधुनिकता की दृष्टि मूलत: बौद्धिक है। बुद्धि का संबंध विज्ञान से माना गया है, इसी इस युग में वैज्ञानिक चेतना का उदय हुआ तथा समाज को उसी आधार पर विकसित करने की भावना जगी।

तटस्थ बुद्धिवाद

बुद्धि की प्रधानता के कारण इस युग नें भावहीन, निरपेक्ष बुद्धि का विकास हुआ। इसके कारण ही प्राचीन रूढ़ि, मान्यताओ और आडम्बरों के खिलाफ स्वर बुलंद होना शुरू हुए।

प्रश्नाकुल मानसिकता

बुद्धि के प्रधानता के कारण इस युग में प्रश्नाकुल मानसिकता बनी। जिसके तहत लोगों किसी भी आडम्बर भरी बातों पर विचार और मनन करने की क्षमता दिखाने लगे। हर बंधी-बंधाई व्यवस्था, मर्यादा या धारणा को तोड़ना शुरू हुआ।

युगबोध एवं समसामयिकता

युगबोध अवं समसामयिकता को आधुनिकता से अनिवार्यत: सम्बद्ध किया जाता है, क्योकि आधुनिकता वस्तुत: समसामयिकता मूल्यों का प्रतिफलन है। युगबोध भी आधुनिकता का प्रमुख लक्षण है, क्योंकि युग से हट कर कोई भी व्यक्ति आधुनिक होने का दावा नहीं कर सकता।

अस्तित्त्व चेतना

अपने अस्तित्त्व के प्रति सजग चेतना आधुनिकता का एक लक्षणा है। जो व्यक्ति स्वयं के दु:ख, कष्ट को व्यक्त करने के लिए तत्पर रहता है। उसमें अहम की भावना आ जाती है।

संत्रास एवं अलगाव

अहम की चेतना और शहरीपन के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के बीच दूरियों का जन्म होना स्वभाविक है। व्यक्ति इतना आत्मकेन्द्रित हो गया कि किसी अन्य की पीड़ा से उसे कुछ नहीं लेना।

मूल्य संकट एवं मूल्य संक्रमण

स्वतंत्रता के उपरांत मूल्यों का विघटन तेजी से हुआ। आधुनिकता का भावबोध हमें पुराने मूल्यों का त्याग करने एवं नवीन मूल्यों के ओर अग्रसित करने के लिए प्रेरित करती है।

आधुनिकता शब्द आमतौर पर उत्तर-पारंपरिक, उत्तर-मध्ययुगीन ऐतिहासिक अवधि को संदर्भित करता है, जो सामंतवाद (भू-वितरणवाद) से पूंजीवाद, औद्योगीकरण धर्मनिरपेक्षवाद, युक्तिकरण, राष्ट्र-राज्य और उसकी घटक संस्थाओं तथा निगरानी के प्रकारों की ओर कदम बढ़ाने से चिह्नित होता है (बार्कर 2005, 444). अवधारणा के आधार पर, आधुनिकता का सम्बन्ध आधुनिक युग और आधुनिकता से है, लेकिन यह एक विशिष्ट अवधारणा का निर्माण करती है। जबकि इन्लाईटेनमेंट, पश्चिमी दर्शन में एक विशिष्ट आंदोलन की ओर इशारा करता है, आधुनिकता केवल पूंजीवाद के उदय के साथ सम्बंधित सामाजिक जुड़ाव को संदर्भित करती है। आधुनिकता, बौद्धिक संस्कृति की प्रवृत्तियों को भी संदर्भित कर सकती है, विशेष रूप से उन आन्दोलनों को जो धर्मनिरपेक्षीकरण और उत्तर-औद्योगिक जीवन के साथ जुड़े हुए हैं, जैसे कि मार्क्सवाद, अस्तित्त्ववाद और सामाजिक विज्ञान की औपचारिक स्थापना. इस संदर्भ में, आधुनिकता को 1436-1789 के सांस्कृतिक और बौद्धिक आंदोलनों के साथ जोड़ा गया है जिसका विस्तार 1970 के दशक तक या उसके बाद तक हुआ है (तौल्मिन 1992, 3-5)

यह बहुत ही सही कहा गया हैं कि 'आधुनिकीकरण पुरानी प्रक्रिया के लिए चालू शब्द है। यह सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया हैं, जिससे कम विकसित समाज विकसित समाजों की सामान्य विशेषेताओं को प्राप्त करते हैं।'

सम्बंधित शब्द

अंग्रेजी शब्द 'मॉडर्न' (आधुनिक) (मोडो से बना लैटिन मोडर्नस, 'बस अभी') का प्रयोग 5 वीं शताब्दी से मिलता है, जो मूल रूप से ईसाई युग को बुतपरस्त युग से अलग करने के सन्दर्भ में है, इसके बावजूद इस शब्द का सामान्य उपयोग 17 वीं शताब्दी में ही होना शुरू हुआ जो कि क्वारल ऑफ दी एन्शिएन्ट एंड दी मॉडर्न्स से व्युत्पन्न हुआ था - जिसमे यह बहस की गयी थी किरू 'क्या आधुनिक संस्कृति शास्त्रीय (यूनानी-रोमन) संस्कृति से बेहतर है?'

– और यह बहस 1690 के दशक के आरम्भ में अकादमी फ्रान्कैस के बीच साहित्यिक और कलात्मक विवाद थी।

इन प्रयोगों के अनुसार, 'आधुनिकता' का तात्पर्य था हाल के अतीत का त्याग करना, एक नई शुरुआत का पक्ष लेना और ऐतिहासिक मूल की पुनर्व्याख्या करना। इसके अलावा, 'आधुनिकता' और 'आधुनिक' के बीच अंतर 19 वीं सदी (2007 देलान्टी) तक नहीं उभरा था।

आधुनिकता के चरण

मार्शल बर्मन की एक पुस्तक (बर्मन 1983,[page needed]) के अनुसार आधुनिकता को तीन पारंपरिक चरणों में वर्गीकृत किया गया है (जिसे पीटर ओसबोर्न द्वारा क्रमशः 'आरंभिक', 'शास्त्रीय,' और 'उत्तर,' कहा गया है (1992, 25)–

आरंभिक आधुनिकता– 1500–1789 (या 1453–1789 पारंपरिक इतिहास लेखन में)

शास्त्रीय आधुनिकता– 1789–1900 (होब्सबौम योजना में दीर्घ 19 वीं सदी (1789–1914) से सम्बंधित)

उत्तर आधुनिकता– 1900–1989

ल्योटार्ड और बौड्रीलार्ड जैसे लेखकों का मानना है कि आधुनिकता 20 वीं सदी के मध्य अथवा उत्तरार्ध में समाप्त हो गयी और इस प्रकार आधुनिकता के बाद की अवधि को उत्तर–आधुनिकता (1930 का दशक1950 का दशक1990 का दशक –वर्तमान) वर्णित किया गया है। अन्य सिद्धांतकारों ने, बहरहाल 20 वीं सदी के अंत से लेकर वर्तमान समय की अवधि को आधुनिकता का ही एक अन्य चरण माना है, इस चरण को बौमन द्वारा 'तरल' आधुनिकता या गिडेंस द्वारा 'उच्च' आधुनिकता कहा जाता है (उत्तर–आधुनिकता का विवरण)।

आधुनिकता की परिभाषा

राजनीतिक दृष्टि से

राजनीतिक रूप से, आधुनिकता का आरम्भिक चरण निकोलो मेकियेविली की कृति के साथ शुरू होता है जिसमें मध्ययुगीन और अरस्तू शैली से राजनीति

का विश्लेषण करने को खुले तौर पर खारिज कर दिया गया जो इस बात पर तुलनात्मक विचार करता है कि चीजों को कैसे होना चाहिए और इसकी बजाये यथार्थवादी विश्लेषण का पक्ष लिया गया कि वास्तव में चीजें किस स्थिति में हैं। उन्होंने यह भी प्रस्ताव किया कि राजनीति का उद्देश्य है अपने मौकों या भाग्य को नियंत्रित करना और दूरदर्शिता पर भरोसा करना वास्तव में बुराई की ओर ले जाता है। उदाहरण के लिए, मेकियेवली ने तर्क दिया है कि राजनीतिक समुदाय के भीतर हिंसक विभाजन अपरिहार्य हैं, लेकिन यह शक्ति का स्रोत भी हो सकता है जिस पर कानून निर्माताओं और नेताओं को भरोसा करना चाहिए और कुछ मायनों में इसे प्रोत्साहित तक करना चाहिए (स्ट्रास 1987) .

मेकियेवली की सिफारिशों ने कभी-कभी राजाओं और राजकुमारों पर अपना प्रभाव डाला, लेकिन अंततः इसे राजतंत्र के बजाये स्वतन्त्र गणराज्यों का पक्ष लेने के रूप में देखा जाने लगा। (तैम 2006, च. 1) बदले में मेकियेवली ने फ्रांसिस बेकन (2004, बीचज. 4), मर्चामोंट नीडम (2006, 1), हेरिंग्टन, (तैम 2006, 1), जॉन मिल्टन (1990, 11), डेविड ह्यूम, (तैम 2006, 4) और कई अन्य को प्रभावित किया (स्ट्रास 1958).

महत्वपूर्ण आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत जो नवीन मेकियेवेली यथार्थवाद से उत्पन्न हुए हैं उनमें शामिल है मेंडेविले का प्रभावशाली प्रस्ताव कि 'एक कुशल राजनेता के निपुण प्रबंधन द्वारा निजी धूर्तता को नागरिक लाभ में बदला जा सकता है' (उनके फेबल ऑफ द बीज का अंतिम वाक्य) और सरकार में 'शक्ति का संवैधानिक विभाजन', जिसे सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से मोंटेस्क्यु द्वारा प्रस्तावित किया गया था। इन दोनों सिद्धांतों को अधिकांश आधुनिक लोकतंत्र के संविधान में शामिल किया गया है। यह देखा गया है कि जबकि मेकियेवली के यथार्थवाद का मूल्य युद्ध और राजनीतिक हिंसा में देखा गया, उसके स्थायी प्रभाव को 'नियंत्रित' किया गया ताकि उपयोगी संघर्ष को जानबूझ कर जितना संभव हो औपचारिक राजनीतिक संघर्ष में परिवर्तित किया जाए और आर्थिक 'संघर्ष' को मुक्त, निजी उद्यमों के बीच प्रोत्साहित किया जाए (2006, 5, मैन्सफिल्ड 1989).

थॉमस होब्स से शुरू करते हुए, ऐसे प्रयास किये गए ताकि बेकन और देकार्त द्वारा प्रस्तावित आधुनिक भौतिक विज्ञान के तरीकों का उपयोग किया जा सके और जिसे मानवता और राजनीति पर लागू किया जा सके (बर्न्स 1987). होब्स की कार्यप्रणाली दृष्टिकोण के विकास के उल्लेखनीय प्रयास में शामिल

हैं लोके (1987), स्पिनोजा (1987), गिआमबतिस्ता विको (1984) और रूसो (1997 भाग 1). डेविड ह्यूम ने पहली बार बेकन के वैज्ञानिक तरीके को राजनीतिक विषयों पर लागू करने की कोशिश की (ह्यूम 1896–1739,, परिचय) और इस प्रयास में होब्स के दृष्टिकोण के पहलुओं में से कुछ को अस्वीकार किया।

आधुनिकतावादी गणतंत्रवाद ने डच विद्रोह (1568-1609) (1990, 10,12), अंग्रेजी गृह युद्ध (1642-1651) (2006,1), अमेरिकी क्रांति (1775-1783) (2006, 6-11) और फ्रांसीसी क्रांति (1789 -1799) (1997, 8) के दौरान गणतंत्र की स्थापना को खुले तौर पर प्रभावित किया।

आधुनिकतावादी राजनीतिक सोच का एक दूसरा चरण रूसो से शुरू होता है, जिसने मानवता की स्वाभाविक विवेकशीलता और सामाजिकता पर प्रश्न किया और प्रस्थापित किया कि मानव प्रकृति को पहले जितना लचीला समझा जाता था वह उससे अधिक लचीला है। इस तर्क के आधार पर जो चीज एक अच्छी राजनीतिक व्यवस्था या एक अच्छे आदमी का निर्माण करती है वह पूरी तरह से उस संजोग मार्ग पर निर्भर है जिसका अनुगमन लोगों ने पूरे इतिहास के दौरान किया है। इस विचार ने इमेनुअल कांट, एडमंड बर्क और अन्य लोगों की राजनीतिक (और सौंदर्य) सोच को प्रभावित किया और इसने आधुनिकतावादी राजनीति की महत्वपूर्ण समीक्षा को प्रेरित किया। रूढ़िवादी पक्ष पर, बर्क ने तर्क दिया कि इस समझ ने सतर्कता और क्रांतिकारी परिवर्तन से बचाव को प्रोत्साहित किया। हालांकि इस सोच ने मानव संस्कृति में अधिक महत्वाकांक्षी आंदोलनों को भी प्रेरित किया, शुरुआत में स्वच्छंदतावाद और इतिहासवाद और अंततः कार्ल मार्क्स के साम्यवाद को और राष्ट्रवाद के आधुनिक रूपों को जो फ्रांसीसी क्रान्ति से प्रेरित था, जिसमें अपने चरम रूप में जर्मन नाजी आन्दोलन शामिल था। (Orwin &Tracov 1997, 4)

सामाजिक दृष्टि से

मैक्स वेबर के द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिजम के मूल जर्मन संस्करण का आवरण आधुनिकता की सामाजिक समस्याओं के सीधी प्रतिक्रिया स्वरूप उभरे विषय समाजशास्त्र में (हैरिस 2000, 325), यह शब्द आम तौर पर इन्लाईटेनमेंट युग के फलस्वरूप सामाजिक स्थिति, प्रक्रियाओं और

उपदेशों को संदर्भित करता है। सबसे बुनियादी संदर्भ में, एंथोनी गिडेंस आधुनिकता का वर्णन इस रूप में करते हैं

... आधुनिक समाज, या औद्योगिक सभ्यता के लिए एक आशुलिपि शब्द. अधिक विस्तार में चित्रित किये जाने पर, इसका संबद्ध (1) विश्व के प्रति एक खास दृष्टिकोण से है, ऐसे विश्व का विचार रखना जो परिवर्तन के लिए तैयार है, मानव हस्तक्षेप द्वारा (2) आर्थिक संस्थानों, विशेष रूप से औद्योगिक उत्पादन और एक बाजार अर्थव्यवस्था का परिसरय (3) राजनीतिक संस्थाओं की एक निश्चित शृंखला, जिसमें शामिल है राष्ट्र-राज्य और जन लोकतंत्र. मोटे तौर पर इन विशेषताओं के परिणाम के रूप में, आधुनिकता किसी पूर्व सामाजिक व्यवस्था की तुलना में अधिक गतिशील है। यह एक समाज है - अधिक तकनीकी रूप से संस्थाओं का परिसर है - जो, किसी पूर्व संस्कृति के विपरीत, अतीत के बजाये भविष्य में जीता है (गिडेंस, 1998, 94).

आधुनिकता 'एक प्रगतिशील बल की ओर निर्देशित है, जो मानव जाति को अज्ञानता और तर्कहीनता से मुक्त कराने का वादा करती है' (रोजेनाऊ 1992, 5). नई सामाजिक और दार्शनिक शर्तों के साथ, तथापि, मौलिक नई चुनौतियां पैदा हुई. आधुनिकता का युग सामाजिक रूप से औद्योगीकरण और श्रम विभाजन द्वारा चरितार्थ होता है और दार्शनिक रूप से 'निश्चितता की हानि और यह अहसास कि निश्चितता को कभी स्थापित नहीं किया जा सकता, कभी भी नहीं' (डेलान्टी 2007). निश्चितता की इस हानि के केन्द्र में धर्म की हानि है। 19 वीं सदी के विभिन्न बुद्धिजीवियों ने, जिनमें शामिल हैं ऑगस्ट कॉम्टे से लेकर कार्ल मार्क्स और सिगमंड फ्रायड ने धर्मनिरपेक्षीकरण के मद्देनजर वैज्ञानिक औरध्या राजनीतिक विचारधाराओं को पेश करने की कोशिश की. आधुनिकता को 'विचारधारा की उम्र' के रूप में वर्णित किया जा सकता है।

थियोडोर एडोर्नो और जिगमुन्ट बाऊमन जैसे सिद्धांतकारों ने प्रस्तावित किया कि आधुनिकता इन्लाईटेनमेंट के केंद्रीय तत्त्वों से प्रस्थान का प्रतिनिधित्व करती है और यह अलगाव भावना की नापाक प्रक्रियाओं, जैसे कि वस्तु प्रेम और हौलोकास्ट की ओर बढ़ती है (एडोर्नो 1973 बाऊमन 1989). समकालीन महत्वपूर्ण सिद्धांत, वेबर द्वारा मूलतः परिभाषित युक्तिकरण को तुलना स्वरूप अधिक नकारात्मक शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। युक्तिकरण की प्रक्रियाएं - जैसे कि विकास की खातिर विकास - कई मामलों में इनका आधुनिक समाज पर एक नकारात्मक और अमानवीय प्रभाव हो सकता है।

आर्थिक वैश्वीकरण के बारे में बहस के परिणामस्वरूप सभ्यताओं के तुलनात्मक विश्लेषण और 'वैकल्पिक आधुनिकताओं' का उत्तर उपनिवेशवादी दृष्टिकोण, 'मुएल आइजनस्टाट ने 'बहु आधुनिकता' की अवधारणा को पेश किया 2003 डेलान्ति 2007 भी देखें। एक 'बहुवचन स्थिति' के रूप में आधुनिकता इस सामाजिक दृष्टिकोण और परिप्रेक्ष्य के केंद्र में है, जो विशेष रूप से एक सर्वदेशीय परिभाषा के लिए यूरोपीय पश्चिमी संस्कृति को इंगित करती है और इस प्रकार 'आधुनिकता पश्चिमीकरण नहीं है और इसकी प्रमुख प्रक्रियाएं और गतिशीलता सभी समाज में पाई जा सकती हैं (डेलान्ति 2007).

वैज्ञानिक दृष्टि से

14 वीं सदी में, कोपर्निकस, केपलर, गैलीलियो और दूसरों ने भौतिकी और खगोलशास्त्र के प्रति एक नई दृष्टिकोण विकसित की जिसने लोगों के सोचने के तरीके को बदला. कोपर्निकस ने सौर प्रणाली के नए मॉडल प्रस्तुत किये जो मानवता के घर पृथ्वी को अब केंद्र में नहीं रखते. केपलर ने भौतिकी की चर्चा करने के लिए गणित का इस्तेमाल किया और प्रकृति की नियमितताओं का इस तरह वर्णन किया। गैलिलियो ने गणित का प्रयोग करते हुए मुक्त गिराव में समान त्वरण का सबूत पेश किया।(Kennington2004,chpt.1,4)

फ्रांसिस बेकन ने विशेष रूप से अपने नोवम ओर्गेनाम में विज्ञान के प्रति नए प्रयोगात्मक आधारित दृष्टिकोण की मांग की, जिसने औपचारिक या अंतिम कारणों के ज्ञान की जरुरत पर जोर नहीं दिया और इसलिए भौतिकवादी था, जो डेमोक्रिटस और एपिक्युरस के प्राचीन दर्शन की तरह था। लेकिन उसने एक विषय यह भी जोड़ा कि विज्ञान को मानवता की खातिर प्रकृति को नियंत्रित करने की कोशिश करनी चाहिए और इसे सिर्फ समझने के लिए नहीं समझा जाना चाहिए। इन दोनों बातों के सन्दर्भ में वह मेकियेवाली की मध्ययुगीन शास्त्रीय रूढ़िवादिता की पूर्व की आलोचना से प्रभावित था और उसके इस प्रस्ताव से कि नेताओं को अपने भाग्य को खुद नियंत्रित करना चाहिए (Kennington 2004, chpt- 1,4) .

गैलीलियो की नई भौतिकी और बेकन, दोनों से प्रभावित होते हुए, रेने देकार्त ने शीघ्र ही तर्क दिया कि गणित और ज्यामिति ने ऐसा मॉडल प्रदान किया है कि वैज्ञानिक ज्ञान को कैसे छोटे चरणों में बनाया जा सकता है। उन्होंने खुले

तौर पर यह भी तर्क दिया कि मानव को स्वयं में एक जटिल मशीन के रूप में समझा जा सकता है(Kennington 2004, chpt- 6) .

आइजैक न्यूटन ने देकार्त से प्रभावित होते हुए और बेकन की ही तरह प्रयोगात्मक कदम का चुनाव करते हुए ठेठ उदाहरण प्रदान किया कि कैसे एक तरफ काटीजियन गणित, ज्यामिति और सैद्धांतिक निगमन और दूसरी तरफ बेकोनियाई प्रयोगात्मक अवलोकन और आगमन, एक साथ मिलकर प्रकृति की नियमितताओं की वास्तविक समझ में बड़ी सहायता कर सकते हैं (डीआलेम्बर्ट 2009 1751, हेनरी 2004).

कलात्मक दृष्टि से

फ्रांस में आधुनिकतावादी राजनीतिक सोच पहले से ही व्यापक रूप से ज्ञात थी, रूसो द्वारा मानव प्रकृति का पुनः परीक्षण करने के परिणामस्वरूप खुद तर्क के मूल्य पर एक नए सिरे से आलोचना शुरू हो गयी जिसने बदले में कम बुद्धिवादी मानव गतिविधियों की ओर प्रेरित किया, विशेष रूप से कला की ओर. इसका प्रारंभिक प्रभाव 18 वीं और 19 वीं सदी में उन आंदोलनों पर पड़ा जिसे हम जर्मन आदर्शवाद और स्वच्छंदतावाद के रूप में जानते हैं। आधुनिक कला इसलिए आधुनिकता के बाद के चरणों में ही मानी जाती है। (Orwin & Tarcov 1997, chpt- 2,4)

इस कारण से कला का इतिहास, 'आधुनिकता' को आधुनिक युग और आधुनिकतावाद शब्द से अलग कर के देखता है – वह इसे एक असतत 'शब्द के रूप में देखता है जिसका प्रयोग उस सांस्कृतिक अवस्था के लिए किया जाता है जिसमें नवाचार की प्रकट होने वाली परम आवश्यकता जीवन, कार्य और विचारों की एक प्राथमिक शर्त बन जाती हैष् और कला में आधुनिकता 'आधुनिक होने की अवस्था से कहीं अधिक है, या पुराने और नए के बीच विरोध से अधिक है' (स्मिथ 2009). ष्द पेंटर ऑफ मॉडर्न लाइफ' (1864) निबंध में चार्ल्स बौडलेयर एक शाब्दिक परिभाषा देते हैं– 'आधुनिकता से मेरा मतलब है क्षणभंगुर, भगोड़ा, आकस्मिक' (बौडलेयर 1964, 13).

परिभाषित आधुनिकता

समाजशास्त्र में उपलब्ध वैचारिक परिभाषाओं में से, आधुनिकता को 'श्सबूत' दृश्य संस्कृति और व्यक्तिगत दृश्यता के जूनून द्वारा चिह्नित' और

परिभाषित किया गया है, (lepart 2004, 19). आम तौर पर, आधुनिकता का गठन करने वाले बड़े पैमाने पर सामाजिक एकीकरण में शामिल है–

माल की वर्धित आवाजाही, पूंजी, लोग और पूर्व की असतत आबादी के बीच जानकारी और फलस्वरूप स्थानीय क्षेत्र से परे प्रभाव

चल आबादी के औपचारिक सामाजिक संगठन की वृद्धि, 'सर्किट' का विकास जिस पर वे और उनका प्रभाव चलते हैं और सामाजिक मानकीकरण जो सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता के लिए अनुकूल है

समाज के तबकों की वर्धित विशेषज्ञता अर्थात श्रम विभाजन और क्षेत्रों की अंतर-निर्भरता

आधुनिकता एक वैश्विक अवधारणा एवं वैचारिक आयाम है। आधुनिकता का आरम्भ चौदहवीं शताब्दी में यूरोप से हुआ तथा अट्ठारहवीं शताब्दी तक यह भारत में भी पहुँच चुकी थी। 'आधुनिकता' शब्द नवीनता का बोध कराता है, जो परम्पराओं से भिन्न एवं प्रगतिशील है वही आधुनिक है। एस.एल. दोषी के अनुसार ''सफेद कागज पर स्याही का धब्बा जिसका आकार है भी सही और नहीं भी या वह केवल निराकार है, आधुनिकता है।''

व्युत्पत्तिपरक अर्थ में आधुनिकता शब्द अंग्रेजी के 'मॉडर्निटी' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है। अंग्रेजी शब्द मॉडर्न की उत्पत्ति लैटिन से हुई है जिसका अर्थ है- ''वर्तमान या हाल का, या आधुनिक।'' सुधीश पचौरी आधुनिकता के व्युत्पत्तिगत अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं- ''आधुनिकता, जिस 'मॉडर्निटी' शब्द का हिन्दी है, वह अंग्रेजी में ग्रीक 'मोडो' (क्रियाविश्लेषण) से आया है। जिसका अर्थ है, हाल-फिलहाल, अभी का, आज, इस समय का समकालीन यह 'पुराने' का विलोम है। यह वर्तमान है। अतीत से पृथक।''

इस प्रकार ''अंग्रेजी शब्द 'मॉडर्न' (आधुनिक) मोडो से बना लेटिन मोडनेस (बस अभी) का प्रयोग 5वीं शताब्दी से मिलता है, जो मूल रूप से ईसाई युग को बुतपरस्त युग से अलग करने के संदर्भ में है, इसके बावजूद इस शब्द का सामान्य उपयोग 17वीं शताब्दी में ही होना शुरू हुआ जो कि क्वारल ऑफ दी एन्शिएन्ट एण्ड दी मॉडर्न्स से व्युत्पन्न हुआ था।'' यूरोपीय पुनर्जागरण से उत्पन्न आधुनिकता सामंतवाद के अंत, धर्म के पतन, ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की प्रतिष्ठा, औद्योगीकरण, शहरीकरण एवं पूँजीवाद के बढ़ते वर्चस्व को अपनी परिधि में समेटती है।

आधुनिकता की परिभाषा

आधुनिकता की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए विद्वानों ने इसे परिभाषित किया है। ये परिभाषाएँ आधुनिकता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसके स्वरूप पर भी प्रकाश डालती है।

डॉ. राजेन्द्र अपनी पुस्तक 'समकालीन विचारधाराएँ और साहित्य' में आधुनिकता को इस प्रकार परिभाषित करते हैं- ''आधुनिकता एक विचारधारा नहीं है जीवन प्रणाली है, जिसने मनुष्य को समकालीन समय से जोड़ा है, उसे मानवीय मूल्य दिये हैं और उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक समग्रता का उद्‌भाव किया है। आधुनिकता, आधुनिकीकरण और आधुनिकतावाद का एक व्यापक मानवीय संस्थान है जिसका अपना एक ऐतिहासिक विकासक्रम है। आधुनिकता समसामयिक काल में होकर भी समसामयिक काल का अतिक्रमण करती है वह समसामयिक से व्यापक है। आधुनिकता को आधुनिकतावाद में भी नहीं बांधा जा सकता क्योंकि वह आज के मनुष्य की सभ्यता का मानक है, वह नवजागरण है, जो समकालीन विचार दर्शन से जुड़ी है उसमें वैज्ञानिक क्रान्ति, रोमानीवाद, मार्क्सवाद, डारविनवाद, मनोविश्लेषण और अिस्तववाद तक शामिल हो गया है। वह इतिहास का बिम्ब है, जो वर्तमान से जुड़कर अनवरत है। काल की समस्या उसकी प्रमुख समस्या है फिर भी ग्लोबल होना ही आधुनिकता है।''

हजारीप्रसाद द्विवेदी आधुनिकता को सामाजिक विकास की दृष्टि से परिभाषित करते हैं उन्होंने ''आधुनिकता की प्रक्रिया को सामाजिक विकास से जोड़कर देखा है। उनकी राय में आधुनिकता का जन्म समाज के आधुनिकीकरण से उत्पन्न चिंतन और भावनाओं से होता है। यह समाज के विकास की विशेष अवस्था से निर्मित मानव-चेतना की विशेषता है। परिवेश के प्रति जागरूकता, वस्तुनिष्ठ दृष्टि, बौद्धिकता, यथार्थवाद और सामूहिक मुक्ति की भावना, ये आधुनिकता की विशेषताएँ हैं।''

डॉ. नगेन्द्र आधुनिकता को तीन अर्थो में परिभाषित करते हैं एक अर्थ वह काल-सापेक्ष, दूसरे अर्थ में विचारपरक दृष्टिकोण तीसरे अर्थ में वह समसामयिकता से उसे जोड़ते है।

डॉ. बच्चन के आधुनिकता विषयक विचारों को दुर्गाप्रसाद गुप्त अपनी पुस्तक में उद्‌घाटित करते हैं- 'आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द' में

आधुनिकता के बारे में डॉ0 बच्चन सिंह ने लिखा है- ''आधुनिकतावाद' की व्याख्या करने की जितनी ही कोशिश की गयी है वह उतनी ही अव्याख्येय बनती गयी। हिन्दी में इसे लेकर काफी बहसें हुई, धारावाहिक लिखे गये, गोष्ठियां हुई, लेकिन अजगर की तरह वह अडिग बना रहा, जो व्याख्याएं प्रस्तुत की गयीं वे परस्पर विरोधी, अपर्याप्त और अधूरी हैं। कोई इसे प्रक्रिया कहता है तो कोई आत्मचेतना। कोई इसे क्षणवाद से जोड़ता है तो कोई शाश्वतता से। कोई इसे इतिहास के अगले चरण से सम्बद्ध करता है तो कोई इतिहास मुक्त मानता है। इतिहास मुक्त मानने वालों की संख्या अधिक है। जो भी हो, इसके अस्तित्त्व को झुठलाया नहीं जा सकता।''

मनोहर 'श्याम जोशी आधुनिकता के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं- ''आधुकिनता- परम्परा भंजक है और उसे सतत परिवर्तन और प्रगति में पूरी आस्था है। वह गौरवमय अतीत की नहीं, सुखद भविष्य की बात करती है।''

कृष्णदत्त पालीवाल अपने एक लेख में आधुनिकता पर चर्चा करते हुए उसे वर्तमान से जोड़ते हैं। उनके अनुसार- ''हमारा वर्तमान अतीत से बेहतर है, भविष्य वर्तमान से बेहतर होने वाला है, ऐसा सोचना ही आधुनिक होना है। आधुनिकता भविष्यपूजक है जबकि आधुनिकता के दौर से पहले इंसान सदैव अतीतपूजक रहा

सुधीश पचौरी आधुनिकता को इस रूप में देखते हैं- ''आधुनिकता सिर्फ ऐतिहासिक या भौगोलिक स्थिति नहीं है, बल्कि वह आधुनिक समाज को सम्भव करने वाली स्थिति है। आधुनिकता ऐतिहासिकता रूप से निश्चित सम्बन्धों, रूपों, संस्थाओं का संदर्भ देती है। वह व्यवहारसिद्ध व्याख्येय स्थिति है। वह तर्कसंगत स्थिति है, जो श्रेणीबद्ध करती है, व्यवस्था करती है। आधुनिकता में औद्योगीकरण होता है, कलाएँ स्वायत्त बनती हैं, आलोचना सम्भव होती है। नए जनक्षेत्र बनते हैं। ये नए जनक्षेत्र राज्य के विकास के अन्तर्विरोध में आते हैं। स्वायत्त व्यक्ति और स्वयंप्रभु समाज के तर्क समाज में अन्तर्विरोध पैदा करते हैं। यह स्थिति स्वयं बहुलता पैदा करती है और साथ ही समग्रता भी।''

देवेन्द्र इस्सर आधुनिकता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं। एक समय था जब आधुनिकता एक विद्रोह और नवीनता का

आन्दोलन थी ''आधुनिकता परम्परा- भंजक है। आधुनिकता नव चिंतन तथा नवीन शैली है। आधुनिकता अतीत से विमुख होकर भविष्य की ओर अग्रसर है। आधुनिकता अधिभौतिकता, रोमांटिकतावाद, यहां तक कि यथार्थवाद को भी अस्वीकार करती है। आधुनिकता धर्म, प्रकृति, नैतिकता, प्रतिबद्धता, आस्था, मूल्यों, प्रत्येक प्रचलित विचार तथा वस्तु को चुनौती देती है।

10

उत्तर-आधुनिकता

आधुनिकता से विपरित उत्तर आधुनिकता केन्द्र के और उन्मुख नहीं होती वह हास्यों पर खड़े व्यक्ति, वस्तु घ्घ्की ओर उन्मुख हैं। यही कारण है घ्घ्घ्कि हमें स्त्री विमर्श, दलित विमर्श आदि दिखाई पड़े। आधुनिकता पुनर्निर्माण पर जोर देता है, किन्तु उत्तर आधुनिकता विनिर्माण पर जोर देता है। पुनर्निर्माण घ्घ्के अन्तर्गत मूल्यों का नव निर्माण होता है, किन्तु विनिर्माण विखण्डन परघ जोर देता है अर्थात किसी मूल्य को खंड-खंड कर एक नवीन मूल्य बनाना। आधुनिकता सार्वभौमिकता पर जोर देती है वे अपने सिद्धांतों और मूल्यों को सब के लिए उचित समझती है, किन्तु उत्तर आधुनिकता स्थानीयता पर जोर देती है, वह मानता है कि एक मूल्य एकघ ही समाज के लिए उपयुक्त हो सकती है। वे बहु संस्कृति को मानते हैं, वे मानते हैं कि दो विभिन्न संस्कृतियों के लोग साहचर्य से साथ रह सकते हैं, वे अपना-अपना सांस्कृतिक अस्तित्त्व साहचर्य के बाद भी बनाए रख सकते हैं क्योंकि अनेक संस्कृतियों से राष्ट्र बनता है।

उत्तर आधुनिकतावाद के मूल तत्त्व

यहाँ उन मूल तत्त्वों का उल्लेख किया गया है जिनपर उत्तर आधुनिकतावाद की विचार प्रणाली आधारित है।

विकेन्द्रीयता

उत्तर आधुनिकतावाद केन्द्र से परिधि की ओर यात्रा करता है। समाज के विभिन्न समूह जो हाशिये पर हैं या जिन्हें हाशियें पर धकेल दिया गया है, जैसे:- स्त्री या दलित अब वे महत्वपूर्ण हो गए हैं। उत्तर आधुनिकतावाद में पुराने एकीकृत केंद्रों के बजाय नए नए समीकरण वजूद में आ रहे हैं। ये समीकरण भी निरंतर बदलते रहते हैं।

स्थानीयता

विकेन्द्रीयता का प्रश्न स्थानीयता से संपृक्त है। उत्तर आधुनिकतवाद वैचारिकता तथा राष्ट्रीयता के बजाय क्षेत्रीयता तथा स्थानीयता पर अधिक बल देता है।

प्रभुत्व का संघर्ष

इसी महत्व के कारण विभिन्न समूहों में प्रभुत्व के लिए संघर्ष शुरू हो गया है। हम और अन्य में भेद होने लगे। अपनी पहचान को समाज में रहकर भी खत्म ना होने देने की भावना विकसित हुई। वे लोग जिनके हित तथा विचार एक दुसरे से टकराते हैं वे यह महसूस करते हैं कि कोई ऐसा सर्वमान्य व्यापक मुद्दा नहीं जिसके लिए सब एकमत हो। इसी से स्वायत्तता का प्रश्न भी जुड़ा है।

विभिन्नता

विभिन्नता तथा विकेन्द्रीयता का क्रियात्मक संबंध है। ये दोनों एक दुसरे पर आश्रित हैं तथा एक दुसरे को सुदृढ़ करती हैं। उत्तर आधुनिकतवाद इस बात पर बल देता है कि लोगों का एक समूह प्राय: दूसरे समूहों से अपनी मूल संरचनाओ(संस्कृति, संवेदना, रीति-रिवाज, परम्परा, भाषा, विश्वास आदि) के कारण भिन्न तथा अलग होता है।

युगल विपरीतता

युगल विपरितता का यह तात्पर्य यह है कि दो विपरित समूह एक-दुसरे से इस प्रकार जुड़े होते हैं कि इन्हें बिल्कुल अलग कर देना सम्भव नहीं। लेकिन इस जुड़ाव में एक समूह का दुसरे समूह पर वर्चस्व स्थापित होता है। जैसा कि स्त्री और पुरुष। इसमें स्त्री पर पुरुष का वर्चस्व है। अत: इस असमानता को समाप्त करना आवश्यक है।

कर्ता का अंत

उत्तर आधुनिकतवाद कर्ता के केन्द्रीय स्थान या महत्व को स्वीकार नहीं करता। अर्थात् अब मानव या मानव संवेदना का कोई अर्थ नहीं रह गया। मिशल फूको के शब्दों में 'सागर के किनारे रेत पर बनाए गए चेहरे की भाँति मनुष्य का निशान मिट जाएगा।' उत्तर आधुनिकतावाद की इस विचार से प्रेरणा पा कर रोला बार्थ मानते है कि कृति करने के बाद लेखक की मृत्यु हो जाती है और यहीं पाठक का जन्म होता है। आगे ज्याँ लकाँ यह तक कहते है कि इतिहास की भी मृत्यु हो जाती है। अर्थात् कृति का ही महत्व रह जाता है।

चिन्हवाद

उत्तर आधुनिकतवाद यथार्थ की नई परिभाषा प्रस्तुत करता है। इसकी दृष्टि में कोई वास्तविक संसार नहीं। यथार्थ एक समाजिक अवधारणा है। एक प्रतिबिम्ब है। एक विभ्रम है, जिसकी सत्यता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि संसार एक ऐसा रंगमंच है जिसमें प्रत्येक वस्तु एंव विचार 'इमेज्ड, मैनेज्ड तथा मैनीप्यूलेटेड' है। हम वास्तविकता को कृत्रिमता अर्थात् चिह्नों तथा प्रतिबिम्बों द्वारा ही जानते हैँ। मार्शल ब्लावस्की के शब्दों में 'हम आकृतियों की दुनिया में जीने के लिए विवश हैं। हम यह भूल गए हैं कि कभी कोई वास्तविक आकाश भी था। वास्तविक आहार था। कभी कोई भी वास्तविक वस्तु थी।श

लोकप्रिय संस्कृति

उत्तर आधुनिकतावाद लोकप्रिय संस्कृति का समर्थन करता है। यह अभिजात्य कला को सामान्य कला से श्रेष्ठ स्वीकार नहीं करता। दरअसल उत्तर आधुनिकतावाद 'हाई आर्ट और लो आर्ट' में कोई भेद नहीं करता।

अंतर्विषयीय

उत्तर आधुनिकतावाद ज्ञान-विज्ञान और कला की सीमा रेखाओं को स्वीकार नहीं करता। दो या अधिक शास्त्र मिलकर नए-नए शास्त्रों को जन्म दे रहे हैं। फिल्म, फोटोग्राफी, फैशन, कथा साहित्य, कॉमक्सि, कंप्यूटर ग्राफिक्स, चिल्ला, सूचना, संगीत, रंगमंच, भाषा, वेशभूषा, विज्ञापन, इलैक्ट्रोनिक सम्प्रेषण अर्थात् प्रत्येक कलात्मक एवं सौंदर्यानुभूति अभिव्यंजना, जीवन का प्रत्येक क्षेत्र और समाज की हरेक वस्तु, विचार की हरेक धारा एक-दूसरे में घुल-मिल रही

हैं। पद्य गत्यात्मक हो रहा है और गद्य काव्यात्मक। कथा साहित्य को इतिहास लेखन और इतिहास को फिक्शन का ही एक फार्म कहा जा रहा है।

अंतवाद

उत्तर आधुनिकतावाद को अंतवाद की संज्ञा भी दी गई हैं। क्योंकि इसमें प्रत्येक विचार, वस्तु तथा कला अभिव्यक्ति के अंत की घोषणा कर दी गई है। इसमें ईश्वर का निधन, मनुष्य (कर्ता) की मृत्यु, इतिहास का अंत, विचारधारा का अंत, आधुनिकता का अंत, कला और साहित्य तथा लेखन का अवसान शामिल है।

पूर्णतावाद का विरोध

उत्तर आधुनिकतावाद किसी प्रकार के पूर्णतावाद में विश्वास नहीं रखता। इसके अनुसार कुछ भी शश्वत, संपूर्ण, अंतिम तथा स्थिर नहीं। सब कुछ अनिश्चित और क्षणिक है। यहाँ तक की शब्दों के कोई स्थायी अथवा निश्चित अर्थ नहीं होते।

उत्तर आधुनिकता अंग्रेजी के 'च्वेज डवकमतदपेउ' शब्द का हिन्दी पर्याय है। जिसका प्रयोग द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आधुनिकता के अंत की घोषणा के पश्चात् किया गया। पोस्ट शब्द का अर्थ होता है 'बाद में'। उत्तर आधुनिकता अपने अर्थ में आधुनिकता की समाप्ति या आधुनिकता के विस्तार की घोषणा के रूप में परिलक्षित होती है। इस दृष्टि से 'उत्तर' शब्द व्याख्या सापेक्ष है। इस पर विद्वानों में बराबर बहस होती रही है कि उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता की समाप्ति के बाद की स्थिति है या आधुनिकता का विस्तार उत्तर आधुनिकता में है। ''किसी भी शब्द के साथ जब 'उत्तर' शब्द का प्रयोग होता है तो सामान्यतः इसके दो अर्थ हो सकते हैं कि उस शब्द में निहित या उसके द्वारा व्यंजित पूर्व-स्थिति अब नहीं रह गई है और कोई नई स्थिति उभरकर सामने आयी है अथवा उत्तर-स्थिति, पूर्व-स्थिति का अगला चरण या विस्तार है।

उत्तर आधुनिकता के सम्बन्ध में अधिकतम चिंतक एवं समीक्षक पहले वाले अर्थ को अधिक महत्व देते हैं यद्यपि दूसरे अर्थ के समर्थक चिंतक भी मौजूद है, जो उत्तर आधुनिकता को आधुनिकता (वाद) का पुनर्लेखन मानते हैं दोनों ही अर्थों में इतना तो निश्चित है कि आधुनिकता या उसके वादी-रूप ने जो कुछ परोसा था, वह अब बासी हो गया है और उसको खाने से परहेज नहीं,

गुरेज किया जाने लगा है तथा यह नसीहत भी दी जाने लगी है कि वह किसी भी तरह स्वादिष्ट, पाचन योग्य नहीं रह गया है। उत्तर आधुनिकता निसन्देह आधुनिकता की प्रति-स्थिति है।''

उत्तर आधुनिकता की परिभाषा

उत्तर आधुनिकतावादी विचारक अर्नाल्ड टॉयनबी आधुनिकता की समाप्ति की घोषणा करते हुए उत्तर आधुनिकता को उसके बाद की स्थिति मानते हैं उन्होंने अपनी पुस्तक '''ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' (भाग एक, पृष्ठ एक 1924) में कहा कि आज से लगभग 120 वर्ष पूर्व सन् 1850 से 1875 के बीच आधुनिक युग समाप्त हो गया। जब तक टॉयनबी अपनी पुस्तक के पाँचवे भाग में पहुँचे (जिसका प्रकाशन सन् 1939 में हुआ) उन्होंने दो यूरोपीय युद्धों के सन् 1918 से सन् 1939 के बीच के काल के लिए उत्तर आधुनिक शब्द का प्रयोग शुरू कर दिया था।

टॉयनबी के अनुसार उत्तर आधुनिकता के मसीहा फ्रेडरिक नीत्शे थे हालांकि उनके विचार उनकी असमय एवं दु:खद मृत्यु के दो दशक बाद दोनों युद्धों के बीच के काल में यूरोप में फैले। टॉयनबी के अनुसार आधुनिकता के बाद उत्तर आधुनिकता तब शुरू होती है जब लोग कई अर्थों में अपने जीवन, विचार एवं भावनाओं में अपोलोनियन तार्किकता एवं संगति को त्यागकर डायोनिसियन अतार्किकता एवं असंगतियों को अपना लेते हैं। उनके अनुसार उत्तर आधुनिकता की चेतना विगत को एवं विगत के प्रतिमानों को भुला देने के सक्रिय उत्साह में दीख पड़ती है। यह एक प्रकार का अभिप्राय एवं निजप्रेरित स्मृति-लोप है, जो क्रमबद्ध समाज एवं तार्किक अकादमीय-संस्थानों के प्रतिमानों को भुला देती है।''

एस.एल. दोषी उत्तर आधुनिकता में निहित 'उत्तर' शब्द की व्याख्या आधुनिकता के अंत के सम्बन्ध में करते हैं। उत्तर आधुनिकता के प्रारम्भिक विचारक ल्योतार इसे आधुनिकता का विस्तार मानते हैं। 'उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श' पुस्तक में इस तथ्य का उल्लेख मिलता है- ''उत्तर आधुनिकता आधुनिकता का आखिरी बिंदु नहीं है, बल्कि उमसें मौजूद एक नया बिन्दु है और यह दशा लगातार है। उत्तर-आधुनिकता की सातत्त्व-मूलक छवि महत्वपूर्ण है।''

जार्ज रिट्जर–'मॉडर्निटी एण्ड पोस्ट–मॉडर्निटी' नामक पुस्तक में इसे परिभाषित करते हैं– ''उत्तर आधुनिकता का मतलब एक ऐतिहासिक काल से है यह काल आधुनिकता के काल की समाप्ति के बाद प्रारम्भ होता है। इतिहास के एक काल ने करवट ली और दूसरा काल आ गया। उत्तर आधुनिकतावाद का संदर्भ सांस्कृतिक तत्त्वों से है। इसका मतलब कला, फिल्म, पुरातत्त्व और इसी तरह की सांस्कृतिक वस्तुओं से है। यह सम्पूर्ण अवधारणा सांस्कृतिक है और इसके बाद उत्तर आधुनिक सामाजिक सिद्धांत का तात्पर्य उस सिद्धांत से है, जो सामान्य समाजशास्त्रीय सिद्धांत से भिन्न है।''

जेमेसन अपनी पुस्तक 'पोस्ट माडर्निज्म द कल्चरल लाजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म' में उत्तर आधुनिकता को पूँजीवाद के विकास की विशेष अवस्था के निर्माण का कारण बताते हैं। उन्होंने पूँजीवाद की अवस्थाएँ–बाजार, पूँजीवाद तथा एकाधिकारवादी पूँजीवाद, बहुराष्ट्रीय अथवा उपभोक्ता पूँजीवाद (वृद्ध पूँजीवाद) मानी है।

कृष्णदत्त पालीवाल 'उत्तर आधुनिकतावाद की ओर' पुस्तक में मिशेल फूको एवं टाफलर की मान्यताओं को उद्घृत करते हैं। ''मिशेल फूको ने 'मैडनेस एण्ड सिविलाइजेशन' में यह तर्कों से सिद्ध किया कि समाज–विज्ञान और आधुनिक विज्ञान सभी त्रासकारी दमनकारी हैं। इस पूरी स्थिति–परिस्थति के बौद्धिक पर्यावरण, भूमंडलीकरण, साहित्य–कला–संस्कृति, समाज–दर्शन–धर्म–राजनीति से जुड़े मुक्ति–आन्दोलनों, कम्प्यूटर टेक्नॉलॉजी, मासमीडिया–मासकल्चर– सूचना–संचार क्रान्ति, माइंड–मनी–मसल पावर के तीन संश्लिष्ट मकारों, विखंडनवाद– विकेन्द्रीयतावाद ने जो नया माहौल निर्मित किया उसे एक व्यापक नाम 'उत्तर आधुनिकतावाद' दिया गया।''

❐❐❐